प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री
सस्ता साहित्य मंडल,
नई दिल्ली

चौथी बार : १९५२
कुल छपी प्रतियां—दस हजार
मूल्य : साढ़े तीन रुपये

श्री हंसराज बच्छराज नाहटा
सरदारशहर निवासी
द्वारा
जैन विश्व भारती, लाडनू
को सप्रेम भेट –

मनोव्यथा

प्रस्तावना का सामान्य उद्देश्य तो पुस्तक और उसमें वर्णित विषय का परिचय कराना ही होता है; परन्तु 'क्या करें ?' यह पुस्तक नहीं बल्कि एक अत्यन्त समभावी हृदय का मन्थन है, जीवन-शुद्धि की रहस्य-भेदी शोध है; और महावीर को भी शोभा दे, ऐसा एक आर्य संकल्प है। थोड़े मे कहिए तो यह कारुण्य, औदार्य, गाम्भीर्य और माधुर्य की एक ओजस्वी रसायन है। इसका परिचय नही दिया जा सकता। इसकी उपासना होती है, इसका सेवन होता है।

टॉल्स्टाय शक्तिशाली कला-विज्ञ थे। उनकी प्रत्येक कृति मे औचित्य और प्रसाद-गुण तो होता ही है; पर हृदय को अस्वस्थ बना देने वाली समवेदना ही उनकी कला की विशेषता है। 'हम क्या करें ?'—यह टॉल्स्टाय की सर्वोच्च कोटि की कृति समझी जाती है। जैसा द्वन्द-चित्रण, भाव-प्रदर्शन और लोक-जीवन का अवगाहन उपन्यासो में होता है, वह सब इसमे हैं। फिर भी कला की दृष्टि से देखने पर इसमें औचित्य भग है, इसमें हीनता है, इसमें धर्म-जीवन का अपमान है। सीता का विलाप द्रौपदी की भीड, सती का चितारोहण—ये प्रसग काव्य-कला के लिए नही होते। ये तो जीवन को दीक्षा देने के लिए होते है। धर्म-पूर्ण हृदय से ही हमें इनका दर्शन करना चाहिए। केवल कला की ही आखें हो तो ऐसे प्रसंग पर उन्हें मीच लेना चाहिए।

टॉल्स्टाय के वर्णित प्रसग काल्पनिक नही है; उनके द्वारा की हुई मीमासा केवल 'तात्त्विक' नही है, और उन्होने जो जीवन में परिवर्तन किया था वह भी क्षणिक न था। पुस्तक का प्रारम्भ तो मार्ग मे भटकते हुए भिखारियो के सुख-दु.ख से होता है; पर इसका मुख्य विषय तो समस्त मानव-समाज का कल्याण है।

पुराणो मे हम लोग पृथ्वी का भार बढने की बाते सुनते है। क्या लोक-सख्या बढने से पृथ्वी का भार बढता होगा ? या जंगलो की वृद्धि

से अथवा हिमालय-जैसा पहाड़ पानी में से उभड़ आने से ? ऐसी बातो से तो पृथ्वी का भार वढने का कोई कारण नही। पृथ्वी पर भार होता है आलस का, काहिली का, पाप का, अनाचार का, द्रोह का। टॉल्स्टॉय ने देखा कि आजकल पृथ्वी पर बहुत भार वढ़ रहा है और वह असह्य हो रहा है, अब कोई-न-कोई उत्पात होगा। ज्वालामुखी फूट पडेगा अथवा दावानल प्रज्वलित होगा। यह दुःख किस प्रकार टले, इस महान् विनाश से समाज कैसे बचे—इसीकी विवेचना इसमें है।

उन्होने देखा कि रूस में, यूरोप मे, सारे संसार में प्रतिष्ठित अकर्मण्य लोगो की सख्या वेहद वढ़ गई है—वढती जाती है और किसी तरह भी रोके नही रुकती। इसका आमोद-प्रमोद, इनकी वासनाएं, इनके भोग भोगने के साधन वढते ही जाते है। ये मस्तराम प्रजा का खून चूसे जा रहे हैं और बदले में समाज को कुछ देते नही। इतना ही नही, सरकारी जबरदस्ती और पैसे के जाल से ग्रसित लोगो को सिर उठाने में भी असमर्थ बनाये दे रहे है; अपने मन को फुसलाने के लिए और दुनिया को वहलाने के लिए तरह-तरह की 'फिलासफ़ियों' की रचना करते है; हमारी स्थिति जैसी होनी चाहिए वैसी ही है, इसीमें सबका कल्याण है, ऐसा सिद्ध करने के लिए कृत्रिम धार्मिक सिद्धान्तो का आविष्कार करते है, समाज-शास्त्र गढ़ते है और विज्ञान तथा कला को भ्रष्ट करते है। इन बातों को उखाड़ कर फेंक देना कुछ सहल बात नहीं है। विचारो को जन्म देने तथा उनका प्रचार करने का जिनका इजारा है, ऐसे समस्त मनुष्य समूह से—जिसमें हम लोग भी सम्मिलित है—यह अभिमन्यु-जैसा भी समान युद्ध—एकाकी युद्ध है। परन्तु टॉल्स्टाय की लेखन-शक्ति और हरिश्चन्द्र के समान अटल श्रद्धा इस नाम को लक्ष्य तक पहुचाने के योग्य ही निकली। वह जानते थे, दुनियादार अक्लमन्द लोग चाहे कितने ही क्यो न हो फिर भी उनका वल अपर्याप्त है और हम खुद अकेले ही हो तव भी सत्य-स्वरूप जगदीश के साथ होने से हमारा वल पर्याप्त है।

और टॉल्स्टाय ने पृथ्वी का भार हलका करने का उपाय भी कैसा वताया ? सनातन काल से जो उपाय वताया गया है, वही—'त्यक्तेन

मुंजीया.। मागृव. कस्यस्विद्धनम्' टाल्स्टाय ने यह उपाय केवल किताब लिखकर ही बताया हो सो बात नहीं; पर स्वयं सब-कुछ त्याग कर, अकिंचन बन कर, यथाशक्ति अपरिग्रह-व्रत का पालन करके और अन्त में महा-अभिनिष्क्रमण करके उन्होंने लोगों को रास्ता दिखाया।

टाल्स्टाय की कीर्ति यूरोप में खूब बढ़ी चढ़ी थी। उनकी साहित्य-कला के ऊपर यूरोप न्योछावर हो रहा था; पर जब टॉल्स्टाय ने निष्पाप जीवन व्यतीत करने के लिए सर्वस्व छोड़ा तब यूरोप में हाहाकार मच गया। नट, विदूषक और गणिका के रूप में प्रसिद्ध बने बैठे लोगों को तो ऐसा लगा कि कला की हत्या हो गई! टालस्टाय ने कला की मर्यादा छोड़ दी। सत्य में प्रवेश किया। 'अति सर्वत्र वर्जयेत'—कला का यह सर्वोच्च नियम भंग किया। कला ही जीवन-सर्वस्व है, ऐसा माननेवाले लोगों को भास हुआ कि टॉल्टॉय जीवन के प्रति बेवफा निकला। पशु के साथ जो अपनी समानता है उसे छोड़ने से हम संकुचित ही तो हो जायगे? पर सच्चे जीवन-कलाविदों ने देखा कि टॉल्स्टाय के हाथ से कला कृतार्थ ही हुई है।

कितनों ही ने तो यह निदान निकाला कि टॉल्स्टाय ने जबसे मांसाहार छोड़ा तभी से उनकी कला का आवेग धीमा पड गया और प्रतिभा क्षीण हो गई। संसार-सुधार का मार्ग छोड़कर उसने जगलीपन को ही आदर्श मान लिया। इस प्रकार के अनेक आक्षेपो का टॉल्स्टाय ने इस पुस्तक में जबरदस्त निराकरण किया है। किंतु—'लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति?' तटस्थ रहकर विचार करनेवाला टॉल्स्टाय का चरित्र-लेखक मॉड ठीक ही कहता है कि टॉल्स्टाय के सिद्धांतो के विरुद्ध लिखना और कहना तो अभी तक किसीको सूझा ही नहीं। जो निकलता है सो यही कहता है कि 'टॉल्स्टाय का कथन लोक-विचक्षण है—उनका उपदेश आचरण में डालने योग्य नही है; टॉल्स्टाय जो चाहते हैं वैसा करने से तो बड़ी अव्यवस्था मच जायगी!' पर इसका प्रतिवाद करनेवाले जो असंख्य पवित्र जीवनप्रद लोग प्रत्यक्ष देखते हैं, उनका विचार ही नही करते। मनुष्य ऐसा समझ बैठता है कि जो सुधार हमसे

नहीं हो सकता वह सभी मनुष्यों के लिए अशक्य होगा। टॉल्स्टाय का दृढ विश्वास है कि जिस प्रकार लोगो ने गुलामी की प्रथा को उड़ा दिया है उसी प्रकार धन और सत्ता की यह प्रथा भी अवश्य उड़ ही जायगी। सरकार, जायदाद, पैसा, आलसी लोग और इनका दौरदौरा कायम रखने तथा गरीबो को कुचल डालने के लिए खडी की हुई सेनाए—ये सब मनुष्य की ही निर्माण की हुई आपत्तिया है। निष्पाप तथा समृद्ध जीवन व्यतीत करने के लिए इनमें से एक सस्था की भी जरूरत नही। बुद्धिमान मनुष्य को सादगी से रहते हुए समाज की अधिक सेवा करनी चाहिए। अधिक ऐशो-आराम में रहना और जोक की तरह समाज का लोहू पीना बुद्धिमान के लिए उचित नही है—इसी एक मुख्य तत्त्व को टॉल्स्टाय ने इस पुस्तक मे समझाने का उद्योग किया है। विज्ञान और कला से उनका कहना है कि जिनका नमक खाकर तुम जीते हो उनका ही तिरस्कार करके तुम जीवित नही रह सकते। प्रजा की कुछ तो सेवा करो। अरे, कुछ नही तो असेवा करते तो लजाओ!

टॉल्स्टाय का यह धर्म-प्रबोध लोगो को पसन्द न आया और परिणाम यह हुआ कि इसी पुस्तक मे टाल्स्टाय ने स्पष्ट शब्दो मे जो चेतावनी दी थी वह आज तीस वर्ष के अन्दर बिलकुल सत्य निकली। मजदूर-दल का धैर्य छूटा, प्रजा-क्षोभ छूटा और प्रजा के ही कंधे पर बैठकर प्रजा को लात मारनेवाला वर्ग भस्मसात हो गया।

फिर भी गरीबो का दु ख दूर नही हुआ। हिंसा का दु.ख क्या हिंसा से मिटेगा? लोहू से सना हुआ हाथ क्या लोहू से धोने से साफ हो सकेगा?

टॉल्स्टाय का उपदेश रूस की बनिस्बत हिन्दुस्तान को अधिक लागू होता है। जबतक प्रजा का बोझ हलका नही होता और ज़बरदस्ती का दौरदौरा मिटता नही, तबतक देश की राजनैतिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक उन्नति हो ही नही सकती। यह बात, देश का खयाल रखनेवाले मनुष्यो के हृदय मे, यह पुस्तक पढते समय, आये बिना रहती नही। पैसा इस अज्ञात ज़बरदस्ती का बडे-से-बड़ा वाहन है; यह मान लेने के पश्चात् हिन्दुस्तान का प्रश्न अधिक स्पष्ट हो जायगा।

: सात :

यदि कोई ऐसा समझता हो कि हिन्दुस्तान में रूस की तरह उत्पात हो ही नही सकता तो वह उसकी भूल है। साथ ही यह भी ठीक है कि रूस-जैसा विस्फोट हिन्दुस्तान मे भी होगा ही, ऐसी बात भी नही है। हिन्दुस्तान में सन्त-फकीरो का राज्य अन्य देशो की अपेक्षा अधिक फैला हुआ है। हमारी बुद्धि कितनी ही भ्रष्ट क्यो न हो गई हो; पर आज भी हमारे हाड में द्रोह नही है, हिंसा नही है। हमारे आद्य-आचार्यो ने शारीरिक श्रम का महत्व समझाया है। परिश्रम छोड़ने से सत्य की हानि होती है। मनुष्य अथवा पशु के कन्धे पर बैठकर की हुई जीवन-यात्रा निष्फल है, यह हम जानते है।

यल्लभसे निज कर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तं।
अर्थमनर्थं भावय नित्यं, मूढ़ जहीहि धनागमतृष्णां॥

यह उपदेश अभी केवल पोथी का बन्द कीडा ही नही है। रुपया-पैसा खराब मैली चीज है, यह बात भी टॉल्स्टाय ने नई नही कही है।

द्रव्यं तु मुद्रितं स्पृष्ट्वा त्रिरात्रेण शुचिर्भवेत्।

ऐसे-ऐसे वचन हमारे यहा पडे हुए है। पर हम लोगो ने ये सब धर्म-तत्व साधु-सन्यासियो के सुपुर्द कर दिए और धर्म को अपने से दूर रक्खा। पर धर्म टालने से क्या टलनेवाला था ? मछली के लिए जैसा जल है वैसा ही मनुष्य के लिए धर्म है। राजी-खुशी न समझेंगे तो मजबूर होकर तो समझना ही पडेगा। पाप कुछ सिक्को मे—सफेद या पीली चमकती हुई मिट्टी के गोल टुकडो में नही बल्कि समाज के हृदय मे होता है, यह ठीक है। फिर भी आज यह सिक्के लोभी, निर्दय और जबरदस्त लोगो के हाथ के अस्त्र-दास्यास्त्र बन गए है, यह बात कोई अस्वीकार नही कर सकता। टॉल्स्टाय का कहना है कि नीरोग मनुष्य को दवा की जितनी आवश्यकता होती है बस उतनी ही निष्पाप जीवन व्यतीत करनेवाले समाज को रुपये की जरूरत हो सकती है।

: आठ :

पर टाल्स्टाय की यह पुस्तक ? यह बहुत ही खराब किताब है। यह हमे जागृति करती है, अ वस्थ करती है, धर्म-भीरु बनाती है। यह पुस्तक पढने के बाद भोग-विलास तथा आनन्दोल्लास में पश्चात्ताप का कडवा ककड़ पड जाता है। अपना जीवन सुधारने पर ही यह मनोव्यथा कुछ कम होती है। और जो इन्सानियत का ही गला घोट दिया जाय तब तो कोई बात ही नही

—काका कालेलकर

विषय-सूची

हम करें क्या ?

हम करें क्या ?

: १ :

मास्को के भिखमंगे

मेरा जीवन देहात मे बीता था, इसलिए सन् १८८१ में जब मैं मास्को रहने आया तो वहाकी गरीबी देखकर अचम्भे मे रह गया। देहात की दरिद्रता से तो मैं परिचित था, किंतु शहर की गरीबी मेरे लिए एक बिलकुल नई अनुभूति थी, जिसकी मैंने पहले कभी कल्पना तक नही की थी।

मास्को मे आप चाहे किसी भी सडक से होकर निकलिए, आपको भिखारी अवश्य मिलेंगे। ये भिखारी देहात के भिखारियो-जैसे नही होते। उनकी तरह ये झोली लिये, ईसा के नाम पर भीख नही मागते। इनके पास न झोली होती है और न ये हाथ ही पसारते है। जब आप इनके सामने या पास से होकर निकलते हैं तो साधारणत ये आपकी आख-से-आख मिलाने की चेष्टा करते है और फिर आपके मुख पर अकित भाव को ताडकर यदि उचित समझते हैं तो भिक्षा मागते हैं, नही तो नही मागते।

इस प्रकार के भद्र वर्ग के एक बूढे भिखारी को मैं जानता हू। वह धीरे-धीरे, हर कदम पर झुकता हुआ चलता है। किसीके सामने पडने पर वह एक टाग पर झुक जाता है और ऐसा मालूम होता है जैसे वह आपको सलाम कर रहा हो। इस भावभगी को देखकर यदि आप ठिठक जाते हैं तब तो वह अपनी फुदनीदार टोपी उतारकर आपको दुबारा सलाम करता

है और पैसे मागता है; किंतु यदि आप नही ठिठकते तो वह उसी तरह झुकता हुआ चलता रहता है और यह दिखाने का उपक्रम करता है कि वह चलता ही इस ढग से है। वह मास्को के शिक्षित भिखारी-वर्ग का एक सच्चा नमूना है।

पहले मै समझ नही सका कि ये भिखमगे सीधे-सादे ढग से खुलकर भीख क्यो नही मागते। वाद मे कारण तो मालूम हो गया; किंतु उनकी स्थिति फिर भी ठीक से समझ मे नही आई।

एक दिन जब मै एक गली से होकर जा रहा था, मैंने देखा कि पुलिस का एक सिपाही जलोदर रोग से पीडित एक फटे-हाल किसान को एक खुली गाडी मे वैठा रहा है। मैंने पूछा—

"इसे क्यो पकडें लिये जा रहे हो?"

"भीख मागता था।"

"क्या भीख मागना मना है?"

"खयाल तो ऐसा ही है।"

और यह कहकर पुलिसवाला जलोदर के उस रोगी को गाडी मे वैठाकर चलता वना। एक दूसरी गाडी मे वैठकर मै भी उनके पीछे हो लिया। मै यह जानना चाहता था कि क्या भीख मांगना सचमुच वर्जित है और अगर है तो उसे रोकने के लिए क्या युक्ति काम मे लाई जाती है। यह बात मेरी समझ मे विलकुल नही आती थी कि एक आदमी को किसी दूसरे आदमी से कुछ मागने से कैसे रोका जा सकता है। मुझे यह भी विश्वास नही होता था कि भीख मागना सचमुच मना है, क्योकि मास्को मे भिखमगे-ही-भिखमगे दिखलाई पड़ते थे।

मै थाने पहुचा, जहा पुलिसवाला उस भिखारी को ले गया था। वहा एक आदमी पिस्तौल और तलवार लिये मेज के पास वैठा था। मैंने उससे पूछा—

"यह किसान क्यो गिरफ्तार किया गया है?"

उस आदमी ने मेरी ओर कठोरता के साथ देखते हुए पहले तो कहा—, "आपको इससे क्या मतलब?" किंतु वाद मे यह सोचकर कि मुझे कुछ समझाना चाहिए, वह वोला—

"अफसरो का हुक्म है कि इस तरह के लोग पकड लिये जाय, इसी-लिए हमें इन्हे पकडना पडता है।"

मै वाहर चला आया। पुलिसवाला, जो भिखारी को पकड़कर लाया था, दहलीज में खिडकी की चौखट पर वैठा उदास भाव से अपनी नोट-वुक देख रहा था। मैंने पूछा—

"क्या यह सच है कि भिखारियो को ईसा के नाम पर भीख मागने की मनाई है?"

पुलिसवाला चौका। उसने मेरी ओर आख उठाकर घूरकर देखा और त्यौरी चढाने के वजाय खिडकी की चौखट पर जमकर वैठते हुए लापरवाही के साथ उत्तर दिया—

"हाकिमो का हुक्म है, इसलिए ऐसा करना जरूरी है।"

यह कहकर वह फिर अपनी नोट-वुक पढने मे लग गया। मै वाहर वरसाती मे गाडीवान के पास चला गया।

मेरे पहुचने पर गाडीवान ने मुझसे पूछा—"क्या हुआ? क्या उन्होन उसे वन्द कर दिया?"

स्पष्टत उसे भी इस मामले में दिलचस्पी थी।

"हा, वन्द कर दिया"—मैंने उत्तर दिया। इसपर गाडीवान ने सिर हिलाया, मानो उसे यह वात अच्छी नही लगी।

मै वोला—"क्यो भई, तुम्हारे इस मास्को मे ईसा के नाम पर भीख मागना कैसे मना है?"

"भगवान जाने!"

"ऐसा क्यो होता है? कगले तो ईश्वर को प्यारे होते है। फिर क्यो यह आदमी पकडकर कोतवाली भेज दिया गया?"

"आजकल यही कानून है। भीख मागना मना है।"

इसके वाद मैंने कई वार पुलिसवालो को भिखारियो को पकडकर पहले किसी थाने में और फिर वहासे कामघर ले जाते हुए देखा। एक वार मैंने एक सडक पर इस तरह के भिखमगो की एक पूरी टोली-की-टोली देखी, जिसमे लगभग तीस भिखमगे रहे होगे। उनके आगे-पीछे पुलिसवाले चल रहे थे। मैंने उनसे पूछा—

"इन्हे क्यो पकडा है ?"

उत्तर मिला—"भीख मागते थे।"

बाद मे मालूम हुआ कि मास्को मे भीख मागना कानूनन मना है, यद्यपि वहा एक भी ऐसी सडक नही, जहा झुड-के-झुड भिखारी न दिखाई देते हो। प्रार्थना के समय गिरजाघरो के सामने उनकी कतार-की-कतार खडी रहती है और दाह-सस्कारो मे तो वे पहुचे बिना रहते ही नही। किंतु यह बात मेरी समझ मे कभी नही आई कि क्या कारण है कि कुछ भिखारी तो पकड लिये जाते है और कुछ स्वच्छद फिरते रहते है। या तो कुछ भिखारी कानूनी और कुछ गैरकानूनी होते है, या उनकी सख्या इतनी अधिक होती है कि सबको पकडना सम्भव नही, या फिर यो कहिए कि जैसे ही कुछ भिखारी पकडे जाते है वैसे ही दूसरे उनकी जगह आ धमकते है।

मास्को मे सब तरह के भिखारी है। कुछ तो ऐसे है जिन्होने भीख मागने को पेट पालने का धधा बना लिया है और कुछ ऐसे है जो सचमुच निराश्रित है और किसी-न-किसी कारण से विवश होकर मास्को मे आ पडे है। इस दूसरी श्रेणी के भिखमगो मे बहुत-से सीधे-सादे किसान है—स्त्री और पुरुष दोनो—जो किसानो-जैसे ही कपडे पहने रहते है। ये मुझे अक्सर मिलते है। इनमे से कुछ लोग ऐसे है जो मास्को आकर बीमार पड गए थे और बाद मे अस्पताल से बाहर निकलने पर उनके पास न पेट पालने का कोई साधन रह गया, न वे मास्को से बाहर जाने मे ही समर्थ रहे। कुछको शराब पीने की भी लत पड गई है, जैसे उस जलोदर के रोगी को। कुछ ऐसे है जो बीमार तो नही है, किंतु जिनका या तो सबकुछ जलकर भस्म हो गया है, या जो बूढे है, अथवा बाल-बच्चेवाली स्त्रिया है। इनके अलावा कुछ ऐसे भी है जो खूब हट्टे-कट्टे और काम करने के योग्य है।

इन हृष्ट-पुष्ट किसान-भिखमगो मे मुझे विशेष दिलचस्पी पैदा हो गई थी। कारण, मास्को आने के बाद से मैंने स्वास्थ्य की दृष्टि से दो किसानो के साथ पहाडी पर जाकर काम करने की आदत डाल ली थी। ये दोनों किसान वहा लकड़ी चीरने का काम करते थे और बिलकुल उन भिखारियो-

जैसे थे जो मुझे सडको पर मिला करते थे। एक का नाम पीटर था। वह कालूगा का रहनेवाला एक सैनिक था। दूसरे का नाम सेमन था और वह व्लाडीमीर का एक किसान था। इनके पास तन के कपडो और दो भुजाओ के अतिरिक्त और कुछ नही था। अपनी भुजाओ से खूब श्रम करके वे प्रतिदिन ४०–५० कोपेक* कमा लेते थे। इस कमाई मे से वे कुछ बचा भी लेते थे। पीटर भेड की खाल का एक कोट खरीदना चाहता था और सेमन गाव वापस जाने के लिए पैसे जमा कर रहा था। इन्ही लोगो की जान-पहचान का यह फल था कि जब कभी मैं सडको पर उनके-जैसे दूसरे लोगो को भीख मागते देखता तो उनकी ओर मेरा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हो जाता और मेरे मन मे यह प्रश्न उठता—क्या कारण है कि ये दोनो तो काम करते है और इनके ही-जैसे अन्य व्यक्ति भीख मागते फिरते है ?

जब कभी मै सडक पर इस तरह के किसी किसान-भिखमगे से मिलता तो उससे साधारणत यही प्रश्न करता—"तुम्हारी यह दशा कैसे हुई ?" एक बार मुझे एक हट्टा-कट्टा किसान मिला,जिसकी डाढी सफेद होनी शुरू हो गई थी। उसने मुझसे भीख मागी। इसपर मैंने उससे पूछा—"तुम कौन हो और कहा रहते हो ?"

उसने बताया—"काम की तलाश मे मै यहा कालूगा से आया था। पहले मुझे एक जगह लकडी फाडने का कुछ काम मिल गया था, पर जब मैने और मेरे साथी ने मिलकर वहा की सारी लकडी फाड डाली तब हमे नए काम की चिन्ता हुई, लेकिन काम नही मिला। मेरा साथी मुझे छोडकर चला गया और अब पन्द्रह दिन से मै काम की तलाश में धक्के खाता फिर रहा हू। इस बीच मेरे पास जो कुछ था, मैंने बेच खाया और अब कुल्हाडी या आरा खरीदने के लिए मेरे पास एक फूटी कौडी तक नही है।"

---

* १०–११ पेंस, अर्थात् ९–१० आने। कोपेक ताम्बे का एक रूसी सिक्का है, जो अग्रेजी पेनी के चतुर्थाश अर्थात् एक पैसे से भी कम के बराबर होता है।

मैंने उस आदमी को आरा खरीदने के लिए पैसे दिये और यह भी बताया कि अमुक स्थान पर आने पर काम मिल सकता है। पीटर और सेमन से मैंने पहले ही बात कर ली थी कि वे अपने साथ एक आदमी और रख लें और उसके जोड के लिए एक मजदूर तलाश कर दे।

"तो फिर जरूर आना, वहा काफी काम है"—मैंने चलते-चलते कहा।

"हा—हा, जरूर आऊगा। किसीको भीख मागना अच्छा थोडे ही लगता है! मै काम कर सकता हू।"

इस प्रकार उस आदमी ने शपथ लेकर आने का पक्का वचन दिया और मुझे ऐसा लगा कि वह सच्चे हृदय से कह रहा है और काम पर आना चाहता है।

दूसरे दिन जब मै पीटर और सेमन के पास गया तो मैंने उनसे पूछा कि वह आदमी आया था या नही। मालूम हुआ कि वह नही आया था। इसी तरह कई और लोगो ने भी मुझे धोखा दिया।

मुझे कुछ ऐसे लोगो ने भी ठगा जिन्होंने कहा तो यह कि उन्हे घर जाने के लिए केवल रेलभाडे की आवश्यकता है, किंतु जिन्हे एक सप्ताह के बाद ही मैंने फिर सडक पर भीख मागते देखा। उनमे से कितनो को मै पहचानता था और वे भी मुझे पहचानते थे, किंतु कभी-कभी भूलवश वे मेरे पास आ जाते और फिर वही पुराना पचडा सुनाने लगते। कुछ मुझे देखकर उलटे पाव लौट जाते।

इन बातो से मुझे यह तो मालूम हो गया कि इस श्रेणी के लोगो मे भी बहुत-से धूर्त्त हैं, परतु मुझे उनपर बडी दया आती थी। उनके पास तन ढकने को पूरे कपडे तक नही थे और वे बिलकुल कगले, दुबले-पतले तथा बीमार थे। ऐसे ही लोगो के सर्दी से ठिठुरकर मर जाने या फासी लगा लेने के समाचार हमे अखबारो मे पढने को मिलते है।

: २ :

अनाथालय में

जब कभी मै मास्को-निवासियो से नगर की इस भीषण दरिद्रता की चर्चा करता तो वे कहते—"ऊंह, अभी तो आपने कुछ भी नही देखा। जरा खित्रोफ बाजार जाकर वहा की सरायो को देखिए। भिखमगो की असली 'सुनहरी टोली' तो आपको वहा देखने को मिलेगी।"

इसपर एक मसखरे ने कहा कि उनकी टोली अब टोली ही नही रह गई है, बल्कि एक पलटन बन गई है। उसकी बात सही थी, लेकिन अगर वह यह कहता कि मास्को मे भिखमगो की टोली या पलटन ही नही, बल्कि एक पूरी सेना बन गई है तो यह और भी सही होता। मै समझता हू कि वहा कुल मिलाकर पचास हजार से कम भिखारी न होगे।

मास्को के बूढे निवासी जब कभी शहर की गरीबी की चर्चा करते तो उन्हे एक प्रकार का हर्ष होता, मानो उन्हे अपने ज्ञान का अभिमान हो। मुझे याद है कि जब मै लन्दन मे था तब वहाके लोग भी लन्दन की कगाली का वर्णन अभिमान के साथ किया करते थे।

जिस दरिद्रता के सम्बध मे मैने इतनी बाते सुनी थी उसे मै अपनी आखो से देखना चाहता था। कई बार मैने खित्रोफ बाजार की ओर पैर उठाए भी; किंतु हर बार मुझे पीडा और लज्जा की अनुभूति होती और मेरी अन्तरात्मा से एक आवाज आती—"जिनकी तुम सहायता नही कर सकते उनकी मुसीबतो को देखने क्यो जाते हो?"

किंतु फिर दूसरी आवाज कहती—"जब तुम यहा रहकर शहर की लुभावनी चीजे देखते हो तो जाओ, उसको भी देखो।"

और एक दिन सन् १८८१ के दिसम्वर महीने मे, जव पाला पड रहा था और तेज हवा चल रही थी, मैं शहरी कंगाली के केन्द्र खित्रोफ बाजार की ओर चल पडा। वह काम-काज का दिन था और समय लगभग चार वजे का होगा। थोडी दूर निकलते ही लोग मुझे अधिकाधिक सख्या मे ऐसे विचित्र कपडे पहने दिखाई देने लगे जो निश्चय ही उनके नाप के नही थे। उनके जूते तो और भी विचित्र थे। उनके मुख कातिहीन, वीमारो-जैसे थे और उनकी चाल-ढाल कुछ ऐसी थी मानो उन्हे अपने चारो तरफ की दुनिया से कोई सरोकार नही।

मैंने देखा कि एक आदमी वहुत ही विचित्र और वेढगे कपडे पहने निश्चिन्तता के साथ चला जा रहा है और उसे इस वात की विलकुल चिंता नही कि वह दूसरो को कैसा लगता है। ऐसे जितने भी लोग थे वे सब एक ही दिशा मे जा रहे थे। मै रास्ता नही जानता था, फिर भी किसीसे पूछ-ताछ किये बिना ही मैं उनके साथ हो लिया और खित्रोफ वाजार पहुच गया। वहा मैंने देखा कि स्त्रिया भी पुरुषो की ही भाति रगविरगी टोपिया, लबादे, जाकट और जूते पहने हुए है और उन्हे भी अपनी वेढगी पोशाक की परवाह नही है। क्या वूढी, क्या जवान, सभी या तो वेफिक्री के साथ वैठी हुई कोई सौदा वेच रही थी, या इधर-उधर घूम रही थी और एक-दूसरी को गालिया देती हुई कोस रही थी। उस समय शायद वाजार उठ चुका था, क्योकि वहा वहुत ही कम आदमी थे और अधिकाश लोग उधर से होते हुए पहाडी पर जा रहे थे। मै उनके पीछे हो लिया और ज्यो-ज्यो आगे वढता गया, मुझ उसी तरह के लोग अधिका-धिक सख्या में एक ही दिशा मे जाते हुए दिखाई दिये।

वाजार से निकलकर जव मै सडक पर पहुचा तो मुझे दो स्त्रिया मिली—एक वूढी थी और दूसरी जवान। दोनो भूरे रग के फटे हुए कपडे पहने हुए थी और आपस मे किसी विषय पर वातचीत करती जा रही थी। प्रत्येक आवश्यक शब्द के वाद वे दो-एक अनावश्यक और अश्लील शब्द का प्रयोग किये बिना न रहती थी। वे नशे मे नही थी। हा, अपनी वातो में मस्त अवश्य थी। मुझे तो उनकी वातचीत का यह ढग वडा ही अटपटा लग रहा था, लेकिन जो लोग उनसे मिलते थे या उनके आगे-

पीछे चल रहे थे वे इसपर विलकुल भी ध्यान नही दे रहे थे। इससे साफ मालूम होता था कि वहा के लोग वोलते ही इस ढग से है।

सडक की वाई ओर सराए वनी हुई थी। कुछ लोग तो उनमें घुस गए और कुछ आगे वढते रहे। पहाडी पर चढने के वाद हम कोने के एक वडे मकान के पास पहुचे। जिन लोगो के साथ मै चल रहा था, उनमें से अधिकाश वही रुक गए। वर्फ से ढकी हुई सडक और पटरी पर भी उसी तरह के लोग खड या वैठे थे। प्रवेश-द्वार की दाईं ओर सैकडो स्त्रिया थी और वाईं ओर सैकडो पुरुप। मै दोनो के वीच से होकर आगे वढा और जहा उनकी कतार समाप्त होती थी वहा जाकर रुक गया। जिस मकान के वाहर ये लोग खडे थे वह ल्यापिन अनाथालय था। वहा ये लोग रात के समय मुफ्त सोया करते थे और भीतर जाने की प्रतीक्षा में थे। अनाथालय के द्वार ५ बजे खुलते थे। रास्ते में मै जितनो को पीछे छोड आया था, वे सव भी धीरे-धीरे वही आ गए थे।

पुरुषो की पक्ति जहा ममाप्त होती थी, मै वही खडा हो गया। जो लोग मेरे विलकुल पाम थे वे मेरी ओर कुछ इस तरह से देखने लगे कि मेरा ध्यान उनकी ओर वरवस आकर्षित हो गया। उनके तन के चीथडे तो एक-दूसरे से भिन्न और रग-विरगे थे, किन्तु मेरे ऊपर डाली गई उनकी दृष्टियो मे विलकुल एक-मा भाव था। उनकी आखे मानो पूछ रही थी—"ऐ, दूसरी दुनिया के आदमी ! तुम हमारे पाम क्यो खडे हो गए ? तुम कौन हो ? तुम कोई आत्म-सतुष्ट अमीर तो नही जो अपने जीवन की एकरसता को वदलने के लिए हमारी दुर्दशा का मजा लेने आए हो ? या तुम हमपर करुणा दिखानेवाले वह मानव हो, जिसका अस्तित्व न इस समार में है, न कभी हो सकता ?"

हरेक के चेहरे पर यही प्रश्न था। उन्होने मेरी ओर देखा, दृष्टि से दृष्टि मिलाई और फिर मुह फेर लिया। मैं उनमे से कुछ लोगो से वात-चीत करना चाहता था; किंतु वहुत देर तक मुझे ऐसा करने का साहस नही हुआ। पर मौन रहते हुए भी हम आखो-ही-आखो मे एक-दूमरे के निकट आ गए। दो-तीन वार नजर-से-नजर मिलने के वाद ही हमने

महसूस कर लिया कि हमारे जीवन ने हमें एक-दूसरे से चाहे कितना ही अलग क्यों न कर दिया हो, है हम एक ही। और इस प्रकार हमारा एक-दूसरे के प्रति भय जाता रहा।

मेरे पास ही एक किसान खड़ा था, जिसका चेहरा सूजा हुआ था और जिसकी डाढी लाल थी। उसका कोट फटा हुआ था और उसने बिना मोजो के ही अपने पैरो में टूटे-फूटे जूते पहन रखे थे, यद्यपि उस समय वडे जोरों का पाला पड रहा था। मेरी आखे उसकी आंखो से तीन-चार वार मिली और फिर मैंने अपनेको उसके इतना निकट अनुभव किया कि मुझे उससे वोलने मे नही, वल्कि न वोलने मे लज्जा मालूम होने लगी। मैंने उससे पूछा—"तुम कहाके रहनेवाले हो ?" उसने इसका तुरंत उत्तर दिया और वातचीत का सिलसिला चल पडा। इतने मे दूसरे लोग भी हमारे पास खिसक आए। मैं जिससे वाते कर रहा था वह स्मालेंस्क का रहनेवाला था और मास्को काम की खोज मे आया था। उसे आशा थी कि शहर मे जाकर वह इतना कमा लेगा कि उससे अनाज भी खरीद लेगा और टैक्स भी भर देगा।

"लेकिन यहा मुझे कोई काम नही मिला," उस आदमी ने वताया। "सिपाहियो ने सारा काम ले लिया है,[1] इसलिए मैं मारा-मारा फिर रहा हू और भगवान जानता है कि दो दिन से मैंने कुछ नही खाया है।"

उसने यह वात वड़ी कातरता के साथ कही और मुसकराने की चेष्टा की। पास ही स्विटेन[2] वेचनेवाला एक वूढा सिपाही खडा था। मैंने उसे वुलाया और मेरे कहने पर उसने स्विटेन का एक गिलास भरकर उस आदमी को दिया। किसान ने गिलास को लेकर पहले उसपर अपने हाथ गरमाए। कारण, वह उसकी जरा-सी भी गरमी व्यर्थ नही जाने देना चाहता था।

---

१. उन दिनो सिपाही वडे सस्ते में काम करने के लिए मिल जाते थे।

२. शहद और मसाले से वना गरम पेय।

हाथ सेकते-ही-सेकते उम किसान ने मुझे अपनी जीवन-कथा सुना डाली। (इन लोगो की जीवन-कथा—कम-से-कम जिस रूप में ये लोग उसे सुनाते है—अधिकत एक-सी होती है)। उसने वताया—पहले मुझे थोडा-सा काम मिला था, लेकिन वह पूरा हो चुका और मेरा वटुआ, जिसमें मेरा पासपोर्ट और वचे-खुचे पैसे थे, इसी अनाथालय मे चोरी चला गया, जिसके कारण अव मै मास्को से वाहर जाने मे असमर्थ हू। दिन मे मै गरम पेय की दूकानो पर ताप लेता हू और कभी-कभी लोग मुझे रोटी के जो वचे-खुचे टुकडे दे देते है उन्हे ही खाकर रह जाता हू। लेकिन कभी-कभी वे मुझे भगा भी देते हैं। रात मैं इसी ल्यापिन अनाथालय मे काट लेता हू, जहा मुझे कुछ देना नही पडता। अव मै केवल इस प्रतीक्षा में हू कि पुलिसवाले ढूढते हुए आवे और पासपोर्ट न होने के कारण मुझे पकडकर जेल मे डाल दें और वाद मे मै अपने ही जैसे दूसरे आदमियो के साथ पुलिस के पहरे मे पैदल घर भेज दिया जाऊ। मैने सुना है कि पुलिस वृहस्पतिवार को गश्त लगायगी।—(स्पष्टत जेल और घर की पैदल-यात्रा उसे स्वर्ग-जैसी मालूम होती थी)।

भीड के दो-तीन आदमियो ने उसकी इन वातो का समर्थन किया और कहा कि हम भी ऐसी ही मुसीवत में है। उसी समय लम्वी नाक-वाला एक दुवला-पतला, निर्वल नवयुवक, जिसके शरीर पर कधो पर से फटी हुई केवल एक कमीज थी और जिसकी टोपी का चदोवा भी लापता था, लोगो को ढकेलता-ढकालता भीड मे से निकलकर मेरे पास आया। वह सर्दी से थर-थर काप रहा था, फिर भी उसने किसान की वातो पर घृणापूर्ण हसी हसने की चेष्टा की और मेरी ओर दृष्टि गडाकर देखा। शायद उसने यह सोचा हो कि इस प्रकार की चेष्टा मेरी मनो-दशा के अनुकूल होगी।

मैंने उसे भी एक गिलास स्विटेन दिलवाया। गिलास लेकर उसने भी अपने हाथ सेके, किन्तु ज्योही उसने वोलना शुरू किया, एक लम्वा, काला, तोते-जैसी नाकवाला आदमी उसको धक्का देकर आगे निकल आया। वह छीट की एक कमीज और जाकट पहने हुए था, लेकिन

उसके सिर पर टोपी नही थी। उसने भी पीने के लिए स्बिटेन मागा। उसके पीछे नशे में चूर, नुकीली डाढीवाला एक लम्बा बूढा आदमी आया। वह ओवरकोट पहने हुए था, जिसमे कमर के पास एक डोरी बधी हुई थी और उसके पैरो मे चटाई के जूते थे। उसके पीछे एक लडका आया जिसका मुह सूजा हुआ था और जिसकी आखे तर थी। वह एक भूरी जाकट पहने हुए था। उसके नगे घुटने फटी हुई ठडी पतलून मे से दिखलाई दे रहे थे और सर्दी के मारे एक-दूसरे से टकरा रहे थे। वह इतना काप रहा था कि स्बिटेन का गिलास उससे सम्हल नही सका और सारा-का-सारा स्बिटेन उसके ऊपर ही बिखर गया। दूसरे लोग उसे गालिया देने लगे, किंतु वह करुण भाव से केवल मुसकरा भर दिया और खडा-खडा कापता रहा।

उस लडके के बाद चीथडे लपेटे, एक भद्दी सूरत का विकृत शरीर-वाला व्यक्ति आया। उसने अपने नगे पावो मे कपडे की पट्टिया लपेट रखी थी। फिर तो एक-एक करके कितने ही लोगो ने मुझे आकर घेर लिया। इनमे से कोई अफसर-जेसा लगता था तो कोई पादरी-जैसा, किसीके नाक ही नही थी तो किसीकी सूरत अजीब थी; लेकिन थे सब भूखे, सर्दी से पीडित, जिद्दी और दीन-हीन। वे सब स्बिटेन की ओर झुक पडे और देखते-ही-देखते उसे चट कर गए। तब एक आदमी ने मुझसे पैसे मागे और मैंने उसे दे दिये। इसपर दूसरे ने, फिर तीसरे ने पैसे मागे और फिर तो भीड-की-भीड मुझपर टूट पडी ओर लोग आपस में धक्कम-धक्का करने लगे। इतने मे बराबर के मकान से एक चौकीदार ने डपटकर कहा—"मेरे घर के सामने से हट जाओ।" बेचारो ने चुपचाप उसकी आज्ञा का पालन किया और भीड मे से कुछ लोग स्वयसेवक बनकर मेरी रक्षा करने लगे। वे मुझे उस रेले मे से निकाल ले जाना चाहते थे; किंतु जो भीड अभी तक पटरियो पर खडी हुई थी वह भी धक्कम-धक्का करती हुई मेरे चारो ओर जमा हो गई। सबके सब लोग मेरी ओर देख-देखकर भीख मागने लगे। उनमें से हरेक का चेहरा एक-दूसरे से अधिक करुण, अधिक क्लात और अधिक दीन मालूम पडता था। मेरे पास जो-कुछ भी था—अधिक नही, यही लगभग

बीस रूबल* के रहे होगें—मैंने सब बाट दिया और भीड के साथ-साथ मै भी अनाथालय में घुसा। उसकी इमारत बहुत बडी थी और उसमें चार हिस्से थे। ऊपर के खड में मर्द रहते थे और नीचे के तल्ले में स्त्रिया। पहले मै नीचे के हिस्से मे गया। एक बडा कमरा था जिसमे रेल के तीसरे दर्जे की सीटो के समान ऊपर-नीचे दो पक्तियो में लकडी के तख्ते लगे हुए थे। फटे-पुराने कपडे पहने हुए अजीब-अजीब ढग की बूढी और जवान स्त्रियो ने आकर अपने-अपने तख्ते पर कब्जा कर लिया। कुछ ऊपर चढ गई और कुछ नीचे रही। कुछ बूढी स्त्रियो ने हाथ जोडकर अनाथालय बनानेवाले के लिए ईश्वर से दुआ मागी। दूसरी स्त्रिया हसी-मजाक और गाली-गलौज करने लगी।

इसके बाद मै ऊपर के हिस्से में गया। वहा मर्द अपनी-अपनी जगह ले रहे थे। उनमें से एक वह भी था जिसे मैंने पैसे दिये थे। उसे देखकर एकाएक मुझे बडी लज्जा मालूम हुई। ऐसा लगा मानो मैंने कोई अपराध कर दिया है और मै वहासे तेजी से बाहर निकलकर सीधा अपने घर की ओर चल दिया। कालीन से ढके हुए जीने पर चढता हुआ मै गलीचे से सुसज्जित बडे कमरे में पहुचा और रोवेंवाला ओवरकोट उतारकर पाच व्यजनोवाला भोजन करने बैठ गया, जिसे सफेद टाई और सफेद दस्ताने पहने हुए दो वर्दीधारी नौकरो ने लाकर मेज पर सजाया था।

तीस वर्ष पहले मैंने एक बार पेरिस में हजारो दर्शको की उपस्थिति में जल्लादो को एक आदमी का सिर काटते देखा था। मै जानता था कि उस व्यक्ति ने भयकर अपराध किया था। इस प्रकार सार्वजनिक रूप से सिर काटने के पक्ष मे लिखी गई सारी दलीलो से भी मै परिचित था। मुझे विदित था कि ऐसा दण्ड जानबूझ कर विशेष अभिप्राय से दिया जाता है; किंतु जैसे ही उस आदमी का सिर धड से अलग होकर

---

* अर्थात लगभग ३० रुपए। एक रूबल में १०० कोपेक होते है। रूस का यह सोने का सिक्का २ शिलिंग, १½ पेंस यानी लगभग डेढ रुपए के बराबर होता है

नीचे वक्स मे गिरा कि मेरा दम घुटने लगा और मेरे शरीर और हृदय ने ही नही, वल्कि रोम-रोम ने अनुभव किया कि मृत्युदड के पक्ष मे जितनी भी दलीलें हैं वे अनर्गल और दुष्टतापूर्ण है और इस ससार के सबसे जघन्य अपराध—हत्या—को करने मे चाहे कितने ही आदमियो का योग क्यो न हो और अपने को वे चाहे कोई भी नाम क्यो न दें, हत्या हत्या ही है और चूकि उक्त हत्या मेरी आखो के सामने की गई थी और मै बिना कोई आपत्ति किये उसे चुपचाप खडा-खडा देखता रहा था इसलिए मैं भी उसका समर्थक और भागीदार था। इसी प्रकार जब मैंने ल्यापिन अनाथालय के बाहर हजारो लोगो की भूख, कपकपी और पतन का दृश्य देखा तो मेरे शरीर और हृदय ने ही नही, बल्कि रोम-रोम ने यह अनुभव किया कि जब मेरे-जैसे सहस्रो व्यक्ति ठूस-ठूसकर तरह-तरह के व्यजन खाते हैं और अपने घोडो और घर के फर्श तक को कपडे या गलीचे से ढकते हैं तब—चाहे ससार की समस्त विद्वद्मण्डली इसका कितना ही समर्थन क्यो न करे—इसमे सन्देह नही कि मास्को मे इस तरह के दसियो हजार कगालो का होना एक चिरस्थाई अपराध है और मै अपनी विलासिता मे पडा रहकर इस अपराध को न केवल सहन ही कर रहा हू, बल्कि स्वय उसमे भाग भी ले रहा हू। मुझे तो पहली और अबकी अनुभूति मे केवल एक अतर दिखाई देता था। सार्वजनिक प्राणदडवाले मामले मे मै अधिक-से-अधिक इतना कर सकता था कि सूली के पास खडे हुए हत्या की तैयारी करनेवाले जल्लादो से चीखकर कहता कि तुम गलती कर रहे हो, और यह अच्छी तरह से जानते हुए भी कि मेरे किसी कार्य से हत्या रुक नही सकती, हर सम्भव युक्ति से उसमें वाधा डालने की चेष्टा करता; किंतु भिक्षुको के मामले मे मेरी कार्य-क्षमता यही तक सीमित नही थी कि उन्हें स्बिटेन पिला देता और जेब के थोडे-से पैसे बाट देता, बल्कि मै उन्हे अपने शरीर पर का ओवरकोट और अपने घर की सारी चीजें दे सकता था। परतु मैंने ऐसा नही किया। यही कारण है कि मैंने उस समय अनुभव किया, अब भी, करता हू और सदा करता रहूगा कि जबतक मेरे पास दो कोटो के होते हुए कोई व्यक्ति बिना कोट के रहेगा

तबतक मै भी इस ससार में निरतर होते रहनेवाले एक पाप का भागी-दार बना रहूगा।

: ३ :

उन्हें उबारना चाहा

ल्यापिन अनाथालय से लौटकर मैंने उसी दिन शाम को अपने विचार एक मित्र के सामने प्रकट किये। वह शहर के ही रहनेवाले थे, इसलिए उन्होने मुझे समझाना शुरू किया कि मैंने जो-कुछ देखा है वह शहरो के लिए एक बिलकुल स्वाभाविक बात है और देहात मे रहने के कारण ही मुझे उसमें अनोखापन दिखाई देता है। मेरे मित्र ने यह भी कहा कि ऐसी स्थिति तो सदा से रही है और रहेगी, भिक्षावृत्ति सभ्यता का एक अनिवार्य अग है, लन्दन मे तो इससे भी दयनीय दशा है, इसलिए इसमे कोई बुराई नही है और इससे किसी-को असतुष्ट नही होना चाहिए।

मैं अपने मित्र से बहस करने लगा और मेरी बातो में इतनी उग्रता तथा उत्तेजना आगई कि पास के कमरे से मेरी स्त्री दौड आई और पूछने लगी कि क्या बात है। ऐसा मालूम पडता है कि अनजाने मे मैं अपने मित्र की ओर दोनो हाथ फैलाए अश्रुप्लावित कठ से चिल्ला पडा था—"कोई भी व्यक्ति इस तरह नही रह सकता, नही रह सकता, नही रह सकता।" इस अनावश्यक उत्तेजना के लिए मेरे मित्रो ने मुझे बडा लज्जित किया और कहा कि मै किसी विषय पर शातिपूर्वक बाते नही करता और अप्रिय ढग से उग्र हो उठता हू। उन्होंने यह बात विशेष रूप से प्रमाणित करने की चेष्टा की कि समाज मे ऐसे अभागो का होना कोई ऐसी बात नही जिसके कारण मैं आसपासवालो का जीवन दूभर बनादू।

यह सोचकर कि बात है तो बिलकुल ठीक, मैं चुप हो गया, परतु मेरे अन्तस्तल मे लगातार यह अनुभूति होती रही कि मेरी बात भी ठीक है और मेरा मन शान्त नही हो पाया।

नीचे वक्स मे गिरा कि मेरा दम घुटने लगा और मेरे शरीर और हृदय ने ही नही, बल्कि रोम-रोम ने अनुभव किया कि मृत्युदड के पक्ष में जितनी भी दलीलें हैं वे अनर्गल और दुष्टतापूर्ण हैं और इस ससार के सबसे जघन्य अपराध--हत्या--को करने मे चाहे कितने ही आदमियो का योग क्यो न हो और अपने को वे चाहे कोई भी नाम क्यो न दें, हत्या हत्या ही है और चूकि उक्त हत्या मेरी आखो के सामने की गई थी और मैं विना कोई आपत्ति किये उसे चुपचाप खडा-खडा देखता रहा था इसलिए मैं भी उसका समर्थक और भागीदार था। इसी प्रकार जब मैंने ल्यापिन अनाथालय के बाहर हजारो लोगो की भूख, कपकपी और पतन का दृश्य देखा तो मेरे शरीर और हृदय ने ही नही, वलिक रोम-रोम ने यह अनुभव किया कि जब मेरे-जैसे सहस्रो व्यक्ति ठूम-ठूसकर तरह-तरह के व्यजन खाते हैं और अपने घोडो और घर के फर्श तक को कपडे या गलीचे से ढकते हैं तब--चाहे ससार की समस्त विद्वद्मण्डली इसका कितना ही समर्थन क्यो न करे--इसमे सन्देह नही कि मास्को में इस तरह के दसियो हजार कगालो का होना एक चिरस्थाई अपराध है और मैं अपनी विलासिता मे पडा रहकर इस अपराध को न केवल सहन ही कर रहा हू, वलिक स्वय उसमें भाग भी ले रहा हू। मुझे तो पहली और अवकी अनुभूति मे केवल एक अतर दिखाई देता था। सार्वजनिक प्राणदडवाले मामले मे मैं अधिक-से-अधिक इतना कर सकता था कि सूली के पास खडे हुए हत्या की तैयारी करनेवाले जल्लादो से चीखकर कहता कि तुम गलती कर रहे हो, और यह अच्छी तरह से जानते हुए भी कि मेरे किसी कार्य से हत्या रुक नही सकती, हर सम्भव युक्ति से उसमे वाधा डालने की चेष्टा करता; किंतु भिक्षुको के मामले मे मेरी कार्य-क्षमता यही तक सीमित नही थी कि उन्हे स्विटेन पिला देता और जेब के थोडे-से पैसे वाट देता, वलिक मैं उन्हे अपने शरीर पर का ओवरकोट और अपने घर की सारी चीजे दे सकता था। परंतु मैने ऐसा नही किया। यही कारण है कि मैंने उस समय अनुभव किया, अव भी, करता हू और सदा करता रहूगा कि जबतक मेरे पास दो कोटो के होते हुए कोई व्यक्ति बिना कोट के रहेगा

तबतक मैं भी इस संसार में निरंतर होते रहनेवाले एक पाप का भागी-दार बना रहूंगा।

: २ :

उन्हें उबारना चाहा

ल्यापिन अनाथालय से लौटकर मैंने उसी दिन शाम को अपने विचार एक मित्र के सामने प्रकट किये। वह शहर के ही रहनेवाले थे, इसलिए उन्होंने मुझे समझाना शुरू किया कि मैंने जो-कुछ देखा है वह शहरों के लिए एक बिलकुल स्वाभाविक बात है और देहात में रहने के कारण ही मुझे उसमें अनोखापन दिखाई देता है। मेरे मित्र ने यह भी कहा कि ऐसी स्थिति तो सदा से रही है और रहेगी, भिक्षावृत्ति सभ्यता का एक अनिवार्य अंग है; लन्दन में तो इससे भी दयनीय दशा है, इसलिए इसमें कोई बुराई नहीं है और इससे किसी-को असंतुष्ट नहीं होना चाहिए।

मैं अपने मित्र से बहस करने लगा और मेरी बातों में इतनी उग्रता तथा उत्तेजना आगई कि पास के कमरे से मेरी स्त्री दौड़ आई और पूछने लगी कि क्या बात है। ऐसा मालूम पड़ता है कि अनजाने में मैं अपने मित्र की ओर दोनों हाथ फैलाए अश्रुप्लावित कंठ से चिल्ला पड़ा था—"कोई भी व्यक्ति इस तरह नहीं रह सकता, नहीं रह सकता, नहीं रह सकता।" इस अनावश्यक उत्तेजना के लिए मेरे मित्रों ने मुझे बड़ा लज्जित किया और कहा कि मैं किसी विषय पर शांतिपूर्वक बातें नहीं करता और अप्रिय ढंग से उग्र हो उठता हूं। उन्होंने यह बात विशेष रूप से प्रमाणित करने की चेष्टा की कि समाज में ऐसे अभागों का होना कोई ऐसी बात नहीं जिसके कारण मैं आसपासवालों का जीवन दूभर बनादूं।

यह सोचकर कि बात है तो बिलकुल ठीक, मैं चुप हो गया; परंतु मेरे अन्तस्तल में लगातार यह अनुभूति होती रही कि मेरी बात भी ठीक है और मेरा मन शान्त नहीं हो पाया।

नगर का जीवन, जो पहले मुझे अजीब और अपरिचित मालूम होता था, अब इतना घृणित दिखाई देने लगा कि विलासितापूर्ण जीवन के जिन सुखो मे पहले मुझे आनन्द आता था वे ही मेरे लिए अब यातना बन गए। जिस प्रकार का जीवन मैं बिता रहा था उसके लिए अपनी आत्मा मे थोडा-बहुत औचित्य ढूढने की मै लाख चेष्टा करता; किंतु जब कभी अपना या किसी दूसरे का सजा हुआ गोल कमरा या मेज पर सफाई और सुन्दरता के साथ परोसा हुआ भोजन देखता, या जब कभी मेरी दृष्टि मोटे-ताजे घोडो और कोचवानो सहित किसी गाडी, या दुकान, या थियेटर, या सभा-मडली पर जाती तो क्रोध आए बिना न रहता। इनके साथ-ही-साथ मेरी आखो के आगे ल्यापिन अनाथालय के भूखे, ठिठुरते हुए और पददलित अनाथो की आकृतिया नाच उठती और बरबस मेरे मन मे यह विचार उटता कि इन दोनो का आपस में सम्बध है, ये दोनो एक-दूसरे के कारण हैं। मुझे याद है कि अपने को अपराधी मानने की जिस भावना की अनुभूति मैंने आरम्भ से ही की थी वह मेरे मन मे सदा बनी रही, यद्यपि कुछ ही दिनो बाद एक दूसरी भावना उसमे आ मिली और उसने पहली अनुभूति को आच्छादित कर दिया।

ल्यापिन अनाथालय की जो छाप मेरे मन पर पडी थी उसकी चर्चा जब कभी मै अपने इष्ट-मित्रो और जान-पहचानवालो मे करता तब वे भी वैसी ही बातें कहते जेसी कि उस मित्र ने कही थी, जिसपर मुझे क्रोध आया था। किंतु साथ-ही-साथ वे मेरी दयालुता और सहज ही प्रभावित होनेवाली प्रवृत्ति की प्रशसा भी करते। कहते कि आप पर इस दृश्य का इतना गहरा प्रभाव केवल इसलिए पडा कि आप—लियो टॉल्सटॉय—एक बहुत ही दयालु और नेक व्यक्ति हैं। मैंने उनके इस निष्कर्ष पर सहर्ष विश्वास कर लिया और इसके पहले कि मै इस विषय पर पुन विचार करता, लज्जा और पश्चाताप की उस भावना के बदले, जो मेरे मन में सबसे पहले उदय हुई थी, मै अपनी परोपकारिता की प्रवृति पर सतोष अनुभव करने लगा और मुझमें उसके प्रदर्शन की भी इच्छा जाग उठी।

मैंने अपने मन में सोचा—"दोष शायद मेरे भोगविलास का नही, वल्कि जीवन की उन परिस्थितियो का है जो अनिवार्य है। मैंने जो बुराइया देखी है वे मेरे जीवन में परिवर्तन होने से दूर नही हो सकेंगी। अपने जीवन में परिवर्तन करके तो मैं अपने और अपने प्रियजनो के ही जीवन को दु खी बना लूगा और अभागे अनाथो की दशा सदा के समान हीन-की-हीन बनी रहेगी। इसलिए मेरा यथार्थ कर्त्तव्य स्वय अपने जीवन मे परिवर्तन करना नही है, जैसा कि मैंने पहले सोचा था, वल्कि यथाशक्ति उन अभागो की स्थिति सुधारने मे सहायता देना है जिनके प्रति मेरे मन में सहानुभूति जागृत हुई है। साराश यह कि मै एक वडा ही नेक और दयालु प्राणी हू और अपने पडोसियो का उपकार करना चाहता हू।"

इस विचार के आते ही मै परोपकार की एक ऐसी योजना बनाने लगा जिसके द्वारा मुझे अपनी सज्जनता का प्रदर्शन करने का अवसर मिले। हा, इतना अवश्य बतला दू कि इस योजना को बनाते समय भी मेरी अतरात्मा मे निरतर यही अनुभूति होती रही कि मै जो-कुछ कर रहा हू वह ठीक नही है। किन्तु, जैसा कि अक्सर होता है, तर्क और कल्पना ने अतरात्मा का गला घोट दिया।

सयोग की बात है कि उन्ही दिनो मर्दुमशुमारी की तैयारी हो रही थी। मैंने सोचा कि जिस परोपकार-कार्य द्वारा मै अपनी सज्जनता का प्रदर्शन करना चाहता हू, उसे आरम्भ करने का यह अच्छा अवसर है। मै मास्को की अनेक परोपकारी सस्थाओ और सभाओ से परिचित था; किन्तु मुझे ऐसा लगता था कि उनके कार्य का सचालन गलत रास्ते पर हो रहा है और उनकी चेष्टाए मेरे लक्ष्य की अपेक्षा नगण्य है। इसलिए मैंने निम्नलिखित योजना तैयार की—अमीरो के हृदय में शहर की गरीबी के प्रति सहानुभूति पैदा की जाय, रुपया इकट्ठा किया जाय, इस कार्य में सहायता देने की इच्छा रखनेवालो की सूची तैयार की जाय, मर्दुमशुमारी करनेवालो के साथ-साथ अनाथो के सब अड्डो पर जाया जाय और उनकी गणना करने के अतिरिक्त उनके सम्पर्क में आकर उनकी आवश्यकताओ की जाच की जाय, उन्हें धन और काम देकर या गावो में वापस पहुचाकर और उनके बच्चो को स्कूलो में व वडे-बूढो

को अनाथाश्रमों में भरती कराकर उनकी सहायता की जाय। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी सोचा कि इस कार्य में हाथ बंटानेवाले लोगों में से कुछ की एक स्थायी समिति बनाई जाय, जो मास्को के भिन्न-भिन्न भागों का काम अपने सदस्यों में बांटकर कंगाली और अनाथपन के कीटाणु को नष्ट करने की चेष्टा करे, उन्हें अंकुरित होते ही दबा दे और अधिक यत्न दरिद्रता के रोग की चिकित्सा करने के बजाय उसे रोकने का करे। मैं तो यहां तक स्वप्न देखने लगा कि मुझे अपने काम में इतनी सफलता मिलेगी कि किसीके पूर्ण रूप से अनाथ रहने की तो बात ही क्या, नगर में कोई व्यक्ति ऐसा भी नहीं रह जायगा जिसे किसी वस्तु की कमी हो। यह सोचकर मुझे बड़ा सुख होता कि यह सब मेरे ही कारण होगा और मेरे-जैसे अमीर निश्चिंत होकर अपने गोल कमरों में बैठेंगे, पांच व्यजंनों का भोजन करेंगे, गाड़ियों में बैठकर थियेटर और सभा-सोसायटियों में जायंगे और रास्ते में उन्हें ल्यापिन अनाथालय-जैसे दृश्यों को देखकर दुःखी नहीं होना पड़ेगा।

इस प्रकार की योजना बनाकर मैंने एक लेख लिखा और उसे प्रकाशनार्थ भेजने से पूर्व मैं अपने उन परिचितों से मिला जिनसे मुझे सहायता मिलने की आशा थी। उस दिन मैं जितने लोगों से मिला (विशेष रूप से मैं अमीरों के ही पास गया) उन सबसे मैंने प्रायः वही बात कही जो अपने लेख में लिखी थी। मैंने उनसे प्रस्ताव किया कि मर्दुमशुमारी से लाभ उठाकर मास्को के कंगालों का परिचय प्राप्त किया जाय और रुपये तथा काम से उनकी सहायता कर ऐसा यत्न किया जाय कि मास्को में दरिद्रता रह ही न जाय और फिर हम अमीर लोग शान्त-चित्त होकर उन आमोद-प्रमोदों का आनन्द उठाएं जिनकी हमें आदत पड़ गई है। इन बातों को सबने बड़ी गम्भीरता के साथ ध्यानपूर्वक सुना और उनकी प्रतिक्रिया सबपर एक समान हुई। मेरी बातों का तात्पर्य समझते ही वे विचलित हो उठे और उनके मुख पर लज्जा का भाव झलकने लगा। ऐसा मालूम पड़ता था कि उन्हें लज्जा मुख्यतः मेरे कारण आ रही थी; क्योंकि वे सोचते थे कि मैं कुछ ऐसी मूर्खतापूर्ण बातें कर रहा हूं जो उनकी समझ में मूर्खतापूर्ण होती हुई भी स्पष्ट रूप

से मूर्खतापूर्ण कही नही जा सकती थी। मुझे तो ऐसा लगा मानो किसी बाहरी कारण से वे मेरी इन मूर्खतापूर्ण बातो को सहन करने के लिए विवश हो गए है।

उत्तर मिला—"हा, हा, यह तो बडा ही अच्छा विचार है, भला इससे किसे सहानुभूति न होगी ? आपका विचार बहुत ही सुन्दर है, मेरे मन मे भी ऐसा ही विचार उठा था, लेकिन क्या कहूँ, यहा के लोग तो इन बातो की ओर से इतने उदासीन है कि अधिक सफलता की आशा नही की जा सकती। हा, जहा तक मेरा सवाल है मुझसे जितनी सहायता बन पडेगी, देने को तैयार हू।"

सबने कुछ-न-कुछ ऐसी ही बात कही। वे मुझसे सहमत तो हो गए, पर ऐसा प्रतीत होता था कि वे सतुष्ट होकर या स्वेच्छा से ऐसा नही कर रहे है बल्कि कोई बाहरी कारण उन्हे मुझसे असहमत होने से रोक रहा है। इसका एक प्रमाण यह भी था कि जो लोग आर्थिक सहायता करने का वचन देते थे वे यह नही बताते थे कि कितना देंगे, जिसके फलस्वरूप स्वय मुझे कहना पडता था—"तो आशा है कि आपसे ३०० या २०० या २५ रूबल मिल जायगे।" इतने पर भी उनमे से एक ने भी हाथ के हाथ रुपया नही दिया। यह मै इसलिए लिख रहा हू कि जिस बात में लोगो की रुचि होती है उसके लिए वे साधारणत फौरन ही रुपया दे डालते है। उदाहरण के लिए, जब कभी लोग थियेटर जाना चाहते है तो अपनी सीट के लिए हाथ-के-हाथ पैसा दे देते है। किन्तु मेरी योजना के सम्बध मे जिन लोगो ने रुपया देने को कहा या सहानुभूति प्रकट की उनमे से एक ने भी तत्काल रुपया नही दिया। बस मैंने जो रकम कह दी उसे उन्होंने चुपचाप स्वीकार भर कर लिया।

उस दिन शाम को मै जिस मित्र के घर सबसे अत में गया वहा बहुत-से लोग इकट्ठे थे। उस घर की मालकिन इधर कुछ वर्षो से परोपकार के काम मे लगी हुई थी। दरवाजे पर कई गाडिया खडी थी और प्रवेश-कक्ष में कीमती वर्दिया पहने कई दरबान बैठे थे। बड़े गोल कमरे मे दो मेजो के चारो ओर, जिनपर लैम्प जल रहे थे, बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण पहने कितनी ही विवाहिता तथा अविवाहिता

स्त्रिया बैठी-बैठी गुड़िए बना रही थी। उनके पास ही कितने ही नवयुवक भी बैठे थे। गुडिए गरीबो के सहायतार्थ लाटरी द्वारा बेची जाने के लिए बनाई जा रही थी।

गोल कमरे और उसमे एकत्र लोगो को देखकर मेरे हृदय पर बडा अप्रिय प्रभाव पडा। यह बताने की आवश्यकता नही कि वहा एकत्र हुए लोगो की हैसियत लाखो रूबल की थी और उनके कपडो, गहनो, गाडी-घोडो, वर्दियो, दरबानो आदि पर जो खर्च हुआ था अकेले उसका सूद ही उनके कार्य के मूल्य से सैकडोगुना अधिक था। यदि हम इस तथ्य को छोड भी दे तब भी, केवल उस एक दिन के आयोजन का खर्च—दस्तानो, साफ चादरो, सवारी, मोमबत्ती, चाय, शक्कर, बिस्कुट आदि पर व्यय किया गया धन—ही उन लोगो द्वारा तैयार की जानेवाली चीजो के मूल्य से सैकडोगुना अधिक होगा। यह सब देखकर मैंने समझ लिया कि कम-से-कम यहा तो मुझे अपनी योजना के लिए सहानुभूति की आशा करनी नही चाहिए। फिर भी चूकि मै वहा अपना प्रस्ताव रखने की नीयत से गया था इसलिए कठिनाई अनुभव करने पर भी मैंने अपनी बात कह ही डाली।

उपस्थित महिलाओ में से एकने कहा—"अधिक भावुक होने के कारण मै स्वय तो गरीबो के बीच नही जा सकूगी; किन्तु कुछ रुपए अवश्य दूगी।"—कितने और कब, यह उन्होने नही बताया। एक दूसरी महिला और एक नवयुवक ने कगालो के बीच चलकर सेवा करने के लिए तत्परता दिखाई; परन्तु मैंने उनकी इस कृपा से लाभ नही उठाया। जिस व्यक्ति को मैंने विशेष रूप से सम्बोधित किया उसने कहा—"साधनो की कमी होने के कारण मेरे लिए कुछ अधिक करना सम्भव नही।"—बात यह थी कि मास्को के सभी धनाढ्य व्यक्ति सुपरिचित थे और उनसे जितना भी लिया जा सकता था सरकार पहले ही ले चुकी थी। इसके लिए उन्हे पद, तमगे और दूसरे सम्मान भी प्राप्त हो चुके थे। अत उनसे और दान लेने की एकमात्र युक्ति यही थी कि उन्हे सरकार की ओर से नए सम्मान दिलाए जाते; किन्तु यह कार्य बहुत ही कठिन था।

उस दिन घर लौटकर जब मैं बिस्तर पर लेटा तो मेरे मन में अपनी योजना के असफल होने की केवल आशका ही नही थी, बल्कि मुझे लज्जा भी मालूम हो रही थी और ऐसा लग रहा था जैसे सारे दिन मैं कोई बहुत ही घृणित और लज्जाजनक कार्य करता रहा हू। फिर भी मैंने चेष्टा बन्द नही की, क्योकि एक तो कार्य आरम्भ हो चुका था और मिथ्या लज्जा की भावना मुझे उसे छोडने नही देती थी, दूसरे इस कार्य मे लगे रहने पर भी मैं अपने जीवन का वही क्रम चलाता रह सकता था जिसका कि मै अभ्यस्त हो गया था। इसके विपरीत, मैं खूब समझता था कि यदि मेरी योजना सफल न हुई तो मुझे अपने जीवन का पुराना क्रम त्यागकर एक नया क्रम ढूढने के लिए विवश होना पडेगा, जिससे कि मैं अनजाने मे ही डरा करता था। इसलिए मैंने अपनी अतरात्मा की आवाज पर विश्वास नही किया और जो काम आरम्भ कर चुका था उसे जारी रखा।

मैंने अपना लेख छपने को भेज दिया और उसके प्रूफ की एक प्रति नगर-'ड्यूमा'* (नगरपालिका) मे पढकर सुनाई। उसे पढ़ते समय मुझे इतनी बेचैनी मालूम हुई कि बीच में मैं रुक गया और लज्जा के मारे मेरी आखों में पानी भर आया। मैंने देखा कि वहा जितने लोग उपस्थित थे वे भी सब-के-सब बेचैन हो रहे थे। लेख समाप्त करने पर जब मैंने पूछा कि क्या मर्दुमशुमारी करनेवाले लोग अपने पदो पर बने रहकर दीनो और सामान्य समाज के बीच मध्यस्थ का काम करने के मेरे प्रस्ताव से सहमत हैं तो वहां एक भद्दा सन्नाटा छा गया।

बाद में सभा के दो सदस्यो ने व्याख्यान दिये जिनसे मेरे प्रस्ताव का अटपटापन दूर हो गया। लोगो ने मेरी योजना के प्रति सहानुभूति प्रकट की; किन्तु साथ ही मेरे विचार की अव्यावहारिकता का भी सकेत

---

*'ड्यूमा' वास्तव में उस रूसी ससद को कहते है जो सन् १९०६ मे स्थापित हुई थी, किन्तु इस शब्द का लोकप्रिय अर्थ है 'कौसिल' अर्थात सलाहकार-समिति। नगर-सलाहकार-समिति को भारत में म्यूनिस-पैलिटी अर्थात नगरपालिका कहते है।

किया । इससे तत्काल तो लोगो को संतोष हुआ; किन्तु जब मैंने अपनी बात पर फिर जोर देने की इच्छा से बाद मे मर्दुमशुमारीवालो से अलग-अलग पूछा कि क्या आप मर्दुमशुमारी के समय गरीबो की आवश्यकताओ की जाच करने और अपने पदो पर बने रहकर अमीर और गरीब के बीच मध्यस्थता का काम करने को तैयार है, तो वे फिर बेचैन हो उठे। उनकी मुखाकृति मानो कह रही थी—"श्रीमानजी, आपकी खातिर हमने एक बार तो आपकी मूर्खतापूर्ण बाते सह ली; लेकिन लगे आप उन्हे फिर ओटने।" उनके मुख पर तो ये ही भाव थे, किन्तु जिह्वा से उन्होने स्वीकृति प्रकट की और उनमे से दो व्यक्तियो ने अलग-अलग किन्तु एक ही प्रकार के शब्दो मे, मानो उन्होने पहले से ही सलाह कर ली हो, कहा—"हम तो इस काम को करना अपना कर्तव्य समझते है ।"

जब मैने मर्दुमशुमारी के लिए नियुक्त किये गए विद्यार्थियो से कहा कि मर्दुमशुमारी के साथ-ही-साथ परोपकार की बात भी ध्यान मे रखनी चाहिए तो मेरे कहने का उनपर भी वैसा ही प्रभाव पडा जैसा नगर-पालिकावालो पर पडा था। मैने देखा कि इस विषय पर बात करते समय उन्हे मेरी ओर देखने मे उसी प्रकार लज्जा की अनुभूति हो रही थी, जिस प्रकार किसी सहृदय व्यक्ति को अनर्गल बातें करते देख उसकी ओर देखने मे होती है ।

पत्र-सम्पादक को लेख देने पर उसपर भी ऐसा ही प्रभाव पडा था और मेरे पुत्र, मेरी स्त्री और अधिकाश दूसरे व्यक्तियो ने भी प्राय ऐसी ही भावना व्यक्त की । न जाने क्यो, सभी लोग मेरा प्रस्ताव सुनते ही बेचैन हो उठते थे। फिर भी वे मेरे विचार की प्रशसा करना आवश्यक समझते थे और अपनी स्वीकृति प्रकट करने के पश्चात् शीघ्र ही मेरी योजना की सफलता के विषय में सदेह व्यक्त करने लगते थे। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहा करते थे कि क्या बताए साहब, समाज के प्रति तो सभी लोग (सिवा स्वय उनके) बडे उदासीन और उत्साह-विहीन है ।

मेरी अंतरात्मा फिर भी यही कहती रही कि ये सब बातें ठीक नहीं और इनसे कुछ लाभ नहीं होगा। किन्तु मेरा लेख छपा और मैंने मर्दुमशुमारी में काम करना स्वीकार कर लिया। मैंने ही योजना आरम्भ की थी और अब वह मुझे बरबस अपने साथ खींच ले चली।

: ४ :

प्रारम्भिक जांच-पड़ताल

मेरी प्रार्थना के अनुसार मुझे खमोवनीकी वार्ड के एक मुहल्ले मे मर्दुमशुमारी का काम सौंपा गया। यह मुहल्ला स्मॉलेंस्क बाजार के पास प्रोतोख़नी गली में नदीवाले रास्ते और निकॉल्स्की गली के बीच बसा हुआ है। इसी मुहल्ले में वे मकान बने हुए हैं जो सामूहिक रूप से रज्हानोफ़-भवन या रज्हानोफ़-दुर्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं। पहले ये मकान रज्हानोफ़ नामक एक व्यापारी के थे; किन्तु अब जीमिन-परिवार के अधिकार में हैं। मैं बहुत दिनों से सुनता आया था कि यह भवन भयकरतम दरिद्रता और व्यभिचार की गुफा है और इसीलिए मैंने प्रबंधकों से उधर की ही मर्दुमशुमारी का काम मांगा था।

नगरपालिका से निर्देश मिलने के बाद मर्दुमशुमारी से कुछ दिन पहले मैं अपने मुहल्ले का निरीक्षण करने गया। अधिकारियों ने मुझे जो नक्शा दिया था उसकी सहायता से मुझे रज्हानोफ़-भवन का पता आसानी से लग गया।

मैं पासवाली निकॉल्स्की गली में घुसा। बाईं तरफ़, जहां गली समाप्त होती थी, एक बीहड़ श्रीहीन भवन था जिससे गली की ओर कोई रास्ता नहीं था। उसे बाहर से देखकर मैंने अनुमान लगा लिया कि यही रज्हानोफ़ दुर्ग है।

निकॉल्स्की गली के ढलाव पर मुझे दस से चौदह वर्ष की अवस्था के कुछ बच्चे मिले। वे जाकट या पतले कोट पहने हुए थे। कुछ तो

ढलाव पर और कुछ सडक की बर्फ से ढकी हुई पटरी पर एक पैर मे पहिये-दार जूता पहने फिसलने का खेल खेल रहे थे। वे सब थे तो फटे-हाल; परन्तु शहरी बच्चो की तरह सजग और ढीठ थे। मै खडा होकर उन्हे देखने लगा। इतने मे मोड से फटे-पुराने कपडे पहने एक बुढिया निकली, जिसके पीले गाल सूखकर लटक गए थे। वह स्मॉलेस्क बाजार की ओर जा रही थी और एक थके हुए घोडे की तरह पग-पग पर हाफ रही थी। मेरे पास आकर वह खडी हो गई और जोर-जोर से सास लेने लगी। कोई और जगह होती तो वह बुढिया मुझसे भीख मागे बिना न रहती; किन्तु वहा उसने मुझसे केवल बाते की। बर्फ पर खेलते हुए लडको की ओर सकेत करके वह बोली—"जरा इनकी ओर देखिए, हर वक्त ऊधम ही मचाते रहते है। अपने बाप की तरह ये भी पक्के रज्हानोफी निकलेंगे।" उनम से एक लडके ने, जो ओवरकोट और फटी टोपी पहने हुए था, बुढिया की बात सुन ली। वह खडा हो गया और चिल्लाकर बोला—"तू भी तो रज्हानोफ की ही कुतिया है।"

"क्या तुम इसी मकान मे रहते हो ?"—मैंने लडके से पूछा।

"हा, और यह बुढिया भी इसीमे रहती है, इसने एक जूता चुराया था"—लडका चिल्लाकर बोला और एक पैर आगे बढाकर बर्फ पर फिसलता हुआ चला गया।

इसपर बुढिया ने गालियो की झडी लगा दी; लेकिन बीच-बीच मे खासी आ जाने के कारण उसे रुक जाना पडता था। इसी समय फटे-पुराने कपडे पहने सफेद बालोवाला एक बूढा हाथ हिलाता हुआ बीच गली मे आ निकला। वह ढलाव की ओर उतर रहा था। उसके एक हाथ मे कुछ रोटिया और कुरकुरे बिस्कुट थे और उसे देखकर ऐसा लगता था कि वह अभी-अभी वॉडका* का एक गिलास चढाकर आया है। उसने बुढिया को गालिया देते हुए सुन लिया था। उसका पक्ष लेता हुआ चिल्लाकर बोला—'ठहरो तो, शैतान के बच्चो !

---

* एक तरह की रूसी शराब, जो अधिकत एक प्रकार की घास से और कभी-कभी आलू से भी चुआई जाती है।

अभी तुम्हारी खबर लेता हू ।" इस प्रकार बच्चो को धमकाकर उसने उनके पीछे दौडने का स्वाग रचा और फिर मेरे पास आकर वह पटरी पर चढ गया । यही बूढा अगर किसी प्रमुख सडक पर मिलता तो लोग उसके बुढापे, उसकी दुर्बलता और उसकी कगाली के रूप पर आकृष्ट हुए बिना न रहते, किंतु यहा वह शाम को काम समाप्त कर घर लौटनेवाले एक हसमुख मजदूर-जैसा लग रहा था ।

मै बूढे के पीछे हो लिया। वह नुक्कड पर से बाई ओर मुडकर प्रोतौखनी गली में घुसा और उस लम्बे मकान तथा उसके फाटक को पार करता हुआ एक सराय के भीतर जाकर अदृश्य हो गया ।

प्रोतौखनी गली की ओर इस मकान के दो फाटक और कई दरवाजे थे । इनमें सरायो के अलावा शराब, भोजन आदि कई चीजो की दूकानें थी । यही रज्हानोफ का किला था । इसकी इमारत, रहने के कमरे, आगन और आदमी सभी गदे, मटियाले और बदबूदार थे । मै जितने भी आदमियो से मिला उनमें से अधिकाश आधे नगे और फटे चीथडे पहने हुए थे। कुछ लोग धीरे-धीरे आ-जा रहे थे और कुछ एक दरवाजे से दूसरे दरवाजे मे भाग-दौड रहे थे । दो आदमी कुछ फटे-पुराने टुकडो का सौदा कर रहे थे ।

प्रोतौखनी गली और नदीवाले रास्ते से होकर मैने पूरी इमारत का चक्कर लगाया और लौटते समय मै एक दरवाजे पर रुक गया। अदर जाकर मै यह देखना चाहता था कि वहा क्या हो रहा है, किंतु ऐसा करते हुए मुझे झिझक मालूम हो रही थी। मै सोच रहा था कि अगर कोई पूछ बैठा कि क्या चाहते हो तो क्या उत्तर दूगा। फिर भी थोडी देर के सकोच के बाद मै अदर घुस ही गया। वहा पैर रखते ही बदबू से नाक सड गई। आगन बेहद गदा था। आगे बढकर जब मै एक कोने पर मुडा तो ऊपर बाई ओर लकडी की गैलरी में—पहले छज्जे * के तख्तो पर और फिर जीने की सीढियो पर—लोगो

---

* आगन मकान से घिरा हुआ था और उसमें भीतर की ओर चारो ओर लकडी का छज्जा था ।

के दौड़ने की धडधडाहट सुनाई दी। सबसे आगे उडे हुए गुलाबी रंग के कपडे पहने एक दुबली-पतली स्त्री भागी हुई आई। उसकी आस्तीनें चढी हुई थी और वह बिना मोजो के ही जूते पहने हुए थी। उसके पीछे-पीछे एक मोटे बालोवाला आदमी आया। वह लाल कमीज और बहुत ही चौडा पाजामा पहने हुए था, जो लहगे-जैसा लगता था। उसके पैरो मे रबड के जूते थे। जीने के नीचे पहुचकर उसने औरत को पकड लिया और हसकर कहा—"तू मुझसे बचकर नही जा सकती।"

"जरा इस कजे की बात तो सुनो"—औरत बोली। साफ मालूम पडता था कि उस आदमी के पीछे-पीछे भागने से वह मन-ही-मन में अहकार का अनुभव करती हुई इतरा रही थी। इतने मे ही उसकी दृष्टि मुझपर जो पडी तो आपे से बाहर होकर बोली—"क्या चाहते हो ?" मुझे वहा किसीसे कोई काम नहीं था, इसलिए मैं सकपका गया और वहां से चला आया।

यह घटना स्वय तो कुछ विशेष महत्व की नही थी, किंतु बाहर सडक पर मैं जो-कुछ देख चुका था—वह गाली देती हुई बुढिया, वह हंसमुख बूढा, वे बर्फ पर फिसलते हुए लडके—इन सबका ज्ञान प्राप्त होने के बाद सहसा इस नई घटना ने मेरे सामने मेरे काम का एक नया पहलू उपस्थित कर दिया। मैं चला था अमीरो की सहायता से इन गरीबो को लाभ पहुचाने; किंतु उस दिन मैंने वहा पहली बार अनुभव किया कि जिन अभागो का मैं उपकार करना चाहता हू उनका सारा समय भूख और सरदी को झेलने और रैन-बसेरे की प्रतीक्षा मे ही व्यतीत नही हो जाता, बल्कि उनके पास और कामो के लिए भी समय रहता है। तन और पेट की चिंता करने के बाद इनके पास भी दिन के शेष घटे बचते हैं और इनके सामने भी एक पूरा जीवन है जिसके सम्बंध मे मैंने पहले कभी विचार नही किया था। वहा मैंने पहली बार अनुभव किया कि इन्हे केवल भोजन और शरण की ही आवश्यकता पूरी नही करनी पडती; बल्कि हमारी ही तरह इन्हे भी हर दिन जीवन के चौबीस घटे काटने पडते हैं। मैंने अनुभव किया कि हमारी ही तरह इन्हे भी क्रोध आता होगा, हमारी ही तरह ये भी

मुस्त रहते होगे और हमारी ही तरह इन्हे भी साहसी बनने, रज करने और खुशिया मनाने की आवश्यकता पडती होगी। बात कुछ अजीब-सी तो है, किंतु मै सच कहता हू कि मुझे पहली बार यह ठीक-ठीक समझ मे आया कि मैंने जो काम हाथ में लिया है उसकी पूर्ति का एकमात्र मार्ग यह नही है कि जिस तरह हजार-दो-हजार भेडो को खिला-पिलाकर बाडे में बद कर दिया जाता है उसी तरह हजार-दो-हजार नगो-भूखो को भी खाना-कपडा दे दिया जाय, बल्कि उसकी पूर्ति के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इन नंगो-भूखो की कुछ भलाई भी की जाय। और जब मेरी समझ में यह आया कि इनमे प्रत्येक व्यक्ति एक मानव है और मानव की ही तरह उसका इतिहास भी है, उसके हृदय मे भी मेरे ही समान आशाए और आकाक्षाए तरगित होती है, वह भी मेरे ही समान प्रलोभनो और भूलो का शिकार बनता है, उसके मस्तिष्क में भी मेरे ही समान विचार और प्रश्न उठते है, साराश यह है कि वह भी मेरे ही समान एक मनुष्य है, तब एकाएक मुझे मालूम पडा कि जिस काम का बीडा मैंने उठाया है वह बडा ही कठिन है और उसे पूरा करने मे मै नितात असमर्थ हू। किंतु अब तो काम चल पडा था और मै उसमें लगा ही रहा।

: ५ :

दरिद्रों के दुर्ग में

मर्दुमशुमारी करनेवाले विद्यार्थियो ने निश्चित तिथि पर अपना काम सवेरे से ही आरम्भ कर दिया, किंतु मै, जो अपने को परोपकारी समझता था, दोपहर से पहले उनके साथ न लग सका। इसका कारण यह था कि दस बजे तो मै सोकर उठा, उसके बाद मैंने कॉफी ली और फिर हाजमा ठीक करने के लिए सिगरेट भी। रज्हानोफ-भवन के फाटक पर पहुचते-पहुचते १२ बज गए। एक पुलिसवाले ने

मुझे नदीवाली गली की सराय मे पहुचा दिया। विद्यार्थियो ने उससे कह रखा था कि अगर कोई हमे पूछने आए तो उसे सराय मे पहुंचा देना।

मै सराय के अदर गया। वह अन्धकारपूर्ण, बदबूदार ओर गदी थी। ठीक मेरे सामने शराबखाना था। उसमे बाई ओर एक छोटा कमरा था, जिसमें मैले मेजपोशो से ढकी हुई मेजे पडी थी। दाहिनी ओर खम्भोवाला एक बडा कमरा था। उसमे भी खिडकी के पास और दीवारो से मिली हुई वैसी ही मेजे लगी थी। कुछ लोग इधर-उधर बैठे चाय पी रहे थे। इनमे से कुछ ने फटे-पुराने कपडे पहन रखे थे और कुछ की पोशाक अच्छी थी। वे मजदूर या छोटे दूकानदार मालूम पडते थे। साथ ही कुछ स्त्रिया भी बैठी चाय पी रही थी। सराय बहुत गदी थी; लेकिन यह देखते ही पता चल जाता था कि व्यापार अच्छा चल रहा है। सरायवाले की मुद्रा से व्यवहार-कुशलता टपक रही थी और बैरे बडी तत्परता और ध्यान से काम कर रहे थे।

मेरे भीतर घुसते ही एक बैरा मेरे पास आया। वह मुझे ओवरकोट उतारने मे सहायता करने और मेरे आदेशानुसार सामान लाकर देने के लिए बिलकुल तैयार था, जिससे साफ-साफ पता चलता था कि उस सराय के बैरे मुस्तैदी से काम करने के आदी हो चुके है। जब मैने पूछा कि मर्दुमशुमारीवाले कहा है तो जर्मन फैशन के कपडे पहने हुए एक नाटे आदमी ने, जो दूकान की एक अलमारी में कुछ सजा रहा था, नौकर को आवाज दी। वह सराय का मालिक था। उसका नाम ईवान फिदोतिश था और वह कालूगा का एक किसान था। उसने ज़ीमिन के आधे मकान को पट्टे पर लेकर कमरो को कियायेदारो को उठा रखा था। उसकी आवाज सुनते ही अट्ठारह वर्ष का एक दुबला-पतला, तोते-जैसी नाकवाला पीले रग का नौकर दौडा हुआ आया। उसके आते ही नाटे आदमी ने कहा—"वान्या, इन साहब को मर्दुमशुमारीवालो के पास ले जाओ। वे लोग कुए के ऊपरवाले बडे मकान मे है, जल्दी जाओ।"

लडके ने अपना तौलिया उतारकर रख दिया और अपनी सफेद कमीज तथा सफेद पतलून* पर ओवरकोट डाट लिया। इसके अलावा उसने ऊची वाढ की एक टोपी भी पहन ली और जल्दी-जल्दी पैर बढाता हुआ वह मुझे पिछले दरवाजे से ले गया, जो अपने-आप वद हो जाता था। वहाके चिकनाई और दुर्गन्ध से परिपूर्ण रसोईघर के दालान में हमें एक बूढी औरत मिली, जो एक चीथडे में लपेटा हुआ लोमडी का वदबूदार मास बहुत सम्हालकर ले जा रही थी। दालान से हम लोग ढालू आगन में उतरे, जो चारो ओर से लकडी के मकान से घिरा हुआ था। इस मकान की नीचे की मजिल ईंट की थी। आगन में बहुत ही तेज वदबू थी, जो पाखाने में से आ रही थी। जब-जब मैं उधर से निकला मैंने पाखाने के चारो ओर लोगो की भीड ही देखी। सच पूछिए तो लोग पाखाने के भीतर जाकर निवृत्त नही होते थे। पाखाना तो एक ऐसे स्थान का सकेत मात्र था जिसके चारो तरफ बैठकर निपटने का लोगो में प्रथा-सी पड गई थी। आगन से होकर जाते समय उस ओर वरवस ध्यान खिच जाता था, क्योकि उधर से आनेवाली दुर्गन्ध से परिपूर्ण तीखे वातावरण में जाते ही दम घुटने लगता था।

वान्या अपनी सफेद पतलून को बचाता हुआ मुझे सावधानी के साथ कूडे के ढेर के ऊपर से निकालता हुआ एक मकान में ले गया। आगन और गैलरियो मे आने-जानेवाले लोग रुककर मुझे देखने लगे। स्पष्टत उस हिस्से में साफ-सुथरे कपड़े पहने हुए किसी आदमी का आना वहाके लोगो के लिए एक आश्चर्य की वात थी।

लडके ने एक औरत से पूछा—"कुछ पता है कि मर्दुमशुमारी-वाले किधर है?" इसपर कई आदमी एकसाथ वोल उठे। कुछने कहा कि वे कुए पर है और कुछने बताया कि वे वहा थे तो, लेकिन अब आगे चले गए है। एक बूढे आदमी ने वताया कि वे ३० नम्वर

---

* जिस तरह की सराय की ऊपर चर्चा की गई है उसके वैरे सदा रूसी ढग के सफेद सूती कोट और पतलून पहने रहते है।

के मकान मे है। वह आदमी केवल एक कमीज पहने हुए था और पाखाने के पास खड़ा हुआ अपने कपडे ठीक कर रहा था। वान्या को उसकी बात सबसे सही मालूम पडी और वह निचली मजिल के सायबान मे से होकर मुझे ३० नम्बर के मकान की ओर अधेरे में ले चला, जहा एक दूसरी ही तरह की दुर्गन्ध आ रही थी। निचले खड पर उतरकर हम दोनो एक अधेरे कच्चे गलियारे मे से होकर चले। अभी हम उस गलियारे मे ही थे कि एकाएक एक दरवाजा खुला और उसमे से शराब के नशे मे झूमता हुआ एक बूढा निकला। उसने सिर्फ कमीज पहन रखी थी और देखने मे वह किसान नही मालूम पडता था। एक धोबिन आस्तीने चढाए साबुनभरे हाथो से उसे चिल्ला-चिल्लाकर बाहर ढकेल रही थी। मेरे पथप्रदर्शक वान्या ने उसे एक ओर हटाकर डाटते हुए कहा—"अफसर होकर इस तरह उत्पात मचाना ठीक नही।"

अब हम ३० नम्बर के मकान पर पहुचे। वान्या ने दरवाजे को धक्का दिया तो वह तडाक से खुल गया और भीतर से साबुन की भाप, सडे हुए भोजन तथा तमाखू की बडी तेज गध आई। आगे गहन अधकार था। खिडकिया दूसरी ओर थी और इस ओर दाए-बाए लकडी के तख्तो का गलियारा था, जिसमे भिन्न-भिन्न कोणो पर छोटे-छोटे दरवाजे लगे हुए थे। ये दरवाजे जिन कमरो में खुलते थे वे सफेदी से पुते हुए लकडी के पतले तख्तो से घेरकर बना दिये गए थे। बाई ओर के एक अधेरे कमरे मे एक औरत नाद मे कपडे धो रही थी। दाहिनी ओर के एक छोटे दरवाजे से एक औरत झाक रही थी। एक दूसरे खुले द्वार के भीतर घने बालोवाला एक लाल मुह का किसान दिखाई दिया। वह चटाई के जूते पहने दीवार से लगे हुए एक तख्ते पर बैठा था। यही तख्ता उसके लिए पलग का भी काम देता था। वह अपने दोनो हाथ घुटनो पर रखे हुए था और पैरो को हिलाता हुआ, उदास आखो से चटाई के जूतो को निहार रहा था।

गलियारे के अत मे एक छोटा-सा दरवाजा था। जिस कमरे मे यह दरवाजा खुलता था उसीमे मर्दुमशुमारीवाले बैठे काम कर रहे थे।

यह कमरा ३० नम्बर के मकान की मालकिन का कमरा था। उसने सारा-का-सारा मकान ईवान फिडोतिश से किराए पर ले रखा था और उसके कमरो को स्थायी किरायेदारो को या ऐसे लोगो को उठा रखा था जो वहा रात को आकर सोते भर थे।

इसी छोटे-से कमरे में, राग के पत्तर से बनी हुई एक मूर्ति के नीचे एक विद्यार्थी मर्दुमशुमारी के कार्ड लिये बैठा था और कमीज और जाकट पहने हुए एक किसान से मजिस्ट्रेट की भाति प्रश्न पूछ रहा था। किसान गृह-स्वामिनी का मित्र था और उसकी ओर से विद्यार्थी के प्रश्नो का उत्तर दे रहा था। वह बूढी स्त्री भी वही बैठी थी ओर दो उत्सुक किरायेदार भी आ डटे थे। जब मैं कमरे मे घुसा तब वह ठसाठस भरा हुआ था और मैं मुश्किल से भिचभिचाकर मेज के पास तक पहुचा। विद्यार्थी ने मुझे नमस्कार किया और इसके बाद वह फिर प्रश्न पूछने मे लग गया। मैं भी अपने उद्देश्य को दृष्टि में रखकर वहा के रहनेवाले किरायेदारो का अध्ययन करने लगा और बीच-बीच मे उनसे आवश्यक पूछताछ भी करता रहा।

किंतु सयोगवश इस पहले मकान में मुझे एक भी ऐसा व्यक्ति नही मिला जिसपर मैं अपनी परोपकारिता बरसा सकता। यो तो अपने आलीशान मकान की तुलना मे मुझे वह घर दरिद्रतापूर्ण, छोटा और गदा प्रतीत हुआ, लेकिन उसकी मालकिन शहरी गरीबो की अपेक्षा अधिक सम्पन्न थी और गावो की गरीबी की तुलना में तो मैं यहा तक कह सकता हू कि वह शान के साथ रह रही थी। उसके पास परोवाला बिछौना, रूई की रजाई, एक समोवर, एक गरमकोट और चीनी के बर्तनो से भरी एक आलमारी थी। उसका मित्र भी देखने मे वैसा ही सुसम्पन्न मालूम होता था। उसके पास तो एक घडी और चेन भी थी।

किरायेदार निस्सदेह निर्धन थे, किंतु उनमे से किसीको भी तत्काल सहायता की आवश्यकता नही थी। केवल तीन आदमियो ने सहायता के लिए प्रार्थना की, एक तो नाद मे कपडे धोनेवाली स्त्री ने, जिसे उसके पति ने छोड दिया था और जिसे अपने बच्चो का पालन-पोषण करना पडता था; दूसरे, एक बुढिया विधवा ने जिसने बतलाया कि

उसे रोटी-पानी का कोई सहारा नही है और तीसरे, चटाई का जूता पहने हुए किसान ने जिसने बताया कि उस दिन उसे खाने को अन्न का एक दाना भी मयस्सर नही हुआ। किंतु पूछताछ करने पर पता चला कि इनमे से एक को भी सहायता की विशेष आवश्यकता नही थी और उनकी सहायता करने के लिए यह आवश्यक था कि उनके सम्बध में ठीक से जानकारी प्राप्त कर ली जाय।

जिस स्त्री का पति छोडकर चला गया था उसके बच्चो को जब मैंने बाल-आश्रम मे भरती करा देने का प्रस्ताव किया तब वह किंकर्त्तव्य-विमूढ-सी हो गई, उसने कुछ विचार किया और मुझे बहुत-बहुत धन्यवाद भी दिया; किंतु यह बात बिलकुल स्पष्ट थी कि वह इस प्रकार की सहायता नही चाहती थी और रुपए-पैसे की मदद ही उसे अधिक प्रिय हो सकती थी। उसकी बडी लडकी कपडे धोने मे उसका हाथ बटाया करती थी और छोटी लडकी बच्चे की देखभाल किया करती थी। हा, बुढिया ने अलबत्ता गिडगिडाकर अनाथालय मे भरती किये जाने की प्रार्थना की; परन्तु जब मैंने उसके रहने के कमरे को देखा तो मुझे पता चला कि वह सर्वथा दरिद्र नही है। उसके पास सामान से भरा हुआ एक छोटा-सा ट्रक था। इसके अलावा उसके पास टीन की टोटीवाली एक चायदानी, दो प्याले और कुछ मिठाई के डिब्बे थे जिनमे अब चाय और चीनी रखी थी। वह मोजे और दस्ताने बुना करती थी और एक दयालु महिला से उसे कुछ मासिक सहायता भी मिलती थी। जहा तक किसान का सवाल था, उसे खाने नही बल्कि पीने के लिए कुछ चाहिए था और इसमे सदेह नही कि उसे जो-कुछ दिया जाता वह कलाल की सदूकची मे ही पहुच जाता।

इस प्रकार मैंने देखा कि उस मकान मे एक भी ऐसा व्यक्ति नही था जिसे मैं रुपया देकर सुखी बना सकता था, यद्यपि मैंने कल्पना की थी कि वहा इस प्रकार के लोगो की बहुलता होगी। मुझे वहाके प्रत्येक व्यक्ति की निर्धनता सदिग्ध मालूम पडी।

मैंने बुढिया, बच्चोवाली स्त्री और किसान का नाम नोट कर लिया और निश्चय किया कि विशेष अभागो की सहायता कर लेने के बाद

(जिनकी मुझे उस मकान मे मिलने की आशा थी) इनके लिए कुछ-न-कुछ अवश्य करना होगा। मैंने यह भी निश्चय किया कि जो सहायता दी जाय उसका कोई निश्चित क्रम हो; अर्थात् पहले उन लोगो को सहायता दी जाय जो सबसे अधिक दुखी हैं और बाद मे उन लोगो को जिनके नाम मैंने नोट किये थे।

किन्तु मैं जहा-जहा भी गया वहा-वहा मैंने ऐसी ही स्थिति देखी। सब लोग एक ही प्रकार के थे—ऐसे लोग जिन्हे सहायता देने से पहले उनकी स्थिति का अधिक ध्यानपूर्वक अध्ययन करना आवश्यक था। मुझे एक भी ऐसा दुखिया नही मिला जिसे केवल आर्थिक सहायता देकर सुखी बनाया जा सकता था। यह स्वीकार करते हुए मुझे लज्जा आती है कि उन मकानो मे मैंने जिस प्रकार के पीडितो को देखने की आशा की थी वैसे लोगो को वहा न पाकर मुझे निराशा होने लगी। मैंने सोचा था कि मुझे वहा बिलकुल ही असाधारण व्यक्ति मिलेंगे; किंतु सारे मकानो में चक्कर लगा चुकने के बाद मुझे विश्वास हो गया कि वहा के रहनेवालो मे कोई विशेषता नही थी, वे भी वैसे ही थे जैसे हमारे आसपास के लोग होते हैं। हमारी ही तरह उनमें भी भले, बुरे, सुखी और दुखी सब तरह के लोग थे—कुछ ज्यादा और कुछ कम—और जो लोग दुखी थे वे बिलकुल वैसे ही दुखी थे जैसे हमारे बीच होते हैं। उनका दुख किन्ही बाहरी परिस्थितियो पर निर्भर नही था; बल्कि वे स्वय अपने दु ख का कारण थे और उनकी दुर्दशा को रुपयो से दूर करना असम्भव था।

: ६ :

तो यह सब भ्रम था !

इन मकानो में शहर की सबसे निम्न श्रेणी के लोग रहते थे, जिनकी सख्या मास्को मे शायद एक लाख से कुछ ऊपर होगी। ३० नम्बर के मकान में तो इस श्रेणी के सभी तरह के लोग थे—छोटे व्यापारी,

कारीगर, चमार, ब्रुश बनानेवाले, बढई, फर्नीचर बनानेवाले, मोची, दर्जी, लुहार, गाडीवान, स्वतत्र धधा करनेवाले, दूकान करनेवाली औरते, धोविने, पुराने कपडो का धधा करनेवाले, छोटे-छोटे महाजन, मजदूर, बिना कोई निश्चित पेशेवाले लोग, भिखारी और वेश्याए।

ल्यापिन अनाथालय के दरवाजे पर मैंने जिन लोगो को देखा था उन्हीमें से बहुत-से स्त्री-पुरुष इस मकान मे मौजूद थे; किंतु यहा वे मजदूरो मे घुलमिल गए थे। इसके अतिरिक्त पहले तो मैंने उन्हे उनकी दीनतम अवस्था में देखा था, जबकि उन्होने अपने पास की कौडी-कौडी खाने-पीने मे उडा दी थी और सरायो से निकाल दिये जाने के कारण वे नि शुल्क रात्रि-गृह मे प्रवेश पाने के लिए इस प्रकार नगे और ठिठुरते हुए प्रतीक्षा कर रहे थे जिस प्रकार कोई देवता के प्रसाद की करता है। उस समय उन्हे इस बात की आशा थी कि वे रात्रि-गृह से जेल भेज दिये जायगे और फिर पुलिस के पहरे मे अपने-अपने गांव वापस पहुचा दिये जायंगे। इसके विपरीत, यहा मैंने देखा कि वे बहुत-से मजदूरो के साथ हिलमिल कर रह रहे है और अपनी-अपनी कोठरी का किराया देने के लिए उन्होने किसी-न-किसी तरह चार-पाच कोपेक प्राप्त कर लिये है और शायद खाने-पीने के लिए उनकी जेब मे कुछ रूबल भी है।

बात तो कुछ अजीब-सी है, लेकिन मैं सच कहता हू कि ३० नम्बर के लोगो को देखकर मेरे मन मे वैसी भावना नही उठी जैसी ल्यापिन-अनाथालय मे उठी थी। इसके विपरीत, पहले चक्कर के बाद ही मुझे और मेरे साथ काम करनेवाले विद्यार्थियो को एक 'सुख की-सी' अनुभूति हुई। 'सुख की-सी' ही क्यो? ऐसा कहना तो गलत होगा। मैं समझता हू कि 'बहुत सुखकर' कहना ज्यादा सही होगा।

३० नम्बर के मकान मे रहनेवालो को देखकर मेरे मन पर जो पहली छाप पडी वह यह थी कि उनमे से अधिकाश श्रमजीवी है और उनका स्वभाव बहुत अच्छा है। अधिकतर लोग अपने-अपने काम मे लगे हुए थे—धोविने अपनी नादो पर, बढई अपनी बेचो पर और मोची अपने स्टूलो पर। तग कमरे लोगो से भरे हुए थे और उनमे

हंसी-खुशी और फुर्ती के साथ काम हो रहा था। मजदूरों के पास पसीने की, मोचियो के पास चमडे की और बढइयो के पास लकडी के छोल की दुर्गन्ध आ रही थी। रह-रहकर गाने की आवाज आती थी और नंगी बलवान् भुजाए तेजी व कुशलता के साथ खटाखट काम करती दिखाई देती थी। हम जहा भी गए लोगो ने हमारा प्रसन्नता और सहृदयता के साथ स्वागत किया। इतना ही नही, हमने देखा कि हमारे जाने के कारण जिन लोगो की दैनिक दिनचर्या में बाधा पडी उनमें मिथ्याडम्बर या रूखे-सूखे उत्तर देने की वह भावना उत्पन्न नही हुई जोकि अधिकाश धनी परिवारो में मर्दुमशुमारीवालो के आने पर हो जाती है। इसके विपरीत, इन लोगो ने हमारे प्रश्नो को कोई विशेष महत्व न देते हुए उचित रूप से उत्तर दिये। सच पूछिए तो उन्हे यह देखने मे बडा मजा आया कि मर्दुमशुमारी का फार्म किस तरह भरा जाता है, किस एक मनुष्य को दो के बराबर और किन दो मनुष्यो को एक के बराबर माना जाता है, इत्यादि।

बहुतो को हमने भोजन करते या चाय पीते पाया और जब हमने 'रोटी और नमक' या 'चाय और चीनी'* कहकर उन्हें नमस्कार किया तो प्राय सभीने यही उत्तर दिया—"आइये आप भी हमारा साथ दीजिए", और कुछने तो खिसककर हमारे बैठने के लिए जगह भी खाली कर दी। हम समझते थे कि यह मकान सिर्फ खानाबदोशो का डेरा होगा; लेकिन यहा हमें कितने ही ऐसे कमरे मिले जिनमें किराये-दार बहुत दिनो से रहते चले आ रहे थे। एक बढई अपने कारीगरो के साथ और एक मोची अपने सहकारियो के साथ यहा दस वर्ष से रह रहा था। मोची की कोठरी बडी गंदी थी और वह सामान तथा आदमियों से अटी पडी थी, फिर भी वहा जितने लोग काम कर रहे थे वे सबके सब खुश थे। उनमे से एक मजदूर से मैंने यह सोच-कर बातचीत की कि वह अपनी दुर्दशा का बखान करेगा और बतला-

---

* रूस में भोजन करते समय ग्रामीणो से ऐसे ही नमस्कार करने की प्रथा है।

यगा कि मालिक का कर्जदार होने के कारण उसे कैसी-कैसी मुसीबतें झेलनी पड रही है, किंतु मेरी बाते उसकी समझ मे नही आई और उसने अपने स्वामी तथा अपने जीवन दोनो के प्रति सतोष प्रकट किया।

एक कोठरी मे एक बूढा आदमी अपनी बूढी स्त्री के साथ रहता था। वे दोनो सेव बेचा करते थे। सामान से भरी रहने पर भी उनकी कोठरी गरम और साफ थी। फर्श पर पुआल के बोरे बिछे थे, जो वे सेव के थोक व्यापारियो के यहा से लाए थे। कोठरी मे ट्रक, आलमारिया, एक समोवर और चीनी के वर्तन थे। एक कोने में कितनी ही मूर्तिया थी जिनके ऊपर दो छोटे-छोटे लैम्प जल रहे थे। दीवार पर चादर मे लिपटे हुए गरम ओवरकोट लटक रहे थे। बुढिया के चेहरे पर तारे की शक्ल की झुर्रिया पडी हुई थी। वह सहृदय और बातून थी और अपने शात व्यवस्थित जीवन से सतुष्ट दिखलाई देती थी।

सराय और इन कोठरियो का मालिक ईवान फिदोतिश सराय से उठकर आया और हमारे साथ हो लिया। उसने कितने ही किरायेदारो के साथ विनोदपूर्वक बाते की, घनिष्ठता से उनका नाम लेकर पुकारा और हमको हरेक का सक्षिप्त जीवन-वृत्तान्त भी सुनाया। वे सब साधारण श्रेणी के लोग थे; पर अपने को अभागा न समझकर दूसरो के समान ही समझते थे और वस्तुत वे थे भी ऐसे ही।

हम लोग इस बात के लिए तैयार होकर आए थे कि यहां हमें केवल दयनीय और घृणित दृश्य दिखाई देंगे, किन्तु आशा के विपरीत कुछ ऐसी अच्छी चीजे देखने को मिली जिनके प्रति हमारे मन में अनायास ही आदर की भावना जागृत हो गई। भले आदमियो की सख्या यहा इतनी अधिक थी कि उनके बीच यहा-वहा जीर्ण-शीर्ण, पतित और काहिल व्यक्तियो के रहने पर भी हमारे हृदय पर वहा की स्थिति के सम्बंध में जो छाप लग चुकी थी वह मिट नही पाई।

इन बातो का जितना प्रभाव मुझपर पडा उतना विद्यार्थियो पर नही। वे तो वहा एक ऐसा कार्य करने आए थे जिसका उनकी दृष्टि मे वैज्ञानिक मूल्य था, वे तो बस बीच-बीच में योही चलते-फिरते कुछ टीका-टिप्पणी

कर लेते थे। परंतु एक परोपकारी होने के नाते मैं उन अभागे, मरणोन्मुख और पतित व्यक्तियों की सहायता करने आया था, जिनके वहां मिलने की मुझे आशा थी। लेकिन ऐसे लोगों की बजाय मुझे वहां अधिकतर शांत, संतुष्ट, प्रसन्न, सहृदय और अत्यन्त परिश्रमी लोग ही मिले।

इसका पूरा-पूरा अनुभव मुझे तब हुआ जब इन मकानों में मुझे सच-मुच ही कुछ ऐसे दीन-हीन लोग मिले जैसों की मैं सहायता करना चाहता था। किन्तु जब-जब मुझे ऐसे लोगों का पता लगा तभी-तभी यह भी मालूम हुआ कि इनकी आवश्यकताएं पहले ही पूर्ण की जा चुकी हैं और जो सहायता मैं देना चाहता हूं वह मेरे आने से पूर्व ही इन्हें प्राप्त हो चुकी है। जानते हैं, यह सहायता किसने दी थी ? उन्हीं अभागों और पतितों ने जिनका मैं उद्धार करने चला था। इतना ही नहीं ! यह सहायता उन्हें जितने अच्छे ढंग से दी गई थी, उतने अच्छे ढंग से मैं नहीं दे सकता था।

तहखाने की एक कोठरी में एक बूढ़ा टाइफस-ज्वर से पीड़ित अकेला पड़ा था। उसका अपना कोई सगा-सम्बंधी नहीं था। एक विधवा पड़ोसिन, जो उसी कोठरी के एक दूसरे कोने में रहती थी और जिसके एक छोटी-सी लड़की थी, उस वृद्ध से बिलकुल अपरिचित होती हुई भी उसकी देख-भाल कर रही थी। वह उसे अपने पास से चाय पिलाती और अपने ही पैसे से उसके लिए दवा लाती। एक दूसरे कमरे में एक स्त्री प्रसूति-ज्वर से पीड़ित थी और उसके बच्चे को वेश्यावृत्तिवाली एक शहरी स्त्री खिला रही थी। चीथड़े को लपेटकर उसने उसके लिए चुसनी तैयार कर ली थी और दो दिन से वह अपने पेशे पर नहीं गई थी। इसी तरह एक दर्जी ने, जिसके अपने तीन बच्चे थे, एक अनाथ लड़की को आश्रय दे रखा था।

अब रहे वहां के अभागे काहिल—जैसे कारकुन, नकलनवीस, बेकार चपरासी, भिखारी, शराबी, वेश्याएं और बालक। इन्हें तत्काल सहायता देना असम्भव था। यह आवश्यक था कि इनके विषय में पूरी पड़ताल की जाय और फिर इनकी स्थिति पर विचार कर इन्हें काम पर लगाया जाय। मैं ऐसे दीन-दुखियों की तलाश में था जिनकी दुर्दशा का

कारण दरिद्रता हो और जिन्हे हम अपने फालतू धन का कुछ अश देकर सहायता पहुचा सके; परन्तु दुर्भाग्यवश—मै तो इसे दुर्भाग्य ही समझता था—मुझे वहा एक भी ऐसा आदमी नही मिला। मुझे तो केवल ऐसे दुखिए मिले जिनके सम्बन्ध मे अधिक समय और सावधानी की आवश्यकता थी।

: ७ :

कुलीन कंगाल

जिन अभागो के नाम मैंने नोट किये थे वे मेरी समझ मे स्वभावत तीन श्रेणियो में बाटे जा सकते थे। पहली श्रेणी उन लोगो की थी जो अपनी अच्छी नोकरिया खो बैठे थे और उन्हे फिर से प्राप्त करने की प्रतीक्षा मे थे। इस श्रेणी मे उच्च और निम्न दोनो वर्गो के लोग थे। दूसरी श्रेणी वेश्याओ की थी जिनकी बहुलता थी और तीसरी श्रेणी बच्चो की थी। मुझे सबसे अधिक पहली श्रेणी के ही लोग मिले और उनके नाम मैंने अपनी नोटबुक मे लिख लिये। इस श्रेणी के लोग बहुत बडी सख्या मे थे। सरकारी कर्मचारी और सम्भ्रान्त घरानेवाले तो विशेष रूप से अधिक थे। ईवान फिशोतिश के साथ हम जिस-जिस कमरे मे गए, प्राय सभी जगह उसने हमसे यही कहा—"यहा आपको किराये-दारो की सूची स्वय नही भरनी पडेगी। यहा फला आदमी है जो यह काम कर सकता है, बशर्ते कि उसने आज पी न रखी हो।"

यह कहने के बाद ईवान फिशोतिश उस आदमी का नाम लेकर पुकारता और फिर मकान के किसी अधेरे कोने से अर्द्धनग्न अवस्था में और प्राय पिये हुए ही कोई ऐसा आदमी निकलता जो पहले या तो धनवान था या किसी अच्छे पद का सरकारी कर्मचारी। यदि वह पिये हुए न होता तो सहर्ष काम करने को तैयार हो जाता। अपनी महत्ता का अनुभव करते हुए वह गर्वपूर्वक सिर हिलाकर स्वीकृति की सूचना देता और भौहे सिकोडकर बातचीत में विद्वत्तापूर्ण शब्दो का प्रयोग करता। अपने कापते हुए गदे हाथो मे मर्दुमशुमारी के छपे हुए साफ लाल कार्ड को सावधानी

से पकडते हुए वह अपने साथ रहनेवालो की ओर गर्व और घृणा की दृष्टि से देखता, मानो जो लोग अक्सर उसका अनादर किया करते थे उनपर उसे अपनी उच्च शिक्षा के प्रताप से विजय मिल गई हो। यह साफ मालूम पडता था कि जिस दुनिया में लाल कार्ड छपते है और जिसमे पहले वह स्वय रह चुका था, उसके सम्पर्क मे आकर उसे बडी प्रसन्नता हुई है। जब कभी मैं उससे उसके जीवन के विषय में कोई प्रश्न पूछता तो वह केवल तत्परता नही बल्कि उत्साह के साथ अपनी विपदाओ की कथा सुनाने लगता, मानो वह कथा उसे भजन की तरह कठाग्र हो गई हो। विशेषरूप से वह अपने उस पूर्व पद का उल्लेख करता जो वह समझता था कि उसकी शिक्षा-सम्बधी योग्यता के कारण उसे ही मिलना चाहिए।

रज्हानोफ-भवन के कोने-कोने मे इसी तरह के लोग बहुत बडी सख्या में फैले पडे थे। एक खड तो पूरा-का-पूरा ऐसे ही स्त्री-पुरुषो से भरा हुआ था। जब हम वहा पहुचे तो ईवान फिद्रोतिश ने कहा—"देखिए, यहा कुलीन लोग रहते है।" वह खड बिलकुल भरा हुआ था और उस समय प्राय सभी किरायेदार, जिनकी सख्या लगभग चालीस के थी, अपने-अपने कमरे में ही थे। सारे रज्हानोफ भवन में इनसे अधिक पतित और दुखी और कोई नही था। बूढो के शरीर पर झुर्रिया पडी हुई थी और युवक रूखे तथा पीले दिखाई पडते थे। मैंने उनमे से कुछ लोगो से बातचीत की। सबकी लगभग एक-सी कहानी थी। अतर केवल विकास-क्रम मे था, अर्थात किसीकी कहानी बहुत आगे बढ चुकी थी और किसीकी अभी आरम्भ ही हुई थी।

ये सब-के-सब या तो कभी स्वय धनवान थे या इनके बाप, भाई, चाचा, ताऊ पर कभी लक्ष्मी की कृपा थी। इसी तरह कभी या तो ये स्वय या इनके पिता किसी अच्छे पद पर प्रतिष्ठित थे। बाद में ये किसी ईर्ष्यालु व्यक्ति, या अपने ही अदूरदर्शितापूर्ण सरल स्वभाव, या किसी आकस्मिक घटना के कारण विपत्ति में फस गए और अब सर्वस्व गवा चुकने पर इन्हें इस प्रकार अनुपयुक्त तथा घृणास्पद वातावरण मे शराबियो और दुराचारियो के बीच गदे चीथडे पहनकर रहना पड रहा था। इतना ही नही, इन्हें बैल के मास और रोटी से पेट पालकर भिक्षा के लिए भी हाथ

फैलाना पडता था। इन लोगो की सारी भावनाए, सारी इच्छाए, सारी स्मृतिया अतीत मे ही निहित थी। वर्त्तमान इन्हे अस्वाभाविक, घृणास्पद और उपेक्षणीय मालम होता था। सच पूछिए तो इनका कोई वर्त्तमान था ही नही। इनके पास थी केवल अतीत की स्मृतिया और भविष्य की आशाए, जो उनकी समझ मे किसी समय भी पूर्ण हो सकती थी और जिनकी पूर्त्ति के लिए वहुत ही कम प्रयास की आवश्यकता थी। किन्तु यह अल्प प्रयास भी उनकी क्षमता से वाहर था, इसलिए उनका जीवन व्यर्थ ही नष्ट हो रहा था। इस दुर्दशा मे रहते-रहते किसीको एक, किसीको पाच ओर किसीको तीस वर्ष हो गए थे। उनमे से किसी एक की तो धारणा यह थी कि उसे वस अच्छी पोशाक भर की कमी है, वह अगर मिल जाय तो उसे पहनकर वह एक ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति से मिलने चला जाय जो उसपर कृपा करने के लिए तैयार था। किसी दूसरे को केवल इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती थी कि उसे पहनने को कपडे मिल जाय और वह अपना थोडा वहुत कर्ज उतारकर ओरेल नगर चला जाय। इसी तरह कोई तीसरा केवल यह चाहता था कि उसकी गिरवी रखी हुई चीजे छूट जाय और उसे थोडे से रुपए मिल जाय ताकि उनकी सहायता से वह अपना वह मुकदमा लड़ सके जिसमे उसकी जीत निश्चित थी और जिसके वाद उसकी स्थिति फिर अच्छी हो सकती थी। सव यही कहते थे कि यदि उन्हे थोडी-सी वाहरी सहायता मिल जाय तो वे उस स्थिति को पुन' प्राप्त कर लेगे जिसे वे अपने लिए स्वाभाविक और सुखकर समझते थे।

यदि दानवीरता के मद ने मेरी आखो पर परदा न डाल दिया होता तो मै इन साधारणत दुर्बल और विलासी किन्तु अच्छे स्वाभाववाले वृद्धो और तरुणो के मुखो की ओर थोड़ा-सा देखकर ही समझ जाता कि इनकी दुर्दशा वाहरी युक्तियो द्वारा दूर नही की जा सकती और जबतक इनके जीवन-सम्वधी विचारो मे परिवर्त्तन नही किया जायगा तवतक ये किसी अवस्था मे भी सुखी नही रह सकेगे। साथ-ही-साथ मै यह भी समझ जाता कि दुर्भाग्य का पहाड विशेष रूप से इन्हीके ऊपर नही टूटा है, वल्कि ये भी वैसे ही व्यक्ति है जैसे हमारे चारो तरफ रहते है या जैसे हम स्वय है।

मुझे याद है कि इस प्रकार के दुखियो के संसर्ग में आना मुझे विशेष रूप से कष्टकर मालूम होता था और अब मैं समझ गया हू कि ऐसा क्यो होता था। शीशे की तरह उनके अदर मुझे अपना ही रूप दिखाई देता था। यदि मैंने स्वय अपने और अपनी श्रेणी के लोगो के जीवन पर विचार किया होता तो मुझे पता चल जाता कि हममें और इनमें कोई तात्विक अन्तर नही है।

आज यदि मेरे आसपास के लोग रज्हानोफ-भवन मे न रहकर अच्छी-से-अच्छी सडको पर बडे-बडे कमरो और मकानो मे रहते है और यदि वे साधारण मास-रोटी के बदले स्वादिष्ट भोजन और पान करते है तो इसका यह अर्थ नही कि वे अभागे नही है। वे लोग भी अपनी स्थिति से असतुष्ट है, वे लोग भी अतीत के लिए आसू बहाते है और सुन्दर भविष्य का सपना देखते है। अपने लिए वे भी वैसे ही उत्तमतर पद चाहते है जैसे रज्हानोफ-भवन के निवासी चाहते है, अर्थात वे भी ऐसा ही पद चाहते है जिसपर रहकर उन्हे स्वय तो कम काम करना पडे और दूसरो से वे अपने लिए अधिक काम करा सके। भेद केवल मात्रा का है।

यदि मैंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया होता तो यह बात मेरी समझ मे उसी समय आ गई होती, किन्तु ऐसा करने के बजाय मैंने उन दुखियो से केवल प्रश्न पूछे और उनके नाम नोट कर लिये, ताकि उनकी स्थिति और आवश्यकताओ का पूरा पता लगाकर बाद में मै उनकी सहायता कर सकू। उस समय यह बात मेरी समझ मे नही आई कि ऐसे लोगो की सहायता केवल उनके जीवन-सम्बधी दृष्टिकोण में परिवर्तन करके ही की जा सकती है और किसी दूसरे के जीवन-सम्बधी दृष्टिकोण को बदलने के लिए यह आवश्यक है कि स्वय हमारे जीवन का दृष्टिकोण उनकी अपेक्षा ऊचा हो और उसी दृष्टिकोण के अनुसार हम जीवन-निर्वाह भी करे। किन्तु मैंने देखा कि जिस दृष्टिकोण को सामने रखकर मैं जीवन-यापन कर रहा था, स्वय उसमे ही परिवर्तन की आवश्यकता थी और उसे बदलने के बाद ही दूसरो को उनके दुर्भाग्य से मुक्त किया जा सकता था।

यदि मैं लाक्षणिक भाषा का प्रयोग करू तो कह सकता हू कि उस समय मुझे यह पता नही चला कि जिन अभागो को मैंने देखा था

उनके दुःख का कारण यह नही है कि उन्हें पौष्टिक भोजन नही मिलता, बल्कि यह कि उनकी पाचन-शक्ति मे विकार उत्पन्न हो गया है और वे जिस भोजन की माग कर रहे है वह पुष्टिकर नही, बल्कि केवल भूख को उत्तेजित करनेवाला है। मेरी समझ मे यह बात नही आई कि उनको भोजन की नही, बल्कि पाचन-विकार को दूर करनेवाली ओषधि की आवश्यकता है। वैसे तो यह बात आगे आयगी, फिर भी यहा इतना तो बता ही दू कि मैने जितने भी लोगो के नाम लिखे थे उनमे से एकको भी मैने वास्तविक सहायता नही की, हालाकि उन लोगो ने जो-कुछ मागा—और जिसके मिल जाने से ऐसा लगता था कि वे स्वय अपने पैरो पर खडे हो जायगे—वह उनमे से कुछको मिल गया। इनमे से तीन को मै विशेष रूप से अच्छी तरह जानता हू। बार-बार सहायता देने पर भी इन तीनो की आज वही दशा है जो तीन वर्ष पहले थी।

: ८ :

बेचारी वेश्याएं

अभागो की दूसरी श्रेणी मे वेश्याए थी। मुझे आशा थी कि बाद में मै इनकी भी सहायता कर सकूगा। रज्हानोफ-भवन मे इनकी भरमार थी और ये हर तरह की थी—युवावस्था में ही प्रौढा-सी दिखाई देनेवाली लडकियो से लेकर उन भयकर कुरूपा बुढियो तक जिनमें मनुष्य होने का कोई लक्षण ही शेष नही रह गया था। पहले इनकी ओर मैंने ध्यान नही दिया था, किनु निम्नलिखित घटना ने मेरे हृदय मे यह आशा उत्पन्न कर दी कि कदाचित् मैं इनकी कुछ सहायता कर सकू।

यह घटना रज्हानोफ-भवन का चक्कर लगाते समय घटी। उस समय तक हम अपने काम की एक नियमित योजना बना चुके थे।

हर नए मकान मे घुसते ही हम पहले उसके मालिक के बारे मे पूछते थे। इसके बाद हममें से एक आदमी लिखने के लिए जगह

साफ कर बैठ जाता था और दूसरा आदमी मकान के एक कोने से दूसरे कोने तक जाकर प्रत्येक व्यक्ति से अलग-अलग प्रश्न पूछता था और फिर आकर सारी बातें लेखक को बता देता था।

इस तरह काम करते हुए जब हम सबसे नीचे के खड के एक कमरे में पहुचे तब एक विद्यार्थी मालिक का पता लगाने चला गया और मै उस कमरे के रहनेवालो से बातचीत करने लगा। वहा रहने की व्यवस्था इस प्रकार की गई थी—उस चौदह वर्गफुट चौकोर कमरे के बीचोबीच एक ईंट की अगीठी बनी हुई थी। इस अगीठी के पास से चार परदे एक सितारे के रूप में खिचे हुए थे, जिनसे कमरे के चार अलग-अलग खड बन गए थे। पहले खड में से रास्ता था। उसमें चार खाटें पडी थी और वहा एक बूढा एक औरत के साथ बैठा था। वहा से एक लम्बा-सा खड सीधा चला गया था, जिसमे मकान-मालिक रहता था। यह मकान-मालिक एक नवयुवक था, जिसका रग बहुत पीला पड गया था और जिसने एक सम्भ्रात पुरुप की भाति भूरे रग का कोट पहन रखा था। पहले खड की बाई ओर एक और खड था, जिसमे एक आदमी सोया हुआ था (शायद वह पिये हुए था)। उसके पास ही एक औरत बैठी हुई थी, जिसकी गुलाबी रग की ब्लाउज आगे से ढीली और पीछे से कसी हुई थी। चौथा खड परदे के पीछे था और उसका रास्ता मकान-मालिक के खड से होकर था।

विद्यार्थी मकान-मालिक के खड में चला गया और मै पहले में रुककर बूढे आदमी और स्त्री से बातें करने लगा। बूढा पहले छपाई का काम करता था; लेकिन अब उसके पास पेट पालने का कोई साधन नही रह गया था। स्त्री किसी बावर्ची की पत्नी थी।

तीसरे खड में जाकर मैंने ब्लाउज पहने हुए औरत से सोनेवाले आदमी के बारे में पूछा। उसने बतलाया कि यह एक आगतुक है। इसपर मैंने उससे सवाल किया—"तुम कौन हो ?"

"मै मास्को की रहनेवाली एक किसान स्त्री हू," उत्तर मिला।

"तुम्हारा पेशा क्या है ?" मैंने फिर पूछा।

इसपर वह हस दी और बोली नही। यह सोचकर कि शायद वह मेरा सवाल समझी नही, मैंने फिर प्रश्न किया—"तुम्हारा गुजारा किस तरह होता है ?"

"मै सराय मे बैठती हू," वह बोली।

मै उसकी बात नही समझा और बोला—"तुम्हारी रोटी का क्या सहारा है ?"

वह फिर कोई उत्तर दिये बिना ही हँस दी। चौथे खड से भी, जहा हम अभी तक नही गए थे, औरतो के हसने की आवाज आई।

मकान-मालिक अपनी कोठरी से बाहर आकर हमारे पास खडा हो गया। स्पष्टत. उसने मेरे प्रश्न और स्त्री के उत्तर सुन लिये थे। उसने स्त्री की ओर घूरकर देखा और फिर मुझे सम्बोधित करते हुए कहा—"यह वेश्या है।" साफ मालूम पडता था कि मन-ही-मन उसे इस बात की खुशी हो रही थी कि वह सरकारी कर्मचारियो द्वारा प्रयोग में लाए जानेवाले 'वेश्या' शब्द को जानता है और उसका ठीक से उच्चारण भी कर सकता है। इस बात को कहते-कहते उसके होठो पर अभिमानपूर्ण सतोष की एक अदृश्य-सी मुसकान खेल गई। इसके बाद वह उस स्त्री की ओर घूमा और जैसे ही उसने उससे बोलना आरम्भ किया उसके सारे मुख की मुद्रा बदल गई। एक विचित्र घृणासूचक स्वर मे—जैसे कोई कुत्ते को दुतकारता है—वह उस स्त्री की ओर बिना देखे ही जल्दी-जल्दी बोला—"सराय में बैठती हू! अरी, अगर सराय मे बैठती है तो साफ-साफ कहती क्यो नही कि वेश्या है ?" उसने इस शब्द का एक बार फिर प्रयोग किया और मुझसे कहा—"देखिए न, इसे यही पता नही कि अपने को क्या कहे।"

उसकी बातचीत के ढग पर मुझे बडा क्रोध आया और मैं बोला—"इसे लज्जित करने का हमे कोई अधिकार नही। अगर हम सब सदाचार के साथ जीवन बितावे तो कोई वेश्या हो ही नही।"

"हां, इसका यही उपाय है"—मकान-मालिक ने कृत्रिम हसी हसते हुए कहा।

"हमारा काम इन्हें धिक्कारना नहीं, बल्कि इनपर दया करना है। इसमें इनका क्या अपराध ?"

मुझे याद नहीं कि उस समय मैंने क्या-क्या कह डाला; किन्तु इतना जानता हूं कि स्त्रियों से भरे हुए उस मकान के नवयुवक मालिक के प्रति, उन स्त्रियों को वेश्या कहकर घृणासूचक स्वर में बातचीत करने के कारण, मेरे मन में विद्रोह की आग भड़क उठी और उन स्त्रियों के लिए मुझे बड़ी ग्लानि हुई। अपनी यह भावना मैंने वहीं व्यक्त भी कर दी और अभी मेरी बात पूरी भी नहीं हो पाई थी कि जिस खंड से पहले हंसी की आवाज आई थी वहां चारपाई का काम देनेवाले तख्तों की चरचराहट सुनाई दी और परदे के ऊपर (जो छत तक ऊंचा नहीं था) चमकते हुए लाल चेहरेवाली एक स्त्री के बिखरे हुए घुंघराले बाल और सूजी हुई छोटी-छोटी आंखें दिखाई दीं। उसके क्षण भर बाद ही एक दूसरी और फिर तीसरी स्त्री का सिर दिखाई पड़ा। साफ मालूम पड़ता था कि तीनों जनी अपनी चारपाइयों पर खड़ी हो गई हैं और गर्दन उचकाए चुपचाप सांस रोक-कर हमारी ओर ध्यानपूर्वक देख रही हैं।

कुछ देर के लिए गहरा सन्नाटा छाया रहा। विद्यार्थी, जो अबतक मुसकरा रहा था, गम्भीर हो गया। मकान-मालिक ने लज्जित होकर आंखें नीची कर लीं और औरतें सांस खींचे मेरा मुंह ताकती रहीं। मुझे अपने तईं उनसे भी अधिक लज्जा मालूम हुई। मैंने यह रत्ती भर भी आशा नहीं की थी कि मेरी साधारण-सी बात का उनपर इतना प्रभाव पड़ेगा। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे किसी देवात्मा के स्पर्श से श्मशान में बिखरी हुई हड्डियों में चेतना आ गई हो और वे हिलने-डुलने लगी हों। मेरे मुंह से तो ऐसे ही संयोगवश प्रेम और सहानुभूति का एक शब्द निकल गया था किन्तु उनपर उसका ऐसा प्रभाव पड़ा मानों उनके मृत शरीर पुनर्जीवित होने के लिए उसी शब्द की प्रतीक्षा कर रहे थे। वे मेरी ओर उत्कंठाभरे नेत्रों से देख रही थीं और इस सोच में थीं कि आगे क्या होगा! ऐसा लगता था जैसे वे इस प्रतीक्षा मे हो कि मैं वे शब्द कहूं और वे काम करूं जिनसे मरी हुई हड्डियां फिर से एक-दूसरे से

जुड जाय उनपर मास चढ आय और वे पुन जीवित हो उठें। परतु मैंने अनुभव किया कि जो वात मै आरम्भ कर चुका था उसे आगे बढाने के लिए मेरे पास न कोई शब्द था न कोई काम। मेरी अतरात्मा ने कहा कि मैंने झूठ वोला है, मै स्वय इन्ही लोगो के समान हू और मेरे पास कुछ और कहने को नही है। अत मै कार्डो पर वहा रहनेवालो के नाम और उनके पेशे लिखने लगा।

इस घटना ने मुझसे एक और नई गलती कराई। मै यह मान बैठा कि इन अभागो की भी सहायता करना सम्भव है। आत्म-भ्राति के कारण उस समय मुझे ऐसा लगा कि यह कार्य बडी सरलता के साथ सम्पन्न हो जायगा। मैंने मन-ही-मन मे कहा—"हम इन स्त्रियो के भी नाम लिख ले और वाद मे जब सबके नाम लिखे जा चुके तब हम इनकी ओर ध्यान दे।" उस समय मैंने यह नही सोचा कि 'हम' शब्द से मेरा क्या मतलव है और उसमे कोन-कौन शामिल है। मैंने सोचा कि हम—वे ही हम, जो कई पीढियो से इन स्त्रियो को कुमार्ग पर ढकेलते आए है और अव भी ढकेल रहे है—एक दिन अचानक इस भूल को सुधारने का बीडा उठा सकेंगे, किंतु यदि उस समय मैंने केवल उस बातचीत को याद भर कर ली होती जो मैंने बीमार स्त्री के बच्चे को खेलानेवाली वेश्या से की थी तो मेरी समझ मे आ जाता कि इस काम को हाथ मे लेना कितना मूर्खतापूर्ण था!

उस वेश्या को वच्चा खेलाते देखकर हम समझते थे कि वच्चा उसीका है। हमारे यह पूछने पर कि तुम कौन हो उसने सहज भाव से वता दिया—"मै एक कुलटा हूं।" उसने 'वेश्या' शब्द नही कहा। इस भयकर शब्द का प्रयोग तो केवल उस मकान-मालिक ने किया था।

यह मानकर कि यह वेश्या वच्चेवाली है, मेरे मन मे उसे पंक से निकालने का विचार आया और मैंने उससे पूछा—

"क्या यह वच्चा तुम्हारा है ?

"नही, यह इस औरत का है।"

"तो फिर तुम इसे क्यो खेला रही हो ?"

"उसने मुझसे कहा है। वह मर रही है।"

अपनी मान्यता के अशुद्ध सिद्ध होने पर भी मैं उस स्त्री से उसी दृष्टिकोण से बात करता रहा। मैंने उससे पूछा—"तू कौन है और इस स्थिति में कैसे फस गई ?" उसने सहज भाव से सहर्ष अपनी सारी कहानी कह सुनाई। उसका जन्म मास्को मे हुआ था और वह एक फैक्टरी के मजदूर की लडकी थी। जब उसके मा-बाप उसको अनाथ छोडकर मर गए तो उसकी चाची ने (जिसका अब देहात हो गया था) उसे पाला-पोसा। अपनी इसी चाची के पास रहते हुए उसने सरायो में जाना शुरू किया। जब मैंने उससे पूछा कि क्या तुम अपना यह जीवन बदलना पसद करोगी तो स्पष्टत उसे मेरे इस प्रश्न मे दिलचस्पी तक नही हुई। एक सर्वथा असम्भव प्रस्ताव भला किसीको कैसे आकर्षित कर सकता था ? उसने मुह बनाकर कहा—"लेकिन इस पीले टिकट-वाली* को रखेगा कौन ?"

"मान लो कि हम तुम्हे कही रसोई बनाने का काम दिलवा दे", मैंने प्रस्ताव किया। यह विचार मेरे मन में इसलिए उठा कि रसोई-दारिनो की तरह वह भी सन-जैसे बालोवाली एक तकडी औरत थी और उसके गोल-मटोल चेहरे पर सहृदयता झलकती थी। मेरी बात उसे पसद नही आई और वह बोली—"रसोई बनाने का काम ! लेकिन मैं रोटी सेंकना तो जानती ही नही।" यह कहकर वह हसने लगी। उसकी दलील तो यही थी कि वह रसोईदारिन बन नही सकती, किन्तु मैं उसकी मुखाकृति को देखकर समझ गया कि वह रसोईदारिन बनना चाहती नही और इस काम और पेशे को घृणा की दृष्टि से देखती है।

यह स्त्री, जिसने बाइबिल मे उल्लिखित विधवा की भाति अपने बीमार पडोसी की सेवा में अपना सर्वस्व लगा दिया था, अपने पेशेवाली अन्य स्त्रियो की भाति मेहनत-मजदूरी के काम को हीन और घृणित समझती थी। उसका तो लालन-पालन ही इस ढग से हुआ था कि उसे अपने जीवन में मेहनत-मजदूरी न करनी पडे और उसका यह जीवन

---

* रूस में वेश्याओ की रजिस्ट्री करके उन्हे पीला टिकट दिया जाता था।

उसके पासवालो की दृष्टि में बिलकुल स्वाभाविक था। वस्तुत. यही उसका दुर्भाग्य था और इसी दुर्भाग्य के कारण उसकी यह दुर्दशा हुई थी और अब भी वह उसीमें पडी हुई थी। इसीके कारण वह सरायो मे बैठी और अब हममे ऐसा कौन पुरुष या स्त्री है जो उसके जीवन-सम्वधी इस मिथ्या दृष्टिकोण को वदल सके? हममे ऐसे लोग है ही कहा जिन्हें इस बात का पक्का विश्वास हो कि आलस्यपूर्ण जीवन की अपेक्षा परिश्रमी जीवन सदा ही सम्मानीय है, जो अपने इस विश्वास के अनुसार ही जीवन-यापन करते हो और जो इसी कसौटी पर दूसरो का आदर तथा मूल्याकन करते हो? यदि मैंने इस प्रश्न पर विचार किया होता तो मेरी समझ में आ गया होता कि न तो मै और न मेरी जान-पहचानवाला कोई दूसरा आदमी ही इस रोग को दूर करने मे समर्थ है।

मुझे यह बात समझ लेनी चाहिए थी कि परदे के ऊपर से झाकने-वाली वे आश्चर्यचकित और ध्यानावस्थित आखे अपने लिए सहानुभूति के शब्द सुनकर केवल विस्मय व्यक्त कर रही थी और निश्चय ही उनमें व्यभिचारपूर्ण जीवन से मुक्त किये जाने की आशा की झलक नही थी। सच पूछिए तो ऐसी स्त्रियो को अपने जीवन की व्यभि-चारिता दिखाई ही नही देती। वे जानती है कि लोग उनसे घृणा करते है और उन्हें गालिया देते है, किन्तु वे यह नही समझ सकती कि क्यो? वे वचपन से ही अपनी-जैसी स्त्रियो के बीच रहती आई है और अच्छी तरह से जानती है कि ऐसी स्त्रिया सदा से समाज मे रहती आई है तथा अब भी है और वे समाज के लिए इतनी आवश्यक मानी जाती है कि उनकी उचित व्यवस्था के लिए सरकारी कर्मचारी नियुक्त किये जाते है।* वे यह भी जानती है कि उन्हें पुरुषो को वश में करने की शक्ति प्राप्त है और अन्य स्त्रियो की अपेक्षा वे उनपर अधिक प्रभाव डाल सकती है। वे देखती है कि यद्यपि उनका सदा तिरस्कार किया जाता

* रूस में वेश्याओ को लाइसेंस लेना पडता है और उनकी नियमित रूप से जाच तथा डाक्टरी परीक्षा हुआ करती है।

है तथापि स्त्री और पुरुष दोनो ही तथा स्वय सरकार तक समाज में उनके स्यान को स्वीकार करती है। इसलिए वे इतना तक नही समझ पाती कि आखिर पश्चात्ताप करें तो किस वात के लिए और सुधार करें तो किस दिशा मे।

एक दिन इन मकानो का चक्कर लगाते समय एक विद्यार्थी ने मुझे वतलाया कि एक कमरे में एक औरत रहती है जो अपनी तेरह वर्ष की लडकी से व्यभिचार कराती है। उस लडकी का उद्धार करने की इच्छा से मैं जानवूझकर उसके यहा गया। मा-वेटी दोनो वडी ही निर्धन अवस्था में रहती थी। मा चालीस वर्प की, ठिगनी और काले रग की थी। वह कुरूप ही नही वल्कि देखने में वडी वीभत्स थी। लडकी भी कम कुरूप नही थी। उनके जीवनक्रम के सम्वंध मे मैंने घुमा-फिराकर कितने भी प्रश्न किए; किंतु लडकी की मा ने उन सवका वडे ही सक्षेप मे और सौहार्दरहित अविश्वास के साथ उत्तर दिया, जिससे साफ मालूम पडता था कि वह मुझे अपना शत्रु समझती है। वेटी ने तो अपनी मा की ओर देखे विना मेरे किसी प्रश्न का उत्तर ही नही दिया। स्पप्टतः वह मा पर पूर्ण विश्वास करती थी।

उन्हे देखकर मेरे मन मे करुणा नही, घृणा उत्पन्न हुई। फिर भी, मैंने निश्चय किया कि लडकी का उद्धार करना आवश्यक है और इसके लिए मुझे ऐसी महिलाओ से वातचीत करनी चाहिए जिन्हे इस प्रकार की अभागिनो के प्रति सहानुभूति हो और फिर इन महिलाओ को उस लडकी की मा के पास भेजना चाहिए।

यदि मैंने उस लडकी की मा के वीते हुए लम्वे जीवन पर विचार किया होता; यदि मैंने यह सोचा होता कि उसने किस प्रकार दयनीय स्थिति मे रहते हुए भी दूसरो से लेशमात्र सहायता पाये विना ही और भारी-भारी त्याग करके अपनी लडकी को जन्म दिया तथा पाला-पोसा; साथ-ही-साथ यदि मैंने यह भी विचार किया होता कि किस प्रकार उसके मस्तिष्क मे जीवन-सम्वधी एक विशेप धारणा ने जड जमा ली है, तो मेरी समझ मे आ गया होता कि मा के उस व्यवहार में कोई वात वुरी अथवा अनैतिक नही थी। उसने अपनी लडकी के लिए जो

अच्छे-से-अच्छा समझा था, शक्तिभर किया था और अब भी कर रही थी। ऐसी दशा मे यह तो सम्भव था कि उसकी लड़की को बलात् उससे अलग कर दिया जाय; किंतु उसे यह विश्वास दिलाना सर्वथा असम्भव था कि लड़की का धर्म बेचकर वह कोई गलती कर रही है।

लड़की का उद्धार करने के लिए यह आवश्यक था कि उससे बहुत पहले उसकी मा का उद्धार किया गया होता , उसे समाज द्वारा स्वीकृत उस जीवन-सिद्धान्त से छुटकारा दिलाया गया होता जिसके अनुसार स्त्री-जाति को अनुमति दी गई है कि वह अविवाहित रहकर अर्थात बिना संतान उत्पन्न किये और बिना ही कोई काम किये केवल विषय-वासना की तृप्ति का-साधन बनी रहे। यदि मैंने ध्यानपूर्वक विचार किया होता तो मेरी समझ में आ जाता कि जिन महिलाओ को मै उस वेश्या की लडकी का उद्धार करने के लिए भेजना चाहता था उनमें से अधिकतर स्वयं नि.संतान और उद्यम-रहित जीवन व्यतीत करती हुई केवल विषय-वासना की तृप्ति का साधन बनी रहती हैं और जानबूझ-कर अपनी लड़कियो को भी ऐसे ही जीवन की शिक्षा देती हैं। यदि एक मा अपनी लड़की को सराय मे बैठाती है तो दूसरी अपनी लड़की को दरबार मे या नाच मे ले जाती है। जीवन के प्रति दोनों का दृष्टिकोण एक ही होता है—वह यह कि स्त्री का कर्त्तव्य पुरुष की विषय-वासना को तृप्त करना है और उसे इस सेवा के लिए अन्न, वस्त्र तथा संरक्षण मिलना चाहिए। ऐसी दशा मे हमारी महिलाए किस प्रकार उस वेश्या या उसकी लड़की का उद्धार कर सकती हैं ?

: ९ :

निराश्रित बालक

बालको के साथ मेरा सम्बंध और भी विचित्र था। उनकी ओर भी मेरा ध्यान परोपकार का वह कार्य करते समय ही आकृष्ट हुआ। इच्छा हुई कि निर्दोष बच्चो को पाप के गड्ढे मे गिरने से बचाऊं और

यह सोचकर कि इनपर बाद में ध्यान दूगा मैंने उनके नाम लिख लिये ।

स्येर्योझा नाम के एक बारहवर्षीय लडके ने मुझे विशेष रूप से आकृष्ट किया। वह एक कुशाग्रबुद्धि और चतुर बालक था। पहले वह एक चमार के यहा रहता था, किंतु उसके जेल चले जाने पर निराश्रित हो गया था। मुझे उसपर बडी दया आई और मैंने अपने-को उसके लिए उपयोगी बनाना चाहा।

उस बालक को मैंने जो सहायता दी उसका क्या और किस प्रकार अन्त हुआ, यह मैं आपको बताना चाहता हू; क्योंकि उससे मेरी परोपकारिता की पोल साफ-साफ खुल जाती है। मैं लडके को अपने घर ले आया और उसे चौका-बर्त्तन के काम पर लगा दिया। यह तो भला हो ही कैसे सकता था कि पाप की गुफा से निकाले हुए उस गंदे लड़के को मैं अपने बच्चो के साथ हिलने-मिलने देता ? इतनी ही क्या कम नेकी और दयालुता थी कि मैंने उसे अपने घर पर रहने को स्थान देकर अपनेको न सही अपने नौकरो को असुविधा में डाला और उसे खाना तथा पुराने कपडे भी दिये ? (ध्यान रहे कि उसे खाना मैंने नही, बल्कि मेरे रसोइए ने खिलाया।)

वह लडका मेरे यहा लगभग एक सप्ताह रहा। इस बीच मैंने उससे योही चलते-फिरते दो बार बातचीत की। एक दिन टहलते हुए मैंने अपनी जान-पहचान के एक मोची के पास जाकर उस लडके की चर्चा की और पूछा कि क्या तुम इसे अपने यहा काम सिखाने के लिए रख सकते हो ? एक किसान ने, जो मेरे यहा ठहरा हुआ था, उस लड़के से मजदूरी करने के लिए गाव चलने को कहा। किंतु लडके ने वहा जाने से इन्कार कर दिया और एक सप्ताह बाद वह मेरे यहा से भी चलता बना। उसकी तलाश में मैं रज्हानोफ-भवन गया। वह लौटकर वही चला गया था, लेकिन जब मैं पहुचा तब अपने कमरे में नही था। उस दिन और उससे पहले दिन भी वह चिडिया-घर चला गया था। वहा उसे किसी सरकसवाले ने रग-बिरगे कपडे पहनाकर हाथी के साथ-साथ जलूस मे चलने के लिए तीस कोपेक रोजाना पर नौकर रख लिया था।

दूसरे दिन मै फिर रज्हानोफ-भवन गया; किंतु वह लडका इतना कृतघ्न निकला कि मुझसे जानबूझकर कतराता रहा। उस समय यदि मैंने अपने और उस लडके के जीवन पर विचार किया होता तो मेरी समझ मे आ गया होता कि उसके बिगडने का कारण यह है कि उसे मालूम हो गया है कि काम किये बिना ही वह चैन की बसी बजा सकता है और उसे काम न करने का अभ्यास पड गया है। उसका उपकार और सुधार करने के लिए मे उसे अपने घर ले गया था; पर वहां उसने क्या देखा ? उसने देखा कि मेरे बच्चे—जिनमे से कुछ उससे बडे, कुछ छोटे और कुछ उसीकी उम्र के थे—स्वय कोई काम नही करते थे और दूसरो से सब तरह के काम करवाते थे। वे चीजे मैली करते, अपने आस-पास की प्रत्येक वस्तु बिगाडते; स्वादिष्ट, मीठा और पौष्टिक भोजन ठूस-ठूसकर खाते, चीनी के बर्तन तोडते, दूध-मक्खन बखेरते और जिन चीजो को वह लडका नियामत समझता उन्हे वे कुत्तो को दे देते। यदि एक ओर यह सत्य है कि मै उस लडके को पतन के गह्वर से निकालकर एक अच्छी जगह ले आया था, तो दूसरी ओर यह भी सत्य है कि जीवन-सम्बधी जो दृष्टिकोण उसने उस अच्छी जगह मे देखा उसीको उसने स्वय ग्रहण किया। हमारे जीवन-प्रवाह को देखकर उसने यही सीखा कि किसी अच्छी जगह रहने का अर्थ यही है कि कुछ काम-काज किये बिना ही खूब खाया पिया जाय और मौज उडाई जाय।

मै मानता हू कि उसे पता नही था कि मेरे लडको को लैटिन और यूनानी भाषाओ के व्याकरण सीखने मे कठिन परिश्रम करना पडता है। वह इस प्रकार के परिश्रम की उपयोगिता को समझ भी नही सकता था; किंतु इसमें सन्देह नही कि यदि यह बात उसकी समझ में आगई होती तो उसपर मेरे बच्चो के उदाहरण का और भी अधिक प्रभाव पडा होता। तब वह समझ जाता कि मेरे बच्चो को इस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है कि उन्हे इस समय भी परिश्रम न करना पडे और भविष्य मे भी वे अपनी उपाधियो के बल पर यथासम्भव कम-से-कम काम करने और जीवन की अच्छी-अच्छी चीजो

को अधिक-से-अधिक परिमाण मे प्राप्त करने के योग्य बन सकें। सच पूछिए तो यह बात उसकी समझ मे आगई। तभी तो उसने गाव जाकर किसान के साथ ढोर चराने और आलू तथा क्वास* पर जीवन-निर्वाह करने की अपेक्षा करीब आठ पेस प्रतिदिन पर जगली कपडे पहनकर हाथी के आगे-आगे चलना अधिक श्रेयस्कर समझा।

मुझे यह समझ लेना चाहिए था कि यह कैसी विडम्बना है कि स्वय अपने बच्चो को तो मै पूर्ण आलस्य और ऐश्वर्य का पाठ पढा रहा था और जिस रज्हानोफ-भवन को मै पापगृह मानता था उसमें काहिली मे पडे-पडे सडनेवाले दूसरे आदमियो और उनके बच्चो को सुधारने की आशा करता था, हालाकि वहा के कम-से-कम तीन-चौथाई लोग या तो स्वय अपने लिए या दूसरो के निमित्त श्रम अवश्य करते थे। किंतु ये बाते लेश मात्र भी मेरी बुद्धि मे नही आई।

रज्हानोफ-भवन के अनेक बालक बडी ही दयनीय दशा मे थे। उनमे से कुछ वेश्याओ के बच्चे थे, कुछ अनाथ थे और कुछ ऐसे थे जिन्हे लेकर भिखारी सडक पर घूमा करते थे। उन सबकी अवस्था अत्यन्त करुणाजनक थी, किंतु स्येर्योजा के साथ जो-कुछ बीती थी उससे मुझे यह विश्वास हो गया था कि जबतक मेरे जीवन का क्रम ऐसे ही चलता रहेगा तबतक मै उनकी सहायता नही कर सकूंगा। जिन दिनो स्येर्योजा हमारे यहा था, मैंने अनुभव किया कि मेरे मन मे उससे अपने—विशेषत अपने बच्चो के—जीवन को छिपाने की इच्छा छिपी हुई थी। मुझे ऐसा लगता था कि उस लडके को नेक और उद्यमी जीवन की ओर ले जाने का मेरा सारा प्रयत्न मेरे और मेरे बच्चो द्वारा उपस्थित किये गए दृष्टात के कारण विफल हो रहा है।

किसी बच्चे को वेश्या या भिखारी से ले लेना बडा सरल है और यदि अपने पास धन हो तब तो उसे नहलाना-धुलाना, अच्छे कपडे पहनाना और अच्छा खाना खिलाना, यहातक कि विविध विद्याए पढाना भी अत्यन्त सरल होता है, किंतु हम-जैसे लोगो के लिए, जो

---

* एक प्रकार का पेय।

स्वय अपनी 'जीविका नही कमाते, उस बच्चे को जीविकोपार्जन करने की शिक्षा देना कठिन ही नही बल्कि असम्भव है, क्योकि हम अपने उदाहरण द्वारा और जिस वस्तु मे हमारा एक पैसा भी खर्च नही होता उससे, उस बच्चे के जीवन मे सुधार करके भी हम उसको उलटी ही शिक्षा देते हैं। किसी पिल्ले को लेकर चुमकारना-पुचकारना, खिलाना-पिलाना, चीजे उठाकर लाने-ले जाने की शिक्षा देना और उसे देखकर हर्षित होना तो ठीक हो सकता है, किंतु किसी मनुष्य को केवल पालने-पोसने, खिलाने-पिलाने और यूनानी भाषा सिखाने से ही काम नही चल सकता। उसको तो जीवनयापन का ढग सिखाना होगा और बताना होगा कि दूसरो से लो कम और दो अधिक। किंतु हम लोग तो इन अनाथ बच्चो को--चाहे उन्हे हम अपने घर रखें और चाहे किसी अनाथाश्रम में भेज दे--उलटी ही बाते सिखला पाते हैं।

: १० :

घोर निराशा

ल्यापिन-अनाथालय में मैंने अपने प्रति घृणा और दूसरो के प्रति करुणा की जिस भावना का अनुभव किया था, वह अब मिट गई थी। अब तो मेरे मन मे बस यही अभिलाषा भरी हुई थी कि जो काम मैं आरम्भ कर चुका हू उसे पूरा करू, अर्थात् जिन लोगो से यहा मिल चुका हू उनका कुछ उपकार करू। आश्चर्य की बात तो यह है कि जहा उपकार करना अर्थात जरूरतमदो को रुपया देना एक बहुत ही नेक काम मालूम होता था और उससे लोगो के प्रति प्रेम-भाव उत्पन्न होना चाहिए था, वहा उससे मेरे मन में लोगो के प्रति कटुता और निंदा की भावना उत्पन्न हो गई। पहले ही दिन शाम को चक्कर लगाते समय मेरी आखो के सामने बिलकुल ल्यापिन-अनाथालय का-सा दृश्य उपस्थित हुआ, परतु उसका मेरे ऊपर पहले-जैसा प्रभाव न पडकर एक बिलकुल ही और तरह का असर पडा।

बात उस समय की है जब एक कमरे मे मुझे सचमुच एक ऐसी अभागिन बुढिया मिली, जिसे तत्काल सहायता की आवश्यकता थी। बुढिया भूखी थी, उसे दो दिन से कुछ भी खाने को नही मिला था।

कथा इस प्रकार है। एक वहुत ही वडे कमरे में, जो करीव-करीव पूरा-का-पूरा खाली पडा था, मुझे एक बुढिया मिली और मैंने उससे पूछा—"क्या यहा कोई ऐसा भी गरीव आदमी है जिसके पास खाने को कुछ न हो?" बुढिया ने कुछ देर तक सोचने के वाद दो नाम वतलाए, फिर, जैसे एकाएक उसे कुछ याद आ गया हो, वह एक चारपाई की ओर झाककर वोली—"हा, मेरे खयाल मे एक तो यही पडी हुई है, मै समझती हू कि इसके पास खाने को कुछ भी नही है।"

"सचमुच? वह कौन है?"

"वह एक वेश्या है; लेकिन अव उसे कोई नही पूछता, इसलिए उसे अव कोई आमदनी नही होती। अवतक तो मकान-मालकिन उसपर तरस खाती थी, लेकिन अव वह उसे निकालना चाहती है। अगाफ्या, ओ अगाफ्या!" बुढिया ने चिल्लाकर पुकारा।

हमलोग पास गए और हमे चारपाई पर कोई चीज उठकर वैठती हुई दिखाई दी। वह सफेद और विखरे वालोवाली एक औरत थी, जो सूखकर हड्डियो का ढाचा भर रह गई थी। उसने एक फटी हुई मैली कुर्ती पहन रखी थी और उसकी गतिहीन आखो में एक विचित्र प्रकार की चमक थी। उसने हमारी ओर देखा और फटी कुर्ती के भीतर से दिखाई पडनेवाली अस्थिमात्र छाती को छिपाने के लिए पास पडी हुई एक जाकट को अपने पतले हाथो से उठाया। इसके वाद वह गुर्राकर वोली—"क्या है? क्या है?"

"कैसी वीत रही है?"—मैंने उससे पूछा।

मेरी वात समझने मे उसे काफी देर लगी, जिसके वाद वह वोली—"मुझे खुद पता नही। ये लोग मुझे निकाल रहे है।"

"तो क्या यह सच है कि तुम्हारे पास खाने को कुछ नही?"

मुझे लिखते हुए लज्जा आती है कि उस समय मैंने उससे ऐसा प्रश्न किया। उसने मेरी ओर देखे विना पहली ही जैसी तेजी के

साथ उत्तर दिया—"मैंने कल कुछ नही खाया था और आज भी कुछ नही खाया है।"

इस औरत को देखकर मेरी हृत्तत्री के तार एकबारगी ही झनझना उठे, फिर भी मुझपर उतना गहरा असर नही पडा जितना ल्यापिन-अनाथालय का दृश्य देखकर पडा था। वहाके लोगो के प्रति करुणा का भाव उठते ही मुझे अपने ऊपर ग्लानि हुई थी; किंतु यहा मुझे इस बात की प्रसन्नता हुई कि जिस प्रकार के भूखे प्राणी की मै तलाश मे था वह मुझे आखिरकार मिल ही गया।

मैंने उसे एक रूबल दिया और मुझे याद है कि इस बात से मुझे बडी प्रसन्नता हुई कि लोगो ने मुझे वह रूबल देते हुए देखा। रूबल देते देखकर बुढिया ने भी हाथ फैलाया। उस समय दान करना इतना अच्छा लग रहा था कि पात्र-कुपात्र का विचार किये बिना ही मैंने बुढिया को भी कुछ दे दिया। वह कमरे के बाहर तक मुझे पहुचाने आई और दालान मे खडे हुए कुछ लोगो ने उसको मुझे धन्यवाद देते हुए सुना। दरिद्रता के विषय मे मैंने जो प्रश्न किये थे उनसे शायद इन लोगो मे आशा का सचार हो गया था और वे मेरे पीछे-पीछे चल रहे थे।

दालान मे पहुचने पर लोग मुझसे फिर पैसा मागने लगे। इनमे कुछ तो स्पष्ट रूप से शराबी मालूम पड़ते थे। उन्हे देखकर मुझे बहुत बुरा लगा, लेकिन बुढिया को देने के बाद इन लोगो को इन्कार करने का मुझे कोई अधिकार नही था, इसलिए मैंने उनमे भी स्वतत्रतापूर्वक रुपया-पैसा बाटना शुरू कर दिया। ज्यो-ज्यो मै देता जाता था त्यो-त्यो भीड बढती जाती थी। सारे भवन मे एक उत्तेजना-सी फैल गई। सीढियो पर और गैलरियो मे लोग आ-आकर मुझे देखने लगे। जब मै आगन मे पहुचा तब एक लडका भीड चीरता हुआ सीढियो पर से बडी तेजी से उतरा। वह मुझे देखे बिना ही चिल्लाकर बोला—"इन्होंने अगाफ्या को एक रूबल दिया है।" फिर सीढी से नीचे उतरकर वह लडका मेरे पीछे-पीछे चलनेवाली भीड के साथ हो लिया।

मै बाहर गली मे निकल गया। वहा भी बहुत-से लोग मेरे पीछे हो लिये और पैसा मागने लगे। मेरे पास थोड़ी-बहुत जितनी भी

रेजगारी थी, मैंने सब बाट दी और एक दूकान पर जाकर दस रूबल की और रेजगारी मांगी। फिर वहीं हुआ जो ल्यापिन-अनाथलय में हुआ था। बड़ा बावेला मचा। बूढ़ी स्त्रियां, बिगड़े हुए अमीर, किसान और बच्चे सब-के-सब हाथ फैलाए हुए दूकान के सामने जमा हो गए। मैंने उनको पैसा दिया और कुछ लोगों ने उनके जीवन के सम्बंध में पूछताछ कर उनके नाम अपनी नोटबुक में लिख लिये। दूकानदार अपने गरम ओवरकोट के रोएंदार कालर समेटे पत्थर की मूर्ति की तरह बैठा रहा। बीच में रह-रहकर वह कभी भीड़ की ओर और कभी मेरी ओर देख लेता था। साफ मालूम पड़ रहा था कि औरों की तरह वह भी मेरे इस काम को मूर्खतापूर्ण समझ रहा था; किंतु ऐसा कहने का उसे साहस नहीं होता था।

ल्यापिन-अनाथालय के लोगों की दुर्दशा और अवनति देखकर मैं दंग रह गया था और अपने को अपराधी समझने लगा था। साथ ही मेरे मन में पहले की अपेक्षा अच्छे बनने की इच्छा उदित हुई थी और इसकी सम्भावना भी दिखाई देने लगी थी। किंतु अब उसी प्रकार के दृश्य ने मेरे हृदय पर एक दूसरे प्रकार का प्रभाव डाला। सबसे पहले तो जो लोग मुझे घेरकर खड़े हो गए थे उनमें से अधिकाश के प्रति मेरे मन में दुर्भावना उत्पन्न हुई और फिर मुझे इस बात की उद्विग्नता-सी हुई कि आखिर दूकानदारों और दरबानों ने मेरे बारे में क्या सोचा होगा!

वहासे घर लौटकर मैं तमाम दिन बड़ा बेचैन रहा। मुझे ऐसा लगा कि मैं जो-कुछ कर रहा हूं वह मूर्खतापूर्ण और अनैतिक है और, जैसा कि अंतर्द्वन्द्व की अवस्था में सदा हुआ करता है, मैं अपने द्वारा आरम्भ किये गए कार्य के सम्बंध में इस तरह बढ़-चढ़कर बातें करने लगा मानो मुझे उसकी सफलता में कोई सन्देह ही न हो।

अगले दिन मैं अकेला ही नोटबुक में लिखे हुए उन लोगों से मिलने गया जिनकी अवस्था मुझे सबसे अधिक दयनीय प्रतीत हुई और जिनकी सहायता करना सबसे सरल मालूम हुआ। जैसा कि बतला चुका हूं, मैंने किसीकी वास्तविक सहायता नहीं की। यह कार्य मुझे आशा से

अधिक कठिन प्रतीत हुआ और या तो अपनी असमर्थता के कारण या काम असम्भव होने के कारण मैं दुखियो को केवल उत्तेजित भर कर सका, मुझसे उनकी कोई सहायता नही बन पडी ।

मर्दुमशुमारी का कार्य समाप्त होने से पहले मैं रज्हानोफ-भवन में कई वार गया और हर वार एक-सी ही वात हुई। मागनेवालो की भीड मुझे चारो ओर से घेर लेती और उनके बीच मे खो-सा जाता। मगतो की सख्या इतनी अधिक थी कि मुझे ऐसा लगा कि मै इनके लिए कुछ कर-धर नही सकूगा और सच पूछिए तो मुझे उनकी बहुलता पर क्रोध आया। इससे अधिक मुझे उनमे कोई दिलचस्पी नही हुई। मुझे ऐसा लगा कि उनमे से प्रत्येक व्यक्ति या तो झूठ वोल रहा है या पूरी वात सच-सच नही वतला रहा है और मुझे केवल रुपयो की थैली समझकर अधिक-से-अधिक पैसे ऐठना चाहता है। अक्सर मुझे ऐसा भी लगता कि लोग खुशामद करके मुझसे जो रुपए ले लेते है उससे उन्हे लाभ के वदले हानि की ही अधिक सम्भावना है। रज्हानोफ-भवन मे मै जितना ही अधिक गया और वहाके लोगो से मेरा जितना ही अधिक परिचय हुआ, उतना ही अधिक यह स्पष्ट होता गया कि उनकी सहायता करना असम्भव है। फिर भी, मर्दुमशुमारी की अतिम रात तक मैने अपना काम वद नही किया।

अतिम रात की वात याद करके मुझे विशेप लज्जा मालूम होती है। पहले मै अकेला जाया करता था; किंतु उस रात करीव बीस जने इकट्ठे होकर गए। गश्त मे भाग लेने की इच्छा रखनेवाले लोग सात बजे ही मेरे मकान पर जमा हो गए। उनमे से प्राय: सव-के-सव मेरे लिए अपरिचित थे। अधिकाश तो विद्यार्थी ही थे; वस एक अफसर था और दो मेरी जान-पहचान के थे। प्रचलित रीति से अभिवादन करते हुए उन्होने मुझसे अपनेको गणको मे शामिल कर लेने के लिए कहा।

जो लोग मेरी जान-पहचान के थे वे खास तौर से शिकारी कोट और ऊचे सफरी जूते पहनकर आए थे। इसी लिवास मे वे शिकार पर जाया करते थे और यही उनकी राय मे सरायो म जाने के लिए ठीक

लिवास था। उन्होने अपने साथ विशेष रग की नोटवुकें और असाधारण पेंसिलें ले रखी थी। उस समय उनमे वही विशेष उत्तेजना दिखाई दे रही थी जो शिकार, कुश्ती अथवा युद्ध में जाते समय लोगो मे हुआ करती है। उन्हें देखकर तो यह और भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगा कि हमारा कार्य कितना मूर्खतापूर्ण और निरर्थक है।

चलने से पहले हम लोगो ने आपस में सलाह की—ठीक उसी तरह जैसे युद्ध के सलाहकार परामर्श किया करते है। हमने इस वात पर विचार किया कि काम किस तरह से आरम्भ किया जाय, पहले किस काम में हाथ डाला जाय, कौन-कौन लोग किस तरफ जाय आदि-आदि। यह विचार-विमर्श ठीक उसी प्रकार से हुआ जिस प्रकार कौंसिलो, असेम्वलियो और कमेटियो में हुआ करता है, अर्थात प्रत्येक व्यक्ति ने कुछ-न-कुछ कहा—इसलिए नही कि उसके पास कोई ऐसी वात थी जिसे कहना अनिवार्य था या वह कुछ पूछना चाहता था; वल्कि इसलिए कि दूसरो से पिछडे न रहने की इच्छा से उसने कोई-न-कोई वात कहने के लिए निकाल ही ली। पर जिस दान के विषय में मै उनसे कई वार कह चुका था उसकी इस बातचीत के दौरान में किसीने भी चर्चा नही की। मै लज्जित तो बहुत हो रहा था, किंतु लोगो को इस बात की याद दिलाना आवश्यक था कि गणना के साथ-साथ हमें परोपकार का कार्य भी करना है, अर्थात चक्कर लगाते समय जो लोग दरिद्रावस्था में मिले उनका नाम हमें लिख लेना चाहिए।

इस प्रसग की चर्चा करने मे मुझे मदा लज्जा मालूम होती थी और उस रात भी यह बात मेरे मुह से वडी कठिनाई से निकल सकी। मुझे ऐसा लगा कि लोग मेरी वात खेद के साथ सुन रहे है। मौखिक रूप से तो उन्होने अपनी स्वीकृति ही प्रकट की; किंतु साफ मालूम होता था कि वे मेरी बात को मूर्खतापूर्ण समझ रहे है और उनका खयाल है कि इसका कोई नतीजा नही निकलेगा। इसलिए वे लोग तत्काल दूसरी-दूसरी बातो की चर्चा करने लगे और यह सिलसिला तवतक जारी रहा जवतक हमारे चलने का समय नही हो गया और हम लोग वहासे गाडी में वैठकर चल नही दिये।

हम लोग अधेरी सराय मे पहुचे और वहाके नौकरो को जगाकर अपने कागज छाटने लगे। जब हमने सुना कि हमारे आने की सूचना पाकर लोग भागे जा रहे है तब हमने मकान-मालिक से फाटक बद कर देने के लिए कहा और स्वय आगन मे जाकर भागनेवालो को यह विश्वास दिलाने की चेष्टा की कि कोई उनसे पासपोर्ट* दिखाने के लिए नही कहेगा।

इन घबराए हुए लोगो को देखकर मुझे जो विचित्र और अप्रिय अनुभूति हुई वह मुझे आज भी याद है। फटे चीथडे पहने हुए वे अर्द्ध-नग्न प्राणी अधकारपूर्ण आगन मे लालटेन की रोशनी मे बहुत लम्बे मालूम पडते थे। भय से कापते हुए वे दुर्गधपूर्ण पाखाने के पास दल बनाए खडे थे। उन्होने हमारा आश्वासन सुना, किंतु उन्हे उसपर विश्वास नही हुआ। साफ मालूम पडता था कि आखेट के लिए घेरे गए जानवरो की भाति वे अपने प्राण बचाने के लिए सबकुछ करने को उतारू थे। जिन शरीफ लोगो ने पुलिस-अफसरो, मजिस्ट्रेटो, जजो आदि के नाना वेशो मे उन्हे शहरो और गावो में, सडको और गलियो मे, सरायो और अनाथालयो मे, सब जगह जीवन-भर हताश किया था वे ही शरीफ एक बार एकाएक उनके घर पर आ धमके थे और उन्होने केवल गणना करने के लिए उनके मकान के फाटक बंद करवा दिये थे। स्वभावत हमारे आश्वासन पर विश्वास करना उनके लिए उतना ही कठिन था जितना खरगोशो के लिए यह विश्वास करना कि शिकारी कुत्ते उन्हे पकडने नही, बल्कि गिनने आए है। किंतु फाटक बद हो चुके थे, इसलिए लाचार होकर वे अपनी-अपनी कोठरी में वापस चले गए और हमने अलग-अलग टोलिया बनाकर अपना काम आरम्भ कर दिया। मेरे साथ मेरे जान-पहचानवाले दोनो सज्जन और दो विद्यार्थी थे। वान्या ओवरकोट और सफेद पतलून पहने और हाथ मे लालटेन लिये उस अधकार मे हमारा पथ-प्रदर्शन कर रहा था।

---

* उन दिनो पासपोर्ट न रखना अथवा जाली पासपोर्ट रखना रूस मे सख्त कानूनी जुर्म समझा जाता था।

हम उन कमरो में गए, जिन्हे मै पहले ही देख चुका था और जिनके कुछ निवासियो से परिचित भी था। फिर भी, अधिकाश लोग नए थे और वहाका दृश्य ल्यापिन-अनाथालय के दृश्य से भी अधिक भयानक था। सब कमरे और तख्ते भरे हुए थे और अधिकत एक तख्ते पर दो-दो आदमी सोते थे। कमरो में स्त्री-पुरुष जिस बुरी तरह से ठुसे पडे थे वह दृश्य बडा ही भयानक था। जो औरते शराब पीकर पूरी तरह बुत नही हुई थी वे पुरुषो के साथ सो रही थी। बहुत-सी स्त्रिया तो अपने बच्चो को लिये तग तख्तो पर अजनबी पुरुषो के साथ पडी हुई थी। इन लोगो की कगाली, गदगी और कातरता का दृश्य वास्तव मे बडा ही करुण था। सबसे भयकर बात तो यह थी कि इस प्रकार की दुर्दशा भोगनेवाले लोगो की सख्या अपरिमित थी। एक, दो, दस, बीस—अनगिनत थी वे जीर्ण-शीर्ण कोठरिया जिनमे ये रहते थे और उन सभीमें वही दुर्गंध, वही दम घोटनेवाला वातावरण, वही भीड और स्त्री-पुरुषो का वही गडबड-घोटाला था। चारो ओर स्त्री-पुरुष उसी तरह मदहोश पडे थे, उनके चेहरो पर वैसा ही भय, वैसी ही दीनता और वैसी ही अपराध की छाया थी।

यह सब देखकर मेरे मन मे एक बार फिर ल्यापिन-अनाथालय की ही तरह ग्लानि और लज्जा उत्पन्न हुई और मेरी समझ मे आ गया कि मैंने जो काम हाथ में लिया है वह बडा ही विकट तथा मूर्खतापूर्ण है और इसलिए असम्भव है। यह सोचकर कि अब प्रयत्न करना व्यर्थ है, मैंने किसीसे और कोई प्रश्न नही किया और नोट लेना भी बद कर दिया।

मेरे हृदय को बडा आघात लगा। ल्यापिन-अनाथालय का दृश्य देखकर मेरी अवस्था वैसी ही हो गई थी जैसी सयोगवश किसी मनुष्य के शरीर पर कोई बीभत्स फोडा देखकर हो जाती है। उस समय उस मनुष्य के लिए दुख होता है और इस बात की आत्मग्लानि होती है कि हमने उसकी सहायता पहले क्यो नही की। फिर भी यह आशा तो लगी ही रहती है कि कदाचित भविष्य मे कुछ सहायता बन पड़े। किंतु अब मेरी दशा उस डाक्टर के समान हो गई थी, जो अपनी ओषधियो

के साथ रोगी के पास जाता है, उसके घाव को खोलता है और उसे साफ करता है किन्तु अत मे उसे यही स्वीकार करना पडता है कि उसका सारा प्रयत्न विफल रहा और उसकी ओषधि से रोगी को कोई लाभ नही पहुचेगा।

: ११ :

मेरी परोपकारिता का अंत

इस घटना ने मेरी आत्मभ्राति को बिलकुल मिटा दिया और मुझे यह स्पष्ट रूप से दिखाई दे गया कि मैंने जो काम अपने हाथ में लिया है वह केवल मूर्खतापूर्ण ही नही, बल्कि भयानक भी है। यह जानते हुए भी मुझे ऐसा लगा कि सारी योजना को एकदम भग कर देना न केवल ठीक नही होगा, बल्कि उसे जारी रखना मेरा कर्त्तव्य है; क्योकि एक तो लेख लिखकर और निर्धनो से मिलकर तथा उन्हे सहायता का वचन देकर मैंने उनके मन में आशा उत्पन्न कर दी थी और दूसरे अपने लेख तथा वार्त्तालाप से मैंने दानी व्यक्तियो के हृदय में सहानुभूति जागृत कर दी थी जिसके फलस्वरूप बहुतो ने मेरे कार्य मे सहयोग देने और आर्थिक सहायता प्रदान करने का वचन दिया था। मै इस प्रतीक्षा में था कि दोनो पक्ष के लोग मुझसे प्रार्थना करें और मै उनकी प्रार्थना पर यथोचित रूप से विचार करू।

जहातक जरूरतमदो का प्रश्न है, उनके सम्बध में निम्नलिखित घटना घटी। मेरे पास सौ से भी अधिक प्रार्थनापत्र आए और यदि मै एक नए शब्द का प्रयोग करू तो कह सकता हू कि वे सब-के-सब 'धनी दरिद्रो' के प्रार्थनापत्र थे। इनमें से कुछ लोगो को तो मैंने उत्तर नही दिया; किंतु कुछसे मै स्वयं जाकर मिला। फिर भी मै किसीकी सहायता करने मे सफल न हो सका।

सभी प्रार्थनापत्र ऐसे व्यक्तियो के थे जो किसी समय सौभाग्य-शाली पद पर रह चुके थे, किंतु अब वे पद से हटा दिये गए थे और

उसे फिर से प्राप्त करना चाहते थे। मेरा आशय ऐसे पद से है जहा रहकर मनुष्य दूसरो को देने की अपेक्षा स्वय लेता अधिक है। एक आदमी ने अपने गिरते हुए धधे को सम्हालने और अपने बच्चो की शिक्षा पूरी करने के लिए दो सौ रूबल मागे। दूसरे ने फोटोग्राफी के सामान की माग की, तीसरे ने चाहा कि उसका ऋण चुका दिया जाय और उसके अच्छे कपडे गिरवी से छुडा दिये जाय, चौथे ने एक पियानो मागा ताकि वह उसे अच्छी तरह बजाना सीख सके और फिर दूसरो को सिखाकर अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण कर सके। अधिकाश लोगो ने केवल सहायता की प्रार्थना की और यह नही लिखा कि उन्हे कितने रुपयो की जरूरत है। किंतु जब उनकी आवश्यकताओ की छानबीन की गई तो पता चला कि जितनी अधिक सहायता उपलब्ध की गई उतनी ही अधिक उनकी आवश्यकताए बढती गई और उन्हे न तो सतोष हुआ न हो ही सकता था। जैसाकि मै पहले कह चुका हू, शायद इसका कारण यह था कि मुझे उनके साथ बर्ताव करने का ढग नही मालूम था। जो-कुछ भी हो, सच यह है कि मै किसीकी भी सहायता नही कर सका, यद्यपि कुछ लोगो की सहायता करने की मैने चेष्टा अवश्य की।

अब दानी व्यक्तियो के सहयोग का हाल सुनिए। उन्होने जो-कुछ किया वह बडा ही आश्चर्यजनक और आशा के विपरीत था। जिन-जिन लोगो ने निर्धनो के सहायतार्थ धन देने का वचन दिया था और रकम भी तय कर दी थी, उनमे से किसीने एक रूबल भी नही दिया। उनके वचन के आधार पर मै लगभग तीन हजार रूबल पाने की आशा करता था; किंतु एकको भी अपना वचन याद नही रहा और उनसे फूटी कौड़ी भी हाथ नही लगी। अलबत्ता विद्यार्थियो को मर्दुमशुमारी-सम्बंधी कार्य के पारिश्रमिक स्वरूप जो-कुछ भी मिला, उन्होने लाकर मुझे दे दिया। जहातक मुझे याद पडता है, उनसे कुल मिलाकर बारह रूबल मिले। अत जिस योजना के अन्तर्गत मैने धनी लोगो से एकत्र किये हुए सहस्रो रूबल की सहायता से सैंकडो और हजारो निर्धनो को दरिद्रता और पाप के पक से उबारने का विचार किया था उसका अत

यह हुआ कि जिन लोगो ने मुझसे मागा उनमे मैंने कुछ दर्जन रूवल योंही अललटप बाट दिये और बाद मे मेरे पास विद्यार्थियो के दिये हुए बारह रूबलो के अतिरिक्त वे पच्चीस रूवल भी वच गए जो नगर-पालिका ने मुझे मर्दुमशुमारी के आयोजक की हैसियत से काम करने के लिए दिये थे। मै यह नही समझ पाया कि इस रकम का क्या करू !

इस तरह सारी योजना ठप पड गई। मास्को छोडकर गाव जाने से पहले मै एक रविवार को बचे हुए सैंतीस रूवलो को गरीवो मे बाटने के लिए रज्हानोफ-भवन गया। वहा मै जितनो से परिचित था उन सबके कमरे मे हो आया, किंतु एक वीमार आदमी को छोडकर, जिसे मैंने शायद पाच रूवल दिये, वहा और कोई ऐसा आदमी नही मिला जिसे कुछ दिया जा सकता। मागने तो वहुत-से लोग लगे थे, किंतु उनके विषय में मुझे कोई जानकारी नही थी, इसलिए मैंने वत्तीस रूवलो को वाटने के सम्वध मे सराय के मालिक ईवान फिदोतिग से सलाह लेने का निश्चय किया।

उस दिन कार्नीवाल का उत्सव था। सव लोगो ने अच्छे-से-अच्छे कपडे पहने थे, खूब डटकर खाना खाया था और कुछ लोग तो पिये हुए झूम रहे थे। सराय के एक कोने मे फटा कोट और चटाई के जूते पहने एक बूढा किंतु फुर्तीला कवाडी खडा-खडा काम कर रहा था। वह अपनी टोकरी के सामान को छाट-छाटकर लोहे, चमडे और दूसरी चीजो के अलग-अलग ढेर वना रहा था और ऊचे मीठे स्वर मे कुछ गा भी रहा था। मैं उससे वाते करने लगा। उसकी उम्र ७० वर्ष की थी और वह कबाडी का काम करके अपना पेट पालता था तथा अकेला ही रहता था। उसने न केवल किसी वात की शिकायत नही की, वल्कि वतलाया कि उसके पास खाने-पीने के लिए काफी है। मैंने उससे पूछा कि क्या तुम्हारे जानने मे रज्हानोफ-भवन मे कोई ऐसा आदमी है जो सचमुच जरूरतमद हो। मेरे इस प्रश्न से उसे कुछ खिजलाहट-सी हुई और उसने साफ-साफ कहा कि काहिलो और पियक्कडो को छोडकर और किसीको तगी नही होती। परतु जव उसे मेरे उद्देश्य का पता लगा तो उसने पीने के लिए मुझसे पाच कोपेक मागे और उन्हे पाते ही

वह सीधा सराय की ओर भागा। मैं भी बाकी रकम को बटवाने का भार ईवान फिदोतिश को सौंपने के अभिप्राय से सराय की ओर चल दिया।

सराय में बहुत भीड़ थी। मदिरा के मद में झूमती हुई युवतियां भडकीले कपड़े पहने हुए इधर-उधर आ-जा रही थी। सब मेजें भरी हुई थी और कितने ही लोग नशे मे चूर थे। एक छोटे-से कमरे में एक आदमी बाजा बजा रहा था और दो आदमी नाच रहे थे। मुझे देखते ही ईवान फिदोतिश ने आदरवश नाच बंद करने का आदेश दिया और मेरे साथ वह एक खाली मेज पर बैठ गया। मैंने उसे बतलाया कि मुझे गरीबो में बाटने के लिए कुछ पैसे मिले हैं; तुम अपने किरायेदारो को जानते हो, बतलाओ कि उनमे से सबसे ज्यादा जरूरतमंद कौन-कौन हैं। उस भले आदमी ने (जिसकी एक साल बाद मृत्यु हो गई) अपने रोजगार मे बझे रहने पर मेरी सहायता करने के लिए थोड़ी देर को अपना काम छोड़ दिया। कुछ समय तक वह मेरे प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करता रहा और उसकी मुद्रा से साफ मालूम पड़ता था कि वह चक्कर मे पड़ गया है। एक बूढ़े नौकर ने हमारी बात सुन ली थी; वह भी हमारी बातचीत में शरीक हो गया।

वे एक-एक करके किरायेदारों के नाम लेने लगे—इनमें से कुछको मैं भी जानता था, किंतु वे किसीके सम्बन्ध मे सहमत नही हो सके।

"परामोनौफना", नौकर ने सुझाया।

"हा, ठीक है, कभी-कभी उसे भूखा रहना पडता है।...लेकिन वह तो शराब पीती है", फिदोतिश बोला।

"तो क्या हुआ ? सब ठीक है...।"

"और स्पिरिडोन ईवानोविच ? उसके बच्चे हैं ?"

किंतु फिदोतिश को स्पिरिडोन के विषय में शंका थी।

"अच्छा तो अकुलीना ?...किंतु उसे तो भत्ता मिलता है। हा, याद आया वह अंधा आदमी कैसा रहेगा ?"

किंतु, उस अंधे आदमी के सम्बंध में मैंने स्वयं आपत्ति की। उसे मैंने तभी देखा था। उसकी उम्र लगभग ८० वर्ष की थी और उसके

कोई सगा-सम्बधी नही था। कहने को तो कहा जा सकता है कि इससे दीन भला और कौन होगा, किंतु थोडी देर पहले ही मैंने देखा था कि वह परोवाले एक ऊचे बिछौने पर शराब पिये पड़ा था और जिस अपेक्षाकृत जवान स्त्री के साथ उसने सम्भोग किया था उसे वह, मुझे न देख सकने के कारण, बहुत ही धीमे स्वर मे गदी-से-गदी गालिया दे रहा था।

इसके बाद फिदोतिश और उसके नौकर ने एक लूल्हे लडके का नाम लिया जो अपनी मा के साथ रहता था। मैंने देखा कि अन्त करण शुद्ध होने के कारण फिदोतिश असमजस मे पड गया है। वह जानता था कि कार्नीवाल के दिनो मे गरीबो को जो पैसा दिया जायगा वह लौट-फिर कर उसीके पास सराय मे आ जायगा।

किंतु मुझे तो ३२ रूबल बाटने थे और जब मैंने बहुत कहा तो वे रूबल भले-बुरे किसी-न-किसी ढग से बाट दिये गए। जिन्हें-जिन्हें पैसा मिला उनमे से अधिकाश अच्छे कपडे पहने हुए थे और उन्हे ढूढने के लिए हमे कही दूर नही जाना पडा, क्योकि वे सराय में ही मौजूद थे। लूल्हा लडका ऊचे जूते, लाल कमीज और वास्कट पहने हुए था।

इस प्रकार मेरी दानशीलता का अत हो गया और, जैसा कि हमेशा होता है, लोगो से तग आकर मै गाव चला आया। यह तो सत्य है कि मेरी दान-वृत्ति का कोई परिणाम नही निकला और वह बिलकुल बद हो गई, किंतु मेरे अन्त प्रदेश मे उठनेवाले विचारो और भावनाओ का प्रवाह रुकने के बदले और भी दुगुने वेग से बढ चला।

: १२ :

असफलता क्यों ?

तो, इन सब बातो का क्या अर्थ था ?

मै देहात मे रह चुका था और वहा निर्धनो से मेरा सम्पर्क भी हो गया था। नम्रतावश नही, क्योकि नम्रता में तो अधिक पुट गर्व का

होता है, वल्कि अपनी भावनाओ और विचारधारा को स्पष्ट करने के उद्देश्य से मै यह बात सच-सच बतला देना चाहता हू कि देहात में मैंने गरीबों की बहुत ही कम सहायता की थी। फिर भी वहाके अभागे मुझसे इतनी कम सहायता चाहते थे कि मै जितना भी थोड़ा-बहुत कर देता था, वही उनके लिए उपयोगी सिद्ध होता था और उससे मेरे चारो ओर प्रेम तथा सतोष का वातावरण छा जाता था। इस वातावरण मे रहकर मुझे उस वेदना को शात करना सम्भव प्रतीत होता था जिसका मैं अपने जीवनयापन के अनौचित्य के कारण अपनी अतरात्मा मे निरतर अनुभव किया करता था। नगर मे आकर मैंने आशा की थी कि वहा भी मैं गाव की तरह ही जीवन व्यतीत कर सकूगा, किंतु मास्को पहुचकर मुझे एक विलकुल ही दूसरी तरह की दरिद्रता दिखाई दी। वहाकी दरिद्रता मे देहात की दरिद्रता की अपेक्षा सत्य का अश कम था और साथ-ही-साथ वह अधिक कष्टदायक तथा निर्ममता की सूचक थी। सबसे बुरी बात यह थी कि एक ही स्थान पर इतनी अधिक मात्रा मे दरिद्रता विद्यमान थी कि उसका मुझपर बडा भयानक प्रभाव पडा।

ल्यापिन-अनाथालय मे मैंने जो-कुछ देखा उससे तत्काल मुझे अपने जीवन के घिनौनेपन का भान हुआ। वह अनुभूति सच्ची और बलवती थी। फिर भी उसके लिए जीवन मे जिस क्राति की आवश्यकता थी उससे पहले-पहले मुझे भय लगा और मैंने उससे समझौता कर लिया। मुझसे तो जो बात प्रत्येक व्यक्ति कहता था और जो सृष्टि के आरम्भ से सभी लोग कहते आए है उसीपर मैंने भी विश्वास कर लिया—अर्थात मैंने यह मान लिया कि वैभव और ऐश्वर्य में कोई बुराई नही, ये ईश्वर की देन हैं और मनुष्य ऐश्वर्यपूर्ण जीवन विताते हुए भी अभागो की सहायता कर सकता है। मैने इस बात पर विश्वास करके इसीके अनुसार कार्य करने का निश्चय किया और एक लेख लिखकर धन-वानो को निर्धनो की सहायता के लिए ललकारा। सभी धनिको ने यह स्वीकार तो कर लिया कि दरिद्रो की सहायता करना उनका नैतिक कर्त्तव्य है; परतु इस कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए कोई भी आगे नही

बढा। इससे यह स्पष्ट था कि या तो वे सहायता करना चाहते ही नही थे या उनमे सहायता करने की सामर्थ्य नही थी।

मैं गरीबो मे आने-जाने लगा और वहा मैंने जो-कुछ देखा उसे देखने की मैंने कभी कल्पना भी नहो की थी। एक ओर तो उन 'पाप की गुफाओ' मे—जैसा कि मै उन कोठरियो को कहा करता था—मुझे ऐसे लोग दिखाई दिये जिनकी सहायता करने का मेरे लिए प्रश्न ही नही उठता था, क्योकि वे मजदूर थे, उन्हें काम करने और कष्ट सहने का अभ्यास था और इसलिए उनका जीवन मेरी अपेक्षा कही अधिक पक्की नीव पर स्थित था। दूसरी ओर मेरे सामने ऐसे दीन-दुखिए आए जिनकी सहायता करने मे मै असमर्थ था, क्योकि वे सब मेरे ही समान थे। उनमे से अधिकाश की दुर्दशा का कारण यह था कि वे अपनी रोटी आप कमाने की सामर्थ्य, इच्छा और आदत खो बैठे थे। दूसरे शब्दो में यो कहिये कि वे मेरे ही समान अकर्मण्य थे।

भूखो मरती अगाफिया के अतिरिक्त मुझे एक भी ऐसा दुखिया नही मिला,—चाहे वह बीमार हो, चाहे जाडे में ठिठुरता हुआ, चाहे भूखा—जिसकी सहायता तत्काल की जा सकती। अत मुझे इस बात का विश्वास हो गया कि जिन दीन-दुखियो की मै सहायता करना चाहता हू उनके जीवन से अलग रहने के कारण उनका पता लगाना मेरे लिए प्राय असम्भव-सा होगा, क्योकि उनमे से किसीको जब कभी कोई वास्तविक आवश्यकता होती है तो उन्हीके बीच रहनेवाले दूसरे दीन-दुखिए उस आवश्यकता की पूर्ति कर देते है। सबसे अधिक विश्वास तो मुझे इस बात का हो गया कि पैसे के बल पर मै उनके दुखी जीवन को बदलने मे समर्थ नही हो सकूगा।

फिर भी जिस काम मे मै हाथ डाल चुका था उससे किनारा काटने की झूठी लज्जा के कारण और परोपकारिता की भावना से मदाध होकर मैंने अपना काम उस समय तक जारी रखा जबतक कि वह स्वय निरर्थक नही बन गया। जैसा कि मै पहले बता चुका हू, उन ३७ रूबलो से, जिन्हे मैं अपना नही समझता था, मै बडी कठिनाई से छुटकारा पा सका और ईवान फिदोतिश की सहायता

से जैसे-तैसे करके उन्हे रज्हानोफ-भवन के दुखियो मे बाट पाया ।

अगर मैं चाहता तो अपने काम को जारी रखकर परोपकारिता का ढोग रच सकता था। इसी तरह यदि मै चाहता तो जिन लोगो ने मुझे धन देने का वचन दिया था उन्हे विवश करके रुपया वसूल कर सकता था। इसके अतिरिक्त मै और भी अधिक धन एकत्र कर कगालो मे बाट सकता था और इस प्रकार अपनी परोपकारिता पर सतोष की सास ले सकता था, परतु मैंने देखा कि हम धनवानो में इस बात की न तो इच्छा है न सामर्थ्य ही कि हम अपने बहुल धन का एक भाग निर्धनो के लिए अलग उठाकर रख दें, क्योकि हमारी अपनी ही आवश्यकताए अनेक है। इसके अतिरिक्त मैंने यह भी देखा कि यदि हम सचमुच कगालो की सहायता करना चाहते है और अपना रुपया योही अललटप लुटाना नही चाहते, जैसा कि मैंने रज्हानोफ-भवन में किया था, तो सहायता देने योग्य कोई पात्र ही नही मिलेगा। इसीलिए मैंने सारा काम छोड दिया और निराश तथा दुखी होकर देहात चला गया।

वहा पहुचकर इच्छा हुई कि अपने अनुभवो पर एक लेख लिखू और उसमे बतलाऊ कि मेरा काम सफल क्यो नही हुआ। मै चाहता था कि मर्दुमशुमारीवाले लेख के सम्बध मे मुझपर जो आक्षेप किये गए थे उनका यथोचित उत्तर दू, समाज को उसकी उदासीनता के लिए दोषी ठहराऊ और शहर की गरीबी के कारणो, उसे दूर करने की आवश्यकता और अपने मतानुसार उसके उपायो पर भी प्रकाश डालू।

मैंने लेख लिखना आरम्भ कर दिया और सोचा कि वह बडा ही बहुमूल्य होगा, किंतु बार-बार चेष्टा करने पर और सामग्री की बहुलता रहने पर भी मै लेख आगे नही बढा सका और वह कही अब* आकर समाप्त हो पाया है। इस विलम्ब के कई कारण थे। एक तो

---

* सन् १८८५–६ के जाडो मे

यह कि मैं क्रोधावेश मे लिख रहा था; दूसरे यह कि मैं उन प्रवचनाओ से मुक्त नही हो पाया था जो समस्या को ठीक प्रकाश में आने से रोक रही थी। तीसरी और सबसे बडी बात यह थी कि यद्यपि इन सब बातो का कारण बडा ही साधारण था और उसकी जडें स्वय मुझमे जमी हुई थी तथापि मुझे अभी तक उसका ठीक-ठीक और स्पष्ट ज्ञान नही हो पाया था।

नैतिक क्षेत्र में कुछ ऐसी बात हो जाया करती है जो आश्चर्यजनक होती है और जिसकी ओर लोग बहुत ही कम ध्यान देते है।

यदि मैं भूगर्भ-विज्ञान, ज्योतिष, इतिहास, पदार्थ-विज्ञान अथवा गणित-शास्त्र की कोई बात किसी ऐसे व्यक्ति को बतलाऊ जो उसे नही जानता तो उसे वह नए ज्ञान के रूप मे ग्रहण करेगा और यह कभी नही कहेगा कि इसमे नई बात क्या है, यह तो प्रत्येक व्यक्ति जानता है और मुझे तो इसका बहुत पहले से पता था। किंतु किसी श्रेष्ट नैतिक सत्य को आप चाहे कितने भी स्पष्ट-से-स्पष्ट और सक्षिप्त-से सक्षिप्त रूप में समझाने की चेष्टा क्यो न करे, प्रत्येक साधारण मनुष्य—विशेषत वह जिसे नैतिक प्रश्नो मे कोई दिलचस्पी नही और जिसपर नैतिक शिक्षा का उलटा ही प्रभाव पडता है—यही कहेगा कि अजी, इसको कौन नही जानता? इसे तो लोग पहले भी जानते और कहते थे। वास्तव मे वह समझता भी यही है कि बहुत पहले भी ऐसी ही शिक्षा दी जाती थी और ठीक इसी ढग से। केवल वे लोग जो नैतिक सत्य को एक गम्भीर और बहुमूल्य वस्तु मानते है यह समझ पाते है कि नैतिक सत्य कितना महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान होता है और कितने परिश्रम और अध्यवसाय के बाद उसे बुद्धिगम्य तथा सरल बनाया जाता है, अर्थात किस प्रकार धुधली तथा अनिश्चित कल्पनाए और इच्छाए धीरे-धीरे विकसित होकर ऐसे अविचल और सुनिश्चित भावो का रूप धारण करती हैं, जिन्हे हृदयगम करने के लिए तदनुकूल ही आचरण की आवश्यकता होती है।

हम लोगो को यह सोचने की आदत-सी पड गई है कि नैतिक शिक्षा एक बिलकुल तत्त्वहीन और नीरस वस्तु है, जिसमे कोई

नवीनता या सरसता हो ही नही सकती। फिर भी तथ्य यह है कि मनुष्य के सभी जटिल क्रिया-कलापो का; उसके राजनीतिक, वैज्ञानिक, कलात्मक, व्यावसायिक आदि विविध कार्यो का, जिनका नैतिकता से कोई बाह्य सम्बध नही होता, केवल एक लक्ष्य होता है और वह है नैतिक सत्य को अधिक-से-अधिक स्पष्ट बनाना, उसकी अधिक-से-अधिक पुष्टि करना और उसे अधिक-से-अधिक सुगम बनाते हुए अधिक-से-अधिक प्रचारित करना।

मुझे याद है कि एक बार जब मै मास्को की एक गली से होकर जा रहा था तब मैने देखा कि एक आदमी एक दूकान से निकला। उसने गली मे लगे हुए पत्थरो को ध्यानपूर्वक देखकर उनमे से एकको चुना और मुझे ऐसा लगा कि उसपर बैठकर वह पूरे बल और उत्साह के साथ उसे खुरचने या घिसने लगा। "यह आदमी रास्ते के पत्थर पर क्या कर रहा है ?"—मैने सोचा और जब उसके पास जाकर देखा तो पता चला कि वह लडका कसाई की दूकान पर काम करता है और सडक के पत्थर पर अपना चाकू तेज कर रहा है।

पत्थरो की परीक्षा करते समय लडका पत्थरो के बारे मे कुछ नही सोच रहा था और बाद मे चाकू तेज करते समय तो वह उनके सम्बध में और भी कम सोच रहा था। वह तो केवल अपना चाकू तेज कर रहा था, क्योकि गोश्त काटने के लिए उसे चाकू तेज करने की आवश्यकता थी। किंतु मुझे ऐसा लगा जैसे वह सडक के पत्थरो के साथ कुछ कर रहा है। इसी प्रकार, यद्यपि प्रतीत यह होता है कि मनुष्य व्यापार, सधि, युद्ध, विज्ञान, कला आदि विविध बातो में सलग्न है तथापि वास्तव मे उसके लिए केवल एक ही कार्य महत्वपूर्ण होता है और वह उसी कार्य को करता है। वह कार्य है अपने तईं उन नैतिक सूत्रो की व्याख्या करना जिनके बल पर वह जीवनयापन करता है।

नैतिक सूत्र सदा से ही चले आए है, मनुष्य उनकी व्याख्या भर करता है। जो लोग इन नैतिक सूत्रो को नही चाहते और उनके अनुसार जीवनयापन करने की कामना नही रखते, उन्हे यह व्याख्या तुच्छ और

निरर्थक प्रतीत होती है; किन्तु नैतिक सूत्रो की व्याख्या करना मानव-जाति का मुख्य ही नही वल्कि एकमात्र कर्त्तव्य है। यह व्याख्या उसी प्रकार अलक्षित रहती है जिस प्रकार खुट्टल और पैनी छुरी का भेद अलक्षित रह सकता है। छुरी तो छुरी होती है। जिसे उससे कुछ काटना नही होता उसकी दृष्टि उसके खुट्टलपन और पैनेपन के भेद पर नही जाती। किंतु जो व्यक्ति समझता है कि छुरी के खुट्टल अथवा पैनी होने पर ही उसका सारा जीवन निर्भर है उसके लिए छुरी को तेज वनाने की प्रत्येक क्रिया महत्वपूर्ण होती है। वह यह भी जानता है कि पैना करने की यह क्रिया अनत है और सच्ची छुरी वही है जो पैनी हो और जिससे जो चाहे काटा जा सके।

जब मै यह लेख लिखने वैठा तव मेरी यही दशा हुई। मै सोचता था कि ल्यापिन-अनाथालय और मर्दुमशुमारीवाली अनुभूतियो के फलस्वरूप मेरे मन मे जो प्रश्न उठे है उनके विषय मे मै सव-कुछ जानता और समझता हू, किंतु जब मैने उन्हे समझने और व्यक्त करने की चेष्टा की तव मैने देखा कि मेरी छुरी से कुछ कटता नही और उसे तेज करना होगा। और अव पूरे तीन वर्ष वीत जाने पर मै यह अनुभव कर रहा हू कि मेरी छुरी मे अव इतनी धार आ गई है कि उससे मै जो चाहू काट सकता हू। इसका यह अर्थ नही है कि मुझे कोई नई वात मालूम हो गई है। मेरे विचार अव भी वैसे ही है जैसे पहले थे। अतर केवल इतना है कि पहले वे अस्पष्ट थे, आसानी से विखर जाते थे और केन्द्रीभूत नही होते थे, उस समय उनमे पैनापन नही था और वे आज की तरह एक सरलतम तथा स्पष्टतम निर्णय मे वद्ध नही हो पाते थे।

: १३ :

गांवों पर शहर की विलासिता का प्रभाव

मुझे याद है कि नगर के दीन-दुखियो की सहायता करने का निष्फल प्रयत्न करते समय मुझे ऐसा लगता था कि जिस दलदल से मै

दूसरो को वाहर निकालने की चेप्टा कर रहा हू उसमें स्वय खडा हुआ हू। मेरे प्रत्येक नए प्रयत्न ने मुझे यह अनुभव करने के लिए वाध्य किया कि जिस धरती पर मै खडा हू वह पोली है। मैंने अनुभव तो किया कि मै दलदल मे हू, किंतु इस अनुभूति से उस समय मुझमे यह प्रेरणा उत्पन्न नही हुई कि मै अपने पैरो तले की भूमि की अधिक सावधानी के साथ जाच-पडताल करू और पता लगाऊ कि मै किस वस्तु पर खडा हू। मै तो अपने चारो ओर फैली हुई वुराई को दूर करने के लिए लगातार वाहरी उपायो की खोज में ही लगा रहा।

उन्ही दिनो मैंने यह भी अनुभव किया कि मेरा जीवन वुरा है और इस प्रकार रहने से काम नही चलेगा। इतने पर भी मै इस सहज और स्पष्ट निष्कर्ष पर नही पहुच सका कि मुझे अपने रहन-सहन मे सुधार कर उत्तमतर जीवन विताना चाहिए। इसके विपरीत, मै इस विचित्र निष्कर्ष पर पहुचा कि अपने जीवन को उत्तम वनाने के लिए दूसरो का जीवन सुधारना आवश्यक है और वस मै इसी सुधार-कार्य में लग गया।

मै नगर में रहता था और वहा रहनेवाले दूसरे लोगो के जीवन को सुधारना चाहता था, किंतु मुझे शीघ्र ही इस वात का विश्वास हो गया कि यह काम मेरे लिए सम्भव नही है और इसीलिए मै शहरी जीवन तथा निर्धनता के रूप पर विचार करने लगा।

"यह शहरी जीवन और शहरी निर्धनता है क्या वस्तु? क्या कारण है कि मै शहर मे रहते हुए शहर के कगालो की सहायता नही कर सकता?" ये प्रश्न मेरे मन मे उठे और उनका मेरे मन ने ही जो उत्तर दिया वह इस प्रकार था—"मै उनके लिए कुछ नही कर सकता, क्योकि एक तो वे एक ही स्थान पर वहुत वडी सख्या में विद्यमान है और दूसरे वे गाव के गरीवो से विलकुल भिन्न है।"

"तो फिर उनके यहा इतनी वडी सख्या मे होने का क्या कारण है और उनमें तथा गाव के गरीवो मे क्या भेद है?"—ये प्रश्न मेरे मन में फिर उठे और इनका एक ही उत्तर मिला—"इन निर्धनो के यहा इतनी वडी सख्या मे विद्यमान होने का कारण यह है कि गाव में जो

लोग अपना पेट नही भर पाते वे सबके सब यहां आकर अमीरो के आसपास इकट्ठे हो जाते है। इनकी विशेषता ही यह है कि रोटी कमाने के लिए ये गाव छोडकर शहर में आ बसे है। यदि इनमें कुछ ऐसे है जिनका जन्म शहर में ही हुआ था और जिनके बाप-दादा भी शहर मे ही पैदा हुए थे तो इसका यह मतलब है कि इनके पूर्वज यहां रोटी कमाने आए होगे।

"शहर में रोटी कमाना !" इसका क्या अर्थ है ? इन शब्दो पर विचार करने से पता चलता है कि इनमे एक अजीब मजाक-जैसी बात है। जिस देहात में जगल है, मैदान है, अनाज है, चौपाए है, साराश यह कि जहा धरती की सारी सम्पदा है—उस देहात को छोडकर लोग रोटी कमाने के लिए भला ऐसी जगह क्यो आते है, जहा न पेड है, न घास, न धरती और जहा सिर्फ पत्थर और धूल-ही-धूल है ? जिन शब्दो का प्रयोग खाने और खिलानेवाले दोनो ही इस प्रकार करते है मानो उनके लिए वे सर्वथा स्पष्ट और बुद्धिगम्य हो, उन शब्दो का क्या अर्थ है ?

मुझे याद है कि जब मैंने नगर मे रहनेवाले सैकड़ो और हजारो लोगो से—जिनमें से कुछ अमीर थे और कुछ गरीब—यह पूछा कि आप नगर में क्यो आए है तो उनमे से प्रत्येक ने बिना किसी अपवाद के यही उत्तर दिया—

"मास्को में बोया-काटा नही जाता, फिर भी वहा धन का ढेर लगा है।"

सबने यही कहा कि मास्को में प्रत्येक वस्तु की बहुलता है और वही एक ऐसा स्थान है जहा वे उस धन का उपार्जन कर सकते है जिसकी उन्हे गाव में अनाज, मकान, घोडा और जीवन-सम्बधी अन्य आवश्यक सामग्री खरीदने के लिए आवश्यकता पडती है। फिर भी यह तो सब जानते है कि गाव ही समस्त सम्पदा का उद्गम है और वही वास्तविक धन—अनाज, लकडी, घोड़ा आदि—मिलता है। तो फिर जो वस्तु देहात में उपलब्ध है, उसे लेने के लिए लोग शहर क्यो जाते है ? इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि गाववालो को आटा, जौ, घोडे,

चौपाए आदि जिन पदार्थों की स्वय आवश्यकता रहती है उन्हें वे लोग देहात से शहर मे क्यो ले आते है ?

इस विषय पर मैंने शहर में रहनेवाले किसानो से सैकडों बार चर्चा की और उनकी बातचीत तथा अपने अध्ययन से मै इस परिणाम पर पहुचा हू कि गाववालो का शहर में आना कुछ तो अनिवार्य है, क्योंकि उनके पास पेट पालने का कोई दूसरा साधन नही और कुछ स्वेच्छापूर्ण है, क्योंकि नागरिक जीवन के प्रलोभन उन्हे आकर्षित करते है। यह सच है कि देहात मे किसान की स्थिति कुछ ऐसी होती है कि उसे अपने सिर पर आ पडनेवाले विविध व्ययो की पूर्ति के लिए अपना वह अनाज और पशु-धन वेचना पडता है जिसकी वह जानता है कि उसे स्वय आवश्यकना पडेगी। इस प्रकार विवश होकर—चाहे वह पसन्द करे या न करे—उसे अपना अनाज वापस पाने के लिए शहर जाना पडता है, किंतु साथ-ही-साथ यह भी सच है कि शहर मे पैसा कमाने की जो अपेक्षाकृत आसानी होती है उससे आकर्षित होकर और शहरी जीवन के वैभव के लोभ मे भी वह शहर की ओर खिंचा चला जाता है। वहा वह जीविका कमाने का बहाना लेकर कम मेहनत का काम ढूढने, बढिया खाने-पहनने, दिन में तीन-चार बार चाय लेने और शराब के नशे मे चूर होकर स्वेच्छाचारितापूर्ण जीवन बिताने के लिए भी जाता है।

दोनो परिस्थितियो का कारण एक ही है; वह यह कि धन उत्पादको के हाथ से निकलकर उन लोगो के पास चला जाता है जो उत्पादक नही है और इस प्रकार शहर में इकट्ठा हो जाता है। जब सर्दी का मौसम आता है तब ऐसा लगता है जैसे लक्ष्मी गावो मे आ बसी हो, किंतु तत्काल ही कर, फौजी भरती, लगान आदि सिर पर आ पडते है और वोडका, शादी-विवाह, उत्सव, खोमचेवाले आदि अनेक आकर्षण मन को खीचने लगते है। परिणाम यह होता है कि भेड, बछडा, गाय, घोडा, सूअर, मुर्गी अडा, मक्खन, सन, राई, जौ, मेथी, मटर, पाट के बीज, अलसी आदि विभिन्न रूपो में सारी सम्पत्ति दूसरे आदमियो के हाथ चली जाती है और फिर देहातो से कस्बो में तथा कस्बो से शहर में पहुचा

दी जाती है। बेचारा किसान कुछ तो अपने खर्चों की पूर्ति के लिए और कुछ प्रलोभनो के चक्कर में पडकर अपनी समस्त सम्पत्ति को बेचने के लिए विवश हो जाता है और फिर कगाल बनकर उसी जगह जाता है जहा उसका धन गया है। वहा वह कुछ तो इस बात का प्रयत्न करता है कि देहात मे उसे जिन पदार्थों की नितान्त आवश्यकता है उन्हे प्राप्त करने के लिए पैसे कमा ले और कुछ शहर के प्रलोभनो मे फसकर वह दूसरो के साथ व्यसनो मे लिप्त हो जाता है।

सारे रूस मे—रूस मे ही क्यो, मै समझता हू कि सारे ससार मे–ऐसा ही होता है। ग्रामीण उत्पादको का धन व्यापारियो, जमीदारो, अफसरो और मिल-मालिको के हाथ मे चला जाता है। जिन्हे धन मिलता है, वे स्वभावत उसका उपभोग करना चाहते हैं और उसका पूरा-पूरा उपभोग वे केवल नगर मे कर सकते है। देहात मे लोग एक-दूसरे से दूर-दूर रहते हैं जिसके कारण धनवानो की सारी आवश्यकताओ की पूर्ति कठिन होती है, क्योकि वहा न तो कारखाने होते है, न बडी-बडी दूकाने, न बैंक, न होटल, न थियेटर, न मनोरजन के विभिन्न साधन। इसके अलावा, धन से मिलनेवाला जो एक बडा सुख अभिमान है, अर्थात् दूसरो को अपनी शान-शौकत से चकित करने और नीचा दिखाने की जो तृष्णा है, वह भी लोगो के दूर-दूर रहने के कारण गाव मे बडी कठिनाई से तृप्त हो पाती है। गाव मे भोग-विलास की वस्तुओ के पारखी नही होते, वहा ऐसे लोग नही होते जिनकी आखो मे इन वस्तुओ से चकाचौध पैदा की जाय। गाव के मकान को चाहे जितना सजाइए, उनमें चाहे जितने चित्र और मूर्त्तिया लाकर रखिए, चाहे जितने गाडी-घोडे और सौन्दर्य-सामग्रिया जुटाइए, वहा उनकी प्रशसा या उनसे ईर्ष्या करनेवाला कोई नही मिलेगा, क्योकि किसान लोग इन चीजो के बारे मे कुछ नही समझते। तीसरी बात यह है कि आत्मा की पुकार सुननेवाले और सामाजिक औचित्य की चिन्ता करनेवाले व्यक्ति को गाव मे विलासिता अरुचिकर ही नहीं, बल्कि सकटजनक भी प्रतीत होती है। जबकि दूध वहाके बच्चो को भी पीने को नसीब नही होता हमारा उससे नहाना या पिल्लो

को पिलाना बडा ही भद्दा और अरुचिकर प्रतीत होता है। इसी तरह जो लोग खाद से घिरी हुई कच्ची झोपडियो में रहते है और जिनके पास आग जलाने के लिए लकडी भी नही होती, उनके बीच बडे-बडे मडप वनवाना और वाग लगवाना कप्टकर तथा अस्वाभाविक मालूम देता है। मूर्ख किसान यदि अज्ञानवश इन सव चीजो को नप्ट कर दें तो देहात में ऐसा कोई अधिकारी नही जो उन्हे नियत्रण मे रख सके।

इसीलिए धनी लोग शहरो में इकट्ठे होते है और अपनी ही जैसी रुचि के दूसरे धनवानो के बीच जा वसते है। वहा भोग-विलास के हर प्रकार के साधन की सावधानी के साथ निगरानी करने के लिए वहुत-सी पुलिस तैनात रहती है। इस तरह के शहरियो में मुख्य स्थान सरकारी कर्मचारियो का है। उनके आसपास तरह-तरह के कारीगर, व्यापारी और धनी लोग आ वसे है। धनियो को किसी वस्तु के लिए वस इच्छा भर करने की आवश्यकता होती है और वह वस्तु उनके सामने कर दी जाती है। नगरो मे रहना धनिको को अधिक प्रिय भी होता है, क्योंकि वहा उनके अभिमान को सतुप्टि का मार्ग मिल सकता है। वहा वे भोग-विलास मे दूसरो के साथ होड़ कर सकते है, उन्हे चकित कर सकते है और नीचा भी दिखा सकते हैं। सवसे वडी वात, जिसके कारण उन्हें शहर में रहना अधिक रुचिकर प्रतीत होता है, यह है कि पहले तो वैभवशाली होने के कारण उन्हे अपने गाव मे रहना वड़ा अप्रिय और कप्टकर लगता था और अव नगर में आ जाने पर उन्हें शान-शौकत से न रहना अप्रिय मालूम होता है, क्योंकि नगर में आसपास के सभी लोग ऐसे ही रहते है। रहन-सहन का जो ढग उन्हे गाव मे भयप्रद और भद्दा प्रतीत होता था, वही नगर में विलकुल उचित लगता है। नगर मे एकत्र होकर धनवान लोग अधिकारियो की छत्रछाया मे शातिपूर्वक उन्ही पदार्थो की माग करते है जो गाव से आते है। जहां अमीर लोग नित्य-नए आमोद-प्रमोद मनाते है और गाव से हथियाए हुए धन का उपभोग करते है वहा जाने के लिए कुछ अंश मे ग्रामीणो को वाध्य हो जाना पडता है ताकि वे अमीरो की मेज से गिरनेवाले जूठन से अपना पेट भर सकें। अमीरो के इस आरामतलव

और वैभवपूर्ण जीवन को देखकर कुछ-कुछ देहातियो की भी इच्छा अपने जीवन की इस प्रकार व्यवस्था करने की होती है कि उन्हे स्वयं तो कम काम करना पडे और वे दूसरो के परिश्रम का अधिक सुख भोग सके। स्मरण रहे कि इस प्रकार के जीवन को सभी लोग अच्छा समझते है और उसका समर्थन करते है।

यही कारण है कि देहात के स्त्री-पुरुष शहर जाते है और वहा धनिको का पता लगाकर उनसे उन पदार्थो को, जिनकी उन्हे आवश्यकता होती है, हर सम्भव रीति से वापस लेने का प्रयत्न करते है। इसके लिए अमीर लोग उनपर जो शर्ते लगाते है, उन्हे वे स्वीकार कर लेते है। वे उनकी सारी मनोवाछित उमगो की पूर्ति मे सहायता देते है, या तो उनकी स्त्रिया या वे स्वय हमामो और होटलो मे नौकरी बजाते है, कोचवानी या वेश्यावृत्ति करते है, गाडिया, खिलौने और फैशनेबिल कपडे बनाते है और धीरे-धीरे धनवानो से उनकी ही तरह रहना सीख लेते है। अर्थात, वे स्वय श्रम न कर दूसरो की भिन्न-भिन्न युक्तियो द्वारा इकट्ठी की हुई सम्पत्ति का अपहरण करना जान जाते है और इस प्रकार बिगडकर नष्ट हो जाते है। शहरो मे शहर के पैसे से बिगडे हुए ऐसे ही निर्धन रहते है। मै इन्हीकी सहातया करना चाहता था, किंतु कर न सका।

ज़रा गाव के उन लोगो की स्थिति पर विचार कीजिए जो पेट पालने या टैक्स भरने के लिए पैसा कमाने शहर आते है। एक ओर तो उन्हे एक-एक पैसे के लिए एडी-चोटी का पसीना एक करना पडता है, दूसरी ओर वे देखते है कि उनके चारो ओर लोग पागलो की भाति हजारो रुपए पानी की तरह बहा देते है और चुटकियो मे सैकडो रुपए कमा लेते है। ऐसी अवस्था मे यदि उसमे से एक भी व्यक्ति मेहनत-मजदूरी करके पेट पालना पसन्द करता है और यदि सबके सब पैसा कमाने के आसान साधनो—व्यापार, पशु-विक्रय, भिक्षा, व्यभिचार, धोखा-धडी चोरी आदि—का आश्रय नही लेते तो यह निस्सदेह आश्चर्य की बात है।

शहर की अनन्त रगरलियो मे भाग लेते-लेते हम लोग इस प्रकार के जीवन के इतने अभ्यस्त हो जाते है कि हमें अकेले एक आदमी का पाच

वडे-वडे कमरो में रहना सर्वथा स्वाभाविक मालूम पडने लगता है—ऐसे कमरे, जिन्हें गरम करने के लिए इतना ईंधन जलाया जाता है जितना वीस परिवारो के लिए भोजन वनाने और उनके घरो को गरम रखने के लिए काफी हो सकता है। इसी प्रकार आध मील जाने के लिए दो घोडे और दो सईस रखने, अपने वेल-वूटेदार फर्शों पर गलीचे विछाने और नाच-गाने में दस-पाच हजार रूवल व्यय कर देने की वात तो दूर रही, वडे दिन के वृक्ष के लिए २५ रूवल खर्च करना आदि भी हमें स्वाभाविक मालूम पडने लगता है। किंतु जिस आदमी को अपने परिवार का पेट पालने के लिए दस रूवलो की आवश्यकता है, अथवा जिसकी आखिरी भेड़ सात रूवल का कर भरने के लिए विकी जा रही है और जो कडी मेहनत करके पैसा पैदा नही कर पाता, वह ऐसे जीवन का अभ्यस्त नहीं वन सकता। हम लोग समझते है कि ये सव वातें गरीवो को स्वाभाविक मालूम देती हैं। कुछ लोग तो यह कहते हुए भी नही हिचकते कि हमारे राग-रग से गरीवो का पेट पलता है और इस बात के लिए वे हमारे कृतज्ञ हैं, परतु निर्धन होने से मनुष्य की वुद्धि नही मारी जाती। निर्धन भी हमारी ही तरह तर्क-वितर्क कर सकते हैं। जव हम सुनते हैं कि किसीने दस वीस हजार रूवल उडा दिये तो तत्काल हमारे मन मे यही विचार आता है—"कितना मूर्ख और वेकार आदमी है यह, जिसने इतने रुपए व्यर्थ ही वर्वाद कर दिये! अगर इतने रुपए मेरे होते तो इनका मैं अपने खेत मे उन्नति करने या उस मकान को वनवाने में सदुपयोग करता जिसे वनवाने की मुझे इतने दिनो से इच्छा थी," आदि-आदि। कगालो के मन मे भी धन को मूर्खतापूर्वक नष्ट होते देख ठीक इसी प्रकार के विचार उठते हैं। सच पूछिए तो उनके मन में ये तर्क-वितर्क और भी अधिक होते है, क्योंकि उन्हें उस धन की आवश्यकता किसी लोभ की पूर्त्ति के लिए नही, वल्कि जीवन की अपरिहार्य आवश्यकताए जुटाने के लिए होती हैं। हम लोग यह सोचने में वहुत वडी भूल करते है कि गरीव लोग इन वातो पर ध्यान नही देते और वे अपने चारो ओर फैली हुई विलासिता को शांतिपूर्वक देख सकते है।

निर्धनो ने इस बात को कभी उचित नही माना और न मानेंगे कि कुछ लोग तो सदा गुलछर्रे उडाय और कुछ भूखो मरें और हड्डिया तोडें। इस अन्याय को देखकर पहले तो उन्हे आश्चर्य के साथ-ही-साथ क्रोध आता है, किंतु बाद मे वे इसके अभ्यस्त हो जाते है और यह देख-कर कि समाज की ऐसी ही व्यवस्था ठीक मानी जाती है वे स्वय भी काम से बचने तथा सदा रगरलिया मनाने की चेष्टा करते है। कुछको सफलता मिल जाती है और वे सदा आनन्द-भोग मे मस्त रहने लगते है, कुछ इस प्रकार के जीवन को प्राप्त करने के लिए धीरे-धीरे अपनी भावनाए उत्तेजित करने लगते है और कुछ अपनी लक्ष्य-प्राप्ति में असफल होने के कारण हताश हो जाते है और मेहनत-मजदूरी की आदत छूट जाने से वेश्यालयो या अनाथाश्रमो की शरण लेते है।

दो वर्ष हुए हम लोग एक किसान के लडके को नौकरी करने के लिए गाव से लाए। उसकी दरबान से नही पटी और वह निकाल दिया गया। बाद मे उसे एक सौदागर के यहा काम मिल गया। उसने सौदागर को खुश कर लिया और अब वह चमचमाते हुए बूट पहनकर अपनी वास्कट मे जजीर लगाए फिरता है। उसकी जगह हमने एक गृहस्थ किसान को नौकर रखा। वह शराब पीने लगा और कुछ रुपए गवा बैठा। हमने तीसरा आदमी रखा। वह पियक्कड था। उसने कपडे-लत्ते बेचकर शराब पी डाली और फिर बहुत दिनो तक वह अनाथालयो मे मारा-मारा फिरता रहा। इसी तरह एक बूढा बावर्ची गाव से शहर मे आकर शराब पीने का आदी बन गया और बीमार पड गया। एक दरबान भी, जो पहले बहुत शराब पीता था किंतु जो गाव में रहते हुए पिछले पाच वर्ष से अपने को नशे से बचाता आया था, पार-साल मास्को आकर फिर शराब पीने लगा और इसीमे उसने अपना सारा जीवन नष्ट कर डाला। गांव मे तो उसकी स्त्री उसे शराब पीने से रोकती रहती थी; किंतु शहर मे वह अकेला ही रहता था और उसे रोकनेवाला कोई नही था। हमारे गाव का एक लड़का मेरे भाई के यहा नौकरी करता है। जब मैं गाव गया था तो एक दिन

उसका अधा दादा मेरे पास आया और बोला कि बाबूजी, किसी तरह मेरे पोते को शर्मिन्दा करके टैक्स के लिए दस रूबल भिजवा दो, नही तो मुझे अपनी गाय बेचनी पडेगी। बूढे ने कहा—"वह हमेशा यही कहता है कि शहर में अच्छे-अच्छे कपडे पहनने पडते है। उसने बूट खरीद लिये है। इतना ही बहुत है, लेकिन मेरा खयाल है कि अब वह घडी खरीदने की धुन में है।" बूढे ने यह बात इस तरह कही जैसे उसकी राय मे घडी खरीदने से बढकर और कोई पागलपन हो ही नही सकता। निस्सन्देह यदि लोगो को यह मालूम हो जाय कि बेचारे बूढे को लेन्ट के व्रत मे खाने के साथ तेल तक मयस्सर नही हुआ था और एक रूबल तथा बीस कोपेक का ऋण न भर सकने के कारण उस-की काटी हुई लकडी उसके हाथ से निकली जा रही है तो उन्हे उसके पोते का घडी खरीदने का प्रस्ताव पागलपन ही जचेगा। बाद में पता चला कि बूढे का आक्षेप ठीक था। उसका पोता बढिया कपडे का काला ओवरकोट और बूट पहने मेरे पास आया। ये बूट उसने आठ रूबल में खरीदे थे। कुछ दिन पहले उसने मेरे भाई से दस रूबल पेशगी लिये थे और उन्हीमे से वह बूट खरीद कर लाया था। मेरे लडको ने, जो उसे बचपन से जानते है, मुझे यह भी बतलाया कि घडी खरीदना वह सचमुच अपने लिए आवश्यक समझता है। लडका बहुत अच्छे स्वभाव का है; किंतु समझता है कि जबतक उसके पास घडी नही होगी तबतक लोग उसकी हसी उडाते रहेगे, इसलिए घडी उसके लिए जरूरी है। इस साल हमारे यहाकी एक अट्ठारह वर्ष की नौकरानी का साईस के साथ सम्बध हो गया। इसपर उसे हमने निकाल दिया। इस बात की चर्चा जब मैंने अपनी बूढी धाय से की तो उसने मुझे एक और दुखिया लडकी की याद दिलाई जिसे मै भूल गया था। दस साल पहले जब हम कुछ दिनो के लिए मास्को रहे थे तब उसका भी एक दरवान से सम्बंध हो गया था और उसे भी हमने नौकरी से अलग कर दिया था। अंत में वह एक वेश्यालय मे जा पहुची थी और अपने जीवन का बीसवा वर्ष पूरा करने से पहले-ही-पहले उपदश रोग से पीडित होकर एक अस्पताल में मर गई थी। यदि हम उन मिलो और

कारखानो को छोड दे जो हमारे लिए भोग-विलास की सामग्री तैयार करने में निरतर रत रहते है तो भी हम अपने चारो ओर उस छूत को देखकर दहल उठेंगे जो हम अपनी विलासिता द्वारा ठीक उन्ही लोगो मे प्रत्यक्ष रूप से फैलाते है जिनकी बाद मे हम सहायता करना चाहते है।

इस प्रकार जिस नागरिक दरिद्रता को दूर करने मे मै असमर्थ रहा था, उसके स्वरूप का अध्ययन करने पर मुझे उसके दो कारण दिखाई दिये—पहला तो यह है कि मेरे-जैसे लोग गाववालो की आवश्यकता की चीजे एकत्र कर शहर ले आते है और दूसरा यह कि शहर मे हम गावो से बटोरी हुई सम्पत्ति के बल पर ऐश-आराम करते है और अपनी विलासिता से उन ग्रामीणो को ललचाते तथा भ्रष्ट करते है जो गाव से लाई गई वस्तु को किसी-न-किसी प्रकार वापस ले जाने के लिए हमारे पीछे-पीछे शहर आते है।

: १४ :

बीच की दीवार

इससे बिलकुल विपरीत दृष्टिकोण से विचार करने पर भी मै इसी निष्कर्ष पर पहुंचा। इस बीच शहर के कगालो के साथ मेरा जो सम्बध स्थापित हुआ था उसपर विचार करने पर मैने यह अनुभव किया कि उन कगालो की सहायता न कर सकने का एक कारण यह था कि उन्होने मेरे साथ कपट किया और मुझसे झूठ बोला। वे मुझे मनुष्य नही, एक साधन समझते थे। मै उनके सम्पर्क मे न आ सका और मैने सोचा कि शायद यह काम मुझे आता ही नही; किंतु मैने देखा कि जबतक वे सचाई से काम नही लेगे तबतक उनकी सहायता नही की जा सकती। जबतक कोई व्यक्ति अपनी पूरी स्थिति न बतलाय तबतक उसकी सहायता कैसे की जा सकती है ? पहले मैने इसका दोष कगालो के ही सिर मढा—दूसरो पर दोषारोपण करना बड़ा स्वाभाविक

होता है, किंतु उन दिनो मेरे पास ठहरे हुए सुताएफ* नामक एक विलक्षण पुरुष के एक शब्द ने सारी स्थिति स्पष्ट कर दी और मुझे मेरी असफलता का गूढ कारण समझा दिया। मुझे याद है कि सुताएफ की बात का उस समय भी मुझपर गहरा असर पडा था, किंतु उसका पूरा महत्व मैं बाद में समझ पाया। यह उस समय की बात है जब मेरी आत्मप्रवंचना अपनी चरमसीमा पर पहुची हुई थी। मैं अपनी बहन के यहा बैठा हुआ था। सुताएफ भी वही था और मेरी बहन मुझसे मेरी योजना के सम्बध में कुछ पूछताछ कर रही थी। मैंने उसे बताना आरम्भ किया और—जैसा कि काम मे पूरा विश्वास न होने पर सदा होता है—मैं उसके सामने अपने काम और उसके परिणामो का बडी तन्मयता तथा उत्साह के साथ बढ-बढकर बखान करने लगा। मैंने उसे बतलाया कि किस प्रकार हम अनाथो और बूढ़ो की देखभाल करेंगे, किस तरह शहर मे गुजारा न चला सकनेवाले किसानो को देहात वापस भेज देंगे, किस प्रकार पतितो के सुधार का मार्ग प्रशस्त करेंगे और किस प्रकार हमारी योजना के सफल होने पर मास्को मे एक भी व्यक्ति निस्सहाय नही रह जायगा। मेरी बहन ने मेरे साथ सहानुभूति प्रकट की और हम इसी विषय पर बातचीत करते रहे। इसी बीच मैंने सुताएफ पर दृष्टि डाली। मैं जानता था कि वह पक्का ईसाई है और दानशीलता को बहुत महत्व देता है। स्वभावत मुझे आशा थी कि वह मेरा समर्थन करेगा और इसीलिए मैंने बातचीत इस ढग से की कि वह मेरा आशय समझ जाय। वैसे तो मैं सारी बाते अपनी बहन को सम्बोधित करके कह रहा था; किंतु वास्तव मे वे सुताएफ के लिए ही थी। भेड की खाल का काला कोट पहने—जिसे वह

---

* सुताएफ का उल्लेख पहले आ चुका है। यह वही किसान था जिसने टॉलसटॉय के यहां आए हुए लडके को मजदूरी करने के लिए गाव चलने को कहा था; किंतु उस लडके ने टॉलसटॉय की नौकरी छोडकर सर्कस मे नौकरी कर ली थी। टॉलसटॉय इस किसान का बडा सम्मान करते थे।

किसानो की तरह घर पर और घर से बाहर भी, सब जगह पहने रहता था—वह पत्थर-जैसा अचल बैठा था। ऐसा प्रतीत होता था कि वह हमारी बातें नही सुन रहा है और अपने ही विचारो मे मग्न है। उसकी छोटी-छोटी आखें मन्द प्रतीत होती थी, मानो वे अन्दर की ओर देख रही हो। अपनी बात समाप्त कर मैंने उसको सम्बोधित किया और पूछा कि तुम्हारी क्या राय है।

"यह सब व्यर्थ है", उसने कहा।

"क्यो ?"

"आप जो सभा बनाने जा रहे है वह बिलकुल व्यर्थ होगी, उससे कोई लाभ नही निकलेगा," सुताएफ ने आत्मविश्वास के साथ दुहराया।

"क्यो नही निकलेगा ? अधिक न सही, हजारो या सैकड़ो अभागो को ही सही; मदद देना व्यर्थ क्यो जायगा ? क्या नगो को कपडा और भूखो को भोजन देना बुरा है ? यह तो बाइबिल का उपदेश है।"

"मै जानता हू कि यह बाइबिल का उपदेश है; किंतु आप ठीक ढग से काम नही कर रहे है। क्या मदद करने का यही तरीका है ? आप टहलने निकलते है, रास्ते मे आपसे कोई बीस कोपेक मागता है और आप दे देते है। क्या यही दान है ? यदि आप दे सकते है तो मागनेवाले को आध्यात्मिक दान दीजिए, उसको शिक्षा दीजिए। किंतु इसकी बजाय आप क्या करते है ? पैसा देकर गरीब से महज पीछा छुड़ा लेते है।"

"नही, हम इसकी बात नही कर रहे है। हम गरीबो की आवश्यकताए जानना चाहते है और जो जरूरतमद है उन्हे धन तथा काम देना चाहते है और उनके लिए नौकरी भी ढूढना चाहते है।"

"इस तरह से आप इन लोगो के लिए कुछ नही कर सकेगे।"

"क्या मतलब ? क्या इन्हे भूख और ठड से मरने दिया जाय ?"

"वे मरे क्यो ? उनकी सख्या इतनी अधिक तो नही।"

"है क्यो नही ?" यह बात मैंने यह सोचकर कही कि सुताएफ इस चर्चा को इसलिए इतना तुच्छ समझ रहा है कि उसे यह पता ही

नही कि रूस में कंगालो की सख्या कितनी विशाल है। मैं बोला—"क्या तुम्हें मालूम नही कि अकेले मास्को मे करीब बीस हजार भूखे और ठंड से कपकंपाते हुए अभागे है? इसके अलावा पीट्र्सबर्ग और दूसरे शहरों मे भी..."

इसपर सुताएफ मुसकराया और बोला—"बीस हजार! और रूस मे कुल घर कितने होगे? दस लाख?"

"अच्छा, मान लो दस लाख! तो इससे क्या?"

"इससे क्या?" उसकी आखें चमक उठी और उसने आवेश में आकर कहना आरम्भ किया—"क्यो न हम इनको अपने में बाट ले! मैं अमीर नही हू, फिर भी तत्काल दो का भार अपने ऊपर लेने को तैयार हूं। आपके बावर्चीखाने में जो लडका था उसे मैंने अपने साथ चलने के लिए कहा था, लेकिन वह राजी नही हुआ। मैं तो कहता हूं कि अगर इससे दसगुने कगाल हो तब भी हम उन सबको शरण दे सकते है। एकको आप रख लीजिए, दूसरे को मैं रख लूगा। मैं जिसको रखूगा उसके साथ स्वयं काम करने जाऊगा। वह मेरे काम करने का ढग देखेगा और इस तरह जीवन-निर्वाह की विधि सीखेगा। हम सब एक मेज पर बैठकर खाना खायगे; उसे कभी मुझसे और कभी आपसे उपदेश के दो शब्द सुनने को मिलेंगे। सच्चा दान यह है। आपकी योजना तो बिलकुल बेकार है।"

उसकी यह सीधी-सी बात मेरे मन में बैठ गई और मुझे उसकी सार्थकता को स्वीकार करना पडा। फिर भी उस समय मुझे ऐसा लगा कि यद्यपि सुताएफ की बात ठीक है तथापि सम्भव है कि मैंने जो कार्य आरम्भ किया है वह भी उपयोगी सिद्ध हो। किंतु ज्यो-ज्यो मेरा काम आगे बढता गया और जैसे-जैसे मैं निर्धनो के निकटतर सम्पर्क मे आता गया, वैसे-वैसे मुझे सुताएफ के शब्दो की अधिकाधिक याद आने लगी और वे मेरे लिए अधिकाधिक अर्थपूर्ण बनते गए। इसमे सन्देह नही कि जब मैं घर से बाहर निकलता हू तो एक बहुमूल्य रोएदार कोट पहनकर या स्वय अपनी गाडी में निकलता हू। एक ऐसा आदमी, जिसके पास जूते तक नही हैं, मेरे दो हजार रूबल के मकान पर

दृष्टि डालता है या केवल यह देखता है कि जब-कभी मेरा जी चाहता है तभी मैं बिना क्षोभ के किसीको भी पाच रूबल दे बैठता हू। इससे वह समझता है कि मेरे इस प्रकार रूबल लुटाने का कारण यह है कि मैंने बहुत-से रूबल इकट्ठे कर लिये हैं और मेरे पास बहुत-से रूबल फालतू भी हैं जिन्हे मैंने किसीको देने की बजाय ठीक इसके विपरीत दूसरो से सरलतापूर्वक हडप लिया है। स्वभावत, वह आदमी मेरे विषय में इसके अतिरिक्त और क्या सोच सकता है कि जो धन वास्तव मे उसका होना चाहिए था उसे मैंने हथिया लिया है ? इसी तरह मेरे प्रति उसकी और क्या भावना हो सकती है सिवा इसके कि मैंने उससे और दूसरो से जो धन हथियाया है उसे वह अधिक-से-अधिक परिमाण में वापस ले ले ? चाहता तो मैं यह हू कि उसके सम्पर्क में आऊ और उससे शिकायत करू कि तुम साफ-साफ बातें नही करते, किंतु मुझे उसके बिछौने पर बैठते हुए डर लगता है कि कही मेरे कपडो पर जू न चढ जाय, कही मुझे कोई छूत की बीमारी न लग जाय। मै उसको अपने कमरे में भी घुसने नही देता। जब वह भूख से बिलबिलाता हुआ मेरे पास आता है तब उसे मेरी दुवारी या बाहर बरसाती में ही प्रतीक्षा करनी पडती है—और वह भी यदि उसके भाग्य सीधे हुए तब। फिर भी मैं कहता यही हू कि यदि मै उसके सम्पर्क में नही आ पाता या वह मुझसे खुलकर बाते नही करता तो इसका दोष उसपर ही है।

यदि हम नाना प्रकार के व्यजन लेकर ऐसे लोगो के बीच भोजन करने बैठ जाय जिन्हे खाने को कुछ नही मिला है और जिन्हे केवल सूखी रोटी मयस्सर होती है, तो—हम चाहे कितने भी कठोर-हृदय क्यो न हो—यह सम्भव नही कि हम स्वय तो खा ले और भूखे लोग ओठ चाटते रह जाय। अत भूखो के बीच रहते हुए स्वादिष्ट भोजन करने के लिए सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने-आपको उनसे छिपा ले और ऐसी जगह भोजन करे जहा वे हमे देख न सके। सच पूछिए तो ऐसा ही हम करते भी है।

सामाजिक जीवन पर कुछ अधिक सरल ढग से विचार करने पर मै इस निष्कर्ष पर पहुचा कि निर्धनो के सम्पर्क मे आने मे हमे जो

कठिनाई दिखाई देती है वह केवल सयोग की बात नही है, वल्कि हम जान-बूझकर अपने जीवन की व्यवस्था इस प्रकार कर लेते है कि उससे निर्धनो के सम्पर्क में आना कठिन हो जाता है। इतना ही नही, वल्कि जब मैंने निश्पक्ष भाव से अमीरो के जीवन पर विचार किया तो देखा कि हमारे जीवन में जो सुख समझा जाता है वह वास्तव में वह वस्तु है—या कम-से-कम उसका उस वस्तु से अटूट सम्बध है—जो हमें कगालो से यथासम्भव अधिक-से-अधिक अलग रखती है। सच पूछिए तो हमारे वैभवपूर्ण जीवन के समस्त प्रयत्नो—हमारे भोजन, कपड़े, मकान, सफाई और शिक्षा तक—का मुख्य उद्देश्य हमे गरीवो से अलग रखना है। इस प्रकार अपने और निर्धनो के बीच अलघ्य दीवारें खडी करने में हम अपनी सम्पत्ति का दस में से कम-से-कम नवा भाग अवश्य उडा डालते है। धनवान बनने पर हम जो पहला काम करते है वह है दूसरो के साथ एक ही वर्तन में भोजन करना बंद कर देना*। हम चीनी के वर्तन मंगा लेते है और अपनेको रसोई-घर तथा नौकर-चाकरो से अलग कर लेते है।

हम अपने नौकरो को भरपेट भोजन कराते है, ताकि हमारे स्वादिष्ट भोजन को देखकर उनके मुह में पानी न भर आए। हम स्वयं अलग भोजन करते है, किंतु अकेले खाना अच्छा न लगने के कारण भोजन को सुधारने और मेज को सजाने के लिए तरह-तरह की युक्तिया करते है, यहातक कि हमारे भोजन करने की रीति अभिमान तथा गर्व का विषय बन जाती है। हमारा भोजन करने का ढग हमे दूसरो से अलग करने का एक साधन बन जाता है। किसी निर्धन को भोजन के लिए निमन्त्रित करना अमीरो के लिए कल्पना से वाहर की बात है। भोज में सम्मिलित होने के लिए कितने ही शिष्टाचारो का ज्ञान आवश्यक है—जैसे महिलाओ को मेज तक पहुंचाना, एक विशेष ढंग से झुकना, वैठना, खाना, उगलियो को कटोरी में धोना आदि—

---

*रूस के किसान-परिवार में सब लोग एक बडे वर्तन में से अपनी-अपनी काठ की चम्मच से भोजन निकाल कर खाते है।

और ये शिष्टाचार केवल धनवान ही जानते हैं। यही बात कपड़ों के सम्बंध में भी है । यदि कोई धनी व्यक्ति केवल ठंड से शरीर की रक्षा करने के लिए कपड़े पहने तो उसे बहुत ही थोड़े कपड़ों की आवश्यकता पड़ेगी । एक ओवरकोट, एक भेड़ की खाल का कोट, एक जोड़ी फेल्ट जूता, एक जोड़ी चमड़े का जूता, एक किसानोंवाला कोट, पाजामा और कमीज---बस इतना ही उसको काफी होगा और यदि उसके पास भेड़ की खाल के दो कोट होंगे तो वह उसमें से एक कोट किसी बिना कोटवाले आदमी को देने में आनाकानी नहीं कर सकेगा। किंतु अमीर लोग विशेष-विशेष अवसरों के लिए विशेष-विशेष प्रकार की पोशाक बनवाते हैं और ये पोशाकें गरीबों के मतलब की नहीं होतीं। धनवानों के पास ड्रेसकोट, वेस्टकोट, जाकेट, पेटेंट चमड़े के जूते, लबादे, फ्रांसीसी एड़ी के जूते, छोटे-छोटे टुकड़ों को जोड़कर बनाए गए फैशनेबिल कपड़े, शिकारी लिबास, सफरी जाकेट आदि तरह-तरह के वस्त्र होते हैं । ये कपड़े केवल उन्हीं लोगों के काम आ सकते हैं जो निर्धनता से बहुत दूर होते हैं। अत: वस्त्र भी हमें गरीबों से अलग करने के साधन बन जाते हैं। फैशन का उद्देश्य ही अमीरों को गरीबों से अलग रखना है । यही बात कुछ और भी स्पष्ट रूप में हमारे मकानों से सिद्ध होती है। दस कमरों में अकेले रहने के लिए यह आवश्यक है कि एक कमरे में दस-दस की संख्या में रहनेवाले लोग उन कमरों को न देख सकें। आदमी जितना ही अधिक अमीर होता है उतना ही उसतक पहुंचना अधिक कठिन होता है, अर्थात् उसके और निर्धनों के बीच उतने ही अधिक दरबान होते हैं और निर्धनों के लिए उसके गलीचों पर चलकर उसकी साटन की कुर्सी पर बैठना उतना ही कम सम्भव होता है। सवारी के सम्बंध में भी यही बात है। यदि बैलगाड़ी में बैठकर जाता हुआ कोई किसान किसी पैदल बटोही को बैलगाड़ी में चढ़ा लेने से इन्कार करे तो वह निस्संदेह बड़ा ही कठोर-हृदय माना जायगा। उसकी गाड़ी में जगह होती है और उसे पैदल चलनेवालों को बैठा लेने का अवसर भी प्राप्त होता है। किंतु गाड़ी जितनी बढ़िया होती है उतनी ही उसमें किसी दूसरे को स्थान

मिलने की कम सम्भावना होती है। इसीलिए जो गाडिया सबसे सुन्दर होती है उनमें से कुछ 'एक सवारीवाली' गाडी कहलाती है।

'स्वच्छता' शब्द से जिस जीवनक्रम का बोध होता है उसके सम्बध मे भी यही बात कही जा सकती है। उन मनुष्यो को—विशेषत. उन स्त्रियो को—भला कौन नही जानता जो स्वच्छता को एक महान् सद्गुण मानते है? और कौन ऐसा है जो स्वच्छता की युक्तियो से अपरिचित हो? जबतक ये युक्तिया दूसरो के श्रम के बल पर काम मे लाई जाती है तबतक वे अनन्त होती है। जो लोग धनवान बन गए है, उनमें से ऐसा कौन है जो अपने अनुभव से यह न जानता हो कि इस सफाई की आदत उसे कितनी कठिनाई और कष्ट से पडी है? इससे तो यही कहावत चरितार्थ होती है कि गोरे हाथो को दूसरो की ही मेहनत अच्छी लगती है।

आज स्वच्छता इस बात में मानी जाती है कि एक कमीज हर रोज बदली जाय। कल शायद इस बात मे मानी जायगी कि दिन भर मे दो कमीजें बदली जाय। इसी तरह आज सफाई इस बात मे समझी जाती है कि मुह-हाथ प्रतिदिन धोए जाय*, कल इस बात मे समझी जायगी कि प्रतिदिन पैर भी धोए जाय और परसो इस बात मे कि प्रति-दिन सारे शरीर को स्नान कराया जाय और वह भी एक विशेष ढग से रगड कर। आज एक मेजपोश दो दिन चलता है, कल रोजाना बदला जायगा और परसो दिन मे दो बार। आज स्वच्छता के लिए केवल इतना आवश्यक समझा जाता है कि दरबान के हाथ साफ हो; किंतु कल उसके लिए साफ दस्ताने पहनना अनिवार्य हो जायगा और उसे आदेश मिलेगा कि वह चिठ्ठिया साफ दस्ताने पहनकर साफ तश्तरी मे लाया करे। इस तरह जब सफाई दूसरो के शरीर से कराई जाती है तब उसकी कोई सीमा नही होती और उससे कोई लाभ भी

*रूस में इतनी कडी सर्दी पडती है कि वहा साधारण व्यक्तियो के लिए प्रतिदिन स्नान करना सम्भव नही। इसकी सुविधा तो वहा के अमीर लोगो के लिए ही हो सकती है।

नही होता, सिवा इसके कि वह हमे दूसरो से अलग रखने का साधन बन जाती है और उसके कारण हमारा दूसरो से ससर्ग रखना असम्भव हो जाता है ।

इतना ही नही, जब मैंने इस प्रश्न पर कुछ और गम्भीरता के साथ विचार किया तो मुझे विश्वास हो गया कि साधारणत हम जिसे शिक्षा कहते है उसके सम्बध मे भी यही बात लागू होती है।

भाषा हमे धोखा नही देती । जनता जिस वस्तु का जो अर्थ लगाती है, वही भाषा भी व्यक्त करती है। साधारण लोग जिस वस्तु को 'शिक्षा' कहते है वह है फैशनेबिल वेशभूषा, शिष्टतापूर्ण बातचीत, उजले हाथ और एक विशेष प्रकार की स्वच्छता। इन गुणो से सम्पन्न व्यक्ति दूसरो की तुलना में 'शिक्षित' कहलाता है। उच्च वर्ग के व्यक्तियो मे भी 'शिक्षा' का यही अर्थ लिया जाता है; परन्तु वहा पियानो बजाने की योग्यता, फ्रासीसी भाषा का ज्ञान, हिज्जे की गलती किये बिना रूसी भाषा में पत्र लिखने की क्षमता तथा कुछ अधिक बाह्य स्वच्छता भी 'शिक्षा' के उपकरणो मे जोड लिये जाते है। और भी उच्च वर्ग के लोगो मे उक्त गुणो के अतिरिक्त अग्रेजी भाषा का ज्ञान, किसी उच्च शिक्षण-सस्था की डिग्री तथा और भी अधिक मात्रा मे बाह्य स्वच्छता 'शिक्षा' के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते है। किंतु उक्त तीनो प्रकार की शिक्षा वस्तुत एक ही है। 'शिक्षा' का अर्थ है वह आचार-व्यवहार और वह ज्ञान जो एकमनुष्य को दूसरो से अलग करता है। इसका भी वही उद्देश्य है जो स्वच्छता का— अर्थात्, हम-धनवानो को निर्धनो से अलग रखना जिससे कि भूखे और नगे यह न देख सके कि हम किस तरह मौज उडाते है। फिर भी, हमारा राग-रग छिप नही पाता और वे उसे देख ही लेते है।

इस प्रकार मुझे विश्वास हो गया कि हम-अमीरो का शहर के गरीबो की सहायता न कर सकने का एक कारण यह भी है कि हम लोगो के लिए उनके ससर्ग में आना असम्भव है और हमने अपने और उनके बीच यह खाई स्वय अपनी जीवनचर्या और अपने धन के विभिन्न

प्रयोगो से खोद ली है। मुझे यह विश्वास हो गया कि हम-धनवानो और निर्धनो के बीच स्वच्छता और शिक्षा की एक दीवार है, जिसे हमने स्वय अपने धन से खड़ा किया और मजबूत बनाया है। अतः कगालो की सहायता करने के योग्य बनने के लिए हमें सबसे पहले इस दीवार को गिराना है ताकि हम एक-एक दो-दो अनाथ को शरण देने की सुताएफ द्वारा बताई गई युक्ति काम में ला सकें। इस दृष्टि-कोण से विचार करने पर भी मै उसी परिणाम पर पहुचा जिसपर नगर की दरिद्रता को दृष्टि में रखकर सोचविचार करने पर पहुचा था—अर्थात् यह कि शहरी दरिद्रता का कारण हमारी सम्पत्ति है।

: १५ :

तो दोषी हम ही हैं

मैंने इस प्रश्न पर एक और भी दृष्टिकोण से विचार करना आरम्भ किया। वह दृष्टिकोण पूर्णत व्यक्तिगत था। परोपकार का कार्य करते समय मुझपर जिन बातो का विशेष रूप से प्रभाव पडा था उनमें से एक बडी अद्‌भुत थी और बहुत दिनो तक मै उसका कारण नही ढूढ पाया। बात यह थी कि घर पर या सडक पर जब कभी मुझे किसी कगाल को बिना बातचीत किये ही पैसा देने का सयोग होता तो मै देखता या मुझे ऐसा लगता कि उसके मुख पर प्रसन्नता और कृतज्ञता के भाव झलक रहे है। ऐसे अवसरो पर मुझे स्वय भी बडी सुखकर अनुभूति होती थी। मुझे ऐसा लगता था जैसे मैंने वही काम किया है जो वह कगाल चाहता था और जिसकी उसे मुझसे आशा थी, किंतु जब कभी मै ऐसे व्यक्ति से बातचीत करने के लिए ठहर जाता और उसके पिछले तथा वर्तमान जीवन के सम्बंध मे सहानुभूति के साथ विस्तारपूर्वक पूछताछ करने लगता, तब मुझे उसे तीन-चार या दस-बीस कोपेक देना ठीक नही जचता और अपना बटुवा टटोलते हुए मै इस सोच में पड जाता कि आखिर कितना दू। उस दशा में मै सदा अधिक ही दे दिया करता था।

फिर भी मै देखता था कि वह मेरे पास से असंतुष्ट होकर गया है। यदि मै उससे और भी घनिष्ठतापूर्वक बाते करने लगता तो पैसो की संख्या के सम्बध में मेरा असमंजस और भी बढ जाता और उस समय मै चाहे कितना भी दे डालता, कगाल मेरे पास से पहले की अपेक्षा अधिक निराश और अधिक असतुष्ट ही होकर जाता। यह एक नियम-सा हो गया था कि जब-कभी मै किसी कगाल को अधिक घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने के बाद तीन या अधिक रूबल देता तो सदा उसके मुख पर निराशा, असतोष और क्रोध तक के भाव झलकने लगते। कभी-कभी तो ऐसा होता कि मेरे दस रूबल दे देने पर भी वह धन्यवाद तक देने का शिष्टाचार न दिखाता और चुपचाप चल देता, मानो मैंने उसके साथ कोई अपराध कर दिया हो। ऐसे अवसरो पर मुझे सदा बेचैनी होती, अपने ऊपर लज्जा आती और ऐसा अनुभव होता जैसे मै वास्तव मे अपराधी हू। इससे भी आगे बढकर यदि मै किसी निर्धन को हफ्तो, महीनो या वर्षो सम्पर्क मे रहने के बाद सहायता देता और उसे अपने विचार बतलाने का प्रयत्न करते हुए घनिष्ठता स्थापित करता तो उसके साथ मेरे सम्बध दुखदाई बन जाते और मुझे लगता कि वह मुझसे घृणा करता है। उस समय मेरी अतरात्मा कहती कि उसका ऐसा करना ठीक ही है।

सडक पर जाते समय यदि कोई भिखारी दूसरे राहगीरो की तरह मुझसे भी तीन कोपेक माग ले और मै उसको दे दू तो उसकी दृष्टि मे मै एक नेक और दयालु राहगीर बन जाऊंगा—एक ऐसा राहगीर जो किसी नगे के लिए कमीज बनवाने में योग देने के निमित्त एक धागा दान देता है। सच पूछिए तो वह भिखारी एक धागे से अधिक की आशा भी नही रखता और यदि मै उसको इतना दे देता हू तो वह मुझे दिल से दुआ देता है। किंतु यदि मै उसके पास रुककर एक भाई के नाते बाते करता हू और यह प्रदर्शित करता हू कि मै उसके लिए एक राहगीर की अपेक्षा कुछ अधिक बनना चाहता हूं और—जैसाकि अक्सर होता है—यदि वह रो-रोकर मुझे अपना दुखडा सुनाने लगता है, तब वह मुझे केवल एक राहगीर नही बल्कि एक दयालु पुरुष

समझने लगता है, जैसाकि मैं स्वयं चाहता हू कि वह समझे। किंतु यदि मैं सचमुच दयालु हू तो मेरी दया बीस कोपेक या दस रूबल या दस हजार रूबल पर समाप्त नही हो सकती। यह सम्भव नही कि हम थोडे-से ही नेक बनकर रह जाय। मान लीजिए मैंने किसीको बहुत-सा धन दे दिया है, उसको रहने की जगह और पहनने को कपडे भी दिलवा दिये है और उसे इस योग्य बना दिया है कि वह अपने पैरो पर खडा हो सके और दूसरो की दया पर निर्भर रहे बिना ही अपना जीवन-निर्वाह कर सके। इतने पर भी यदि दुर्भाग्यवश या स्वय अपनी दुर्बलता अथवा दुश्चरित्रता के कारण वह व्यक्ति मेरे दिये हुए ओवरकोट, कपडे अथवा रुपए को गवा दे और भूखो मरता तथा जाड़े मे ठिठुरता मेरे पास दुबारा आय तो यह कैसे सम्भव है कि मैं उसे कुछ और देना अस्वीकार कर दूगा? यदि मेरी चेष्टाओ का उद्देश्य केवल भौतिक वस्तुओ की पूर्ति करना हो—जैसे, किसी निर्धन को रूबल दे देना या ओवरकोट बनवा देना—तब तो उसके लिए एक बार इतना कर चुकने के बाद मै निश्चित बैठ सकता हू, किंतु मेरी चेष्टाओ का उद्देश्य इतना ही नही है। मेरा उद्देश्य तो दयालु बनना है, मै चाहता हू कि मै अपनी ही प्रतिच्छाया उन व्यक्तियो में देखू। दयालुता का सब लोग यही अर्थ मानते है, कोई दूसरा नही। अत. यदि हम किसी निर्धन की बीस बार सहायता करें और प्रत्येक बार वह सारे पैसो की शराब पीकर फिर भूखा और नगा हो जाय तब भी यह सम्भव नही कि यदि हम वास्तव मे दयालु है तो उसकी पुन सहायता किये बिना रह जायगे। इतना ही नही, बल्कि जबतक भी हमारे पास उस निर्धन से अधिक धन रहेगा तबतक हम उसे सहायता देना बद नही करेंगे और यदि हम उसकी सहायता करने से हाथ खीचेंगे तो यह प्रमाणित करेंगे कि हमने जो-कुछ किया था वह इसलिए नही किया था कि हम दयालु हैं बल्कि इसलिए कि हम उसकी और दूसरे लोगो की आखो में दयालु दिखाई देना चाहते थे।

जब-जब मुझे निर्धनो की सहायता करने से हाथ खीचना पडा और इस प्रकार अपनी दयालुता को तिलांजलि देनी पडी, तभी-तभी मुझे मर्मान्तिक लज्जा का अनुभव हुआ।

ऐसी ही लज्जा का अनुभव मुझे ल्यापिन-अनाथालय मे हुआ था और उससे पहले तथा वाद मे भी जव-कभी मै गाव में गरीवो को पैसा या कोई दूसरी वस्तु देता और जव कभी मै नगर में दरिद्रो के वीच जाता तो मुझे ऐसी ही अनुभूति होती।

हाल की एक घटना ने मुझे इस लज्जा का वडा ही मार्मिक स्मरण कराया और यह भी स्पष्ट कर दिया कि निर्धनो को पैसा देते समय मुझे ऐसी अनुभूति क्यो होती थी।

यह घटना गाव मे घटी। एक तीर्थयात्री को देने के लिए एक वार मुझे वीस कोपेक की आवश्यकता पडी। मैंने अपने लडके से कहा कि जाकर किसीसे उधार माग ला। उसने कोपेक लाकर तीर्थयात्री को दे दिये और मुझे वतलाया कि यह रकम वह रसोइए से उधार ले आया है। कुछ दिनो वाद कुछ और तीर्थयात्री आए और मुझे फिर वीस कोपेक की आवश्यकता पडी। मेरे पास एक रूवल था। तभी मुझे याद आया कि रसोइए को वीस कोपेक देने है। यह सोचकर कि उसके पास रूवल की वाकी खरीज मिल जायगी मै रसोईघर मे गया और रसोइए से वोला—"मैंने तुमसे वीस कोपेक उधार लिये थे, लो यह एक रूवल ...." मेरे वाक्य समाप्त करने से पहले ही उसने दूसरे कमरे से अपनी स्त्री को पुकारा और कहा—"पराशा, यह रूवल ले लो।" यह सोचकर कि वह मेरा अभिप्राय समझ गई है मैंने उसे रूवल दे दिया। यहां यह वतला देना प्रयोजनीय है कि इस रसोइए को हमारे यहा आए केवल एक सप्ताह हुआ था और मैंने उसकी स्त्री को देखा तो अवश्य था किंतु उससे वातचीत नही की थी। मै उससे शेष पैसे लौटाने के लिए कहने ही जा रहा था कि वह मेरे हाथ पर झुकी और यह समझकर कि मै वह रूवल उसे ईनाम में दे रहा हूं वह कृतज्ञता-प्रकाश के लिए मेरा हाथ चूमने* को उद्यत हुई।

कुछ वड़वडाता हुआ मै रसोईघर से वाहर चला आया। उस समय मुझे वडी लज्जा आई, इतनी लज्जा जितनी वर्षो से नही आई

---

* रूस मे कृतज्ञता-प्रकाश का यही आम तरीका है।

थी। शर्म की पीडा से मेरा शरीर ऐंठने लगा और मैंने साफ-साफ देखा कि मैंने दात तक निपोर दिये है। वहासे भागते समय मैं क्षोभ से कराह उठा। लज्जा की इस तीव्र भावना से, जो उस समय मेरे लिए बिलकुल अवाछित और अप्रत्याशित थी, मैं चौक पडा—विशेपत इसलिए कि बहुत दिनो से मुझे ऐसी अनुभूति नही हुई थी और मै समझता था कि बूढा होने के कारण मै इस ढग से जीवन बिता रहा हू कि मुझे इस प्रकार लज्जित होने की आवश्यकता ही नही। यही कारण था कि मै स्तम्भित रह गया। मैंने इस घटना की चर्चा अपने परिवारवालो और कुछ मित्रो से की और सभीने यह स्वीकार किया कि यदि वे मेरी स्थिति मे होते तो उन्हें भी ऐसी ही अनुभूति हुई होती।

अब मैं सोचने लगा कि लज्जा मुझे क्योकर आई। इस प्रश्न का उत्तर कुछ दिन पहले मास्को में घटी एक घटना से मिला। उसपर जब मैंने गम्भीरतापूर्वक विचार किया तो रसोइए की स्त्री के सामने लज्जित होने का कारण साफ-साफ समझ में आ गया। साथ-ही-साथ यह भी स्पष्ट हो गया कि मास्को मे परोपकार का कार्य करते समय मुझे बार-बार क्यो लज्जा आती थी और अब भी जब-कभी मै साधुओ और तीर्थयात्रियो को उतने से अधिक दान दे देता हू जितने की मुझे आदत पडी हुई है और जिसे मै दान नही बल्कि शिष्टाचार और सौजन्य मानता हू, तो क्या कारण है कि सदा मुझे अपने ऊपर लज्जा आती है? यदि कोई हमसे प्रकाश के लिए कहे और यदि हमारे पास दियासलाई हो तो हमें चाहिए कि हम उसके लिए दियासलाई जला दें। इसी प्रकार यदि कोई हमसे तीन या बीस कोपेक अथवा कुछ रूबल भी मागे और यदि हमारे पास हो, तो हमे अवश्य दे देना चाहिए। यह दान नही सौजन्य की बात है।

वह घटना इस प्रकार थी। पहले मैं दो किसानो की चर्चा कर चुका हू, जिनके साथ दो वर्ष हुए मैं लकडी चीरा करता था। एक शनिवार की शाम को झुटपुटे के समय मै उनके साथ शहर आ रहा था। वे अपने मालिक के पास मजदूरी लेने जा रहे थे। एक पुल के

पास हमें एक बूढा मिला। वह भीख मागने लगा और मैंने उसे बीस कोपेक दिये। उन्हे देते समय मैंने सोचा कि मेरे दान का सेम्यॉन पर, जिसके साथ मै पारमार्थिक विषयो/पर बाते करता आ रहा था, अच्छा प्रभाव पडेगा। सेम्यॉन व्लाडीमीर का रहनेवाला किसान था और मास्को में उसकी स्त्री तथा दो बच्चे थे। उसने भी रुककर अपने लम्बे कोट के भीतर से बटुआ निकाला और उसमे से तीन कोपेक का एक सिक्का निकालकर उस बूढे को देते हुए दो कोपेक वापस मागे। बूढे ने हाथ पसारकर अपने सारे पैसे दिखला दिये। उसके पास तीन कोपेकवाले दो और एक कोपेकवाला एक सिक्का था। सेम्यॉन ने उन सिक्को की ओर देखा। वह एक कोपेकवाला सिक्का उठाने ही वाला था कि एकाएक उसका विचार बदल गया; उसने टोपी उतारकर बूढे को सलाम किया और उसके हाथ मे तीन कोपेक का सिक्का छोडकर वह आगे बढ गया। मै सेम्यॉन की आर्थिक स्थिति से परिचित था। उसके पास न अपना घर था, न कोई दूसरी सम्पत्ति। जिस दिन उसने बूढे को तीन कोपेक दिये उस दिन तक उसने कुल मिलाकर ६ रूबल और ५० कोपेक कमाए थे। यह रकम उसने बचा कर रखी थी और यही उसकी कुल सम्पत्ति थी। मेरी सम्पत्ति लगभग ६ लाख रूबल की थी। मै बाल-बच्चेदार आदमी था। सेम्यॉन भी गृहस्थ था। आयु में वह मुझसे छोटा था और उसके बच्चो की सख्या भी कम थी। कितु उसके बच्चे अभी छोटे थे, जबकि मेरे दो लडके कमाने योग्य हो गए थे। इस प्रकार सम्पत्ति को छोडकर हम दोनो की स्थिति प्राय एक-सी थी, बल्कि मेरी स्थिति कुछ अच्छी ही थी। उसने तीन कोपेक दिये और मैंने बीस। अब सोचिए कि उसके और मेरे दान में क्या अतर था। उसके बराबर दान करने के लिए मुझे कितना देना चाहिए था ? उसके पास छ सौ कोपेक थे, जिनमे से उसने तीन बूढे को दे दिये। मेरे पास छ लाख रूबल थे। सेम्यॉन की बराबरी करने के लिए मुझे बूढे को तीन हजार रूबल का नोट देकर उससे दो हजार का नोट वापस मागना चाहिए था और दो हजार का नोट न मिलने पर उसे भी उसके पास छोडकर सलाम करते

हुए आगे बढ जाना चाहिए था और चुपचाप इधर-उधर की बातो में लग जाना चाहिए था। इस घटना पर विचार तो मैंने उसी समय किया, किंतु उससे अनिवार्य रूप से निकलनेवाले निष्कर्ष पर बहुत दिनो बाद पहुचा। वह निष्कर्ष गणित के समान असदिग्ध होते हुए भी इतना असाधारण और विचित्र मालूम होता है कि उसका अभ्यस्त बनने के लिए समय की आवश्यकता है। सदा ऐसा लगता है मानो इस निष्कर्ष में कोई-न-कोई त्रुटि है, किंतु वस्तुत ऐसी कोई बात नही है। हम लोगो की आखो के सामने केवल भ्रम का एक भयकर जाल छाया रहता है।

इस निष्कर्ष की असदिग्धता पर विश्वास होते ही मुझे उस लज्जा का रहस्य मालूम हो गया जो मुझमें रसोइए की स्त्री के सामने और निर्धनो को सहायता देते समय उत्पन्न हुई थी और ऐसे अवसरो पर अब भी होती है।

जो पैसा मैं निर्धनो को देता हू और जिसे रसोइए की स्त्री ने समझा था कि मै उसे दे रहा हू वह वास्तव मे क्या है ? प्राय वह मेरी सम्पत्ति का इतना छोटा अश होता है कि उसे सेम्यॉन अथवा रसोइए की स्त्री के सामने बुद्धिगम्य रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। साधारणतया वह मेरी सम्पत्ति का दस लाखवा हिस्सा होता है। मैं इतना थोडा देता हू कि उससे न तो मेरी सम्पत्ति मे कोई कमी आती है, न आ सकती। मेरा दान तो एक प्रकार का मनोविनोद, एक तरह की मन की तरंग है। जब चाहा तब दिया जब चाहा तब नही दिया। रसोइए की स्त्री ने मेरे रूबल को इसी रूप मे देखा था। जब मै राह चलते लोगो को एक रूबल या बीस कोपेक दे देता हू तो क्या कारण है उसे एक रूबल न दे देता ? मेरा इस प्रकार दान देना उसकी दृष्टि में ठीक वैसा ही था जैसा कगालो की भीड़ मे भद्र पुरुषो का रोटी के टुकड़े उछालना। यह तो जिनके पास बहुत-सा बेकार धन होता है उनका एक मनोरजन है। मुझे लज्जा इसलिए आई कि रसोइए की स्त्री की भूल ने मुझे यह स्पष्ट रूप से बतला दिया कि केवल वही नही बल्कि दूसरे गरीब लोग भी मेरे विषय में ऐसा ही विचार

रखते है, वे समझते है कि मै अपना मुफ्त धन—वह धन जो मैंने कमाया नही है—योही बाटता फिरता हू ।

मेरा धन वास्तव मे क्या है और कहा से आया है ? इसका कुछ अश तो मुझे उस भूमि से प्राप्त हुआ है जो मुझे अपने पिता से उत्तराधिकार-स्वरूप मिली है और जिसका लगान देने के लिए किसान को अपनी आखिरी भेड़ या गाय वेचनी पड़ती है । मेरी सम्पत्ति का दूसरा अश मेरे लेखो तथा पुस्तको से आया है । यदि मेरी पुस्तके हानिकारक है तो मै उसके खरीदारो के मार्ग मे केवल प्रलोभन का जाल विछाता हू और उनसे मुझे जो धन मिलता है वह वुरे रूप से कमाया हुआ धन है। किंतु यदि मेरी पुस्तके उपयोगी है, तव तो और भी वुरी वात है । मै ये पुस्तके लोगो को देता नही, वल्कि कहता हू कि लाओ मुझे सत्रह रूवल* दो तव मै तुम्हे अपनी पुस्तक छूने दूगा । जिस प्रकार लगान भरने के लिए किसान को अपनी अतिम भेड वेचनी पडती है, उसी प्रकार मेरी पुस्तक के लिए कोई निर्धन विद्यार्थी, कोई निर्धन अध्यापक, या कोई दूसरा निर्धन व्यक्ति अपनी आवश्यक वस्तुओ से वञ्चित रह जाता है। इस रूप मे मैंने वहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया है । लेकिन उसका मै आखिर करता क्या हू ? मै उसे शहर ले आता हूं और यदि गाव के गरीव लोग शहर आकर मेरे इच्छानुसार कार्य करते है—जैसे, मेरे यहा झाडू लगाना, मेरे लैम्प व जूते साफ करना और कारखानो मे काम करना—तो मै शहर लाए हुए इस धन का कुछ अश उन्हे दे देता हू। इसके वदले मे मै उनसे जितना भी काम ले सकता हू लेता हू, अर्थात् मैं उन्हे कम-से-कम देने और उनसे अधिक-से-अधिक लेने का प्रयत्न करता हू । फिर एकाएक विलकुल अप्रत्याशित रूप से और अकारण ही मै यही धन इन्ही गरीवो मे वाटने लगता हू—सवको नही, वल्कि थोडो को अपने इच्छानुसार चुनकर । ऐसी दशा मे क्यो न उनमे से प्रत्येक व्यक्ति यह आशा करे कि जिन लोगो को मुफ्त

* उस समय टॉल्सटॉय के लेखो आदि का संग्रह १७ रूवल मे मिलता था ।

घन वाटकर मै अपना मनोरजन करूगा उनमें शायद उसे भी सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय ?

सारे कगाल मुझे इसी दृष्टि से देखते है ओर रसोइए की स्त्री ने भी मेरे विपय में ऐसा ही सोचा था। मै इतने बडे भ्रम में था कि एक हाथ से गरीबो से हजारो रुपए छीनकर दूसरे हाथ से कुछ चुने हुए निर्धनो के सामने कौडिया वखेरने को परोपकार कहता था। अत· इसमे आश्चर्य ही क्या कि मुझे अपने ऊपर लज्जा आई।

तो, परोपकार करने से पहले यह आवश्यक है कि मै स्वय वुराई से दूर खडा हो जाऊ, एक ऐसी स्थिति मे पहुच जाऊं जहा वुराई करना ही वद हो जाय। इसका कारण यह है कि मेरा सारा जीवन वुराई से भरा हुआ है। हो सकता है कि अपनी सम्पत्ति में से निर्धनो को एक लाख रूवल दे डालने के वाद भी मै अपने को परोपकार की स्थिति मे न पा सकू, क्योकि तव भी मेरे पास पाच लाख रूवल वच ही जायगे। थोडा-बहुत भी परोपकार मै उसी समय कर सकूगा जव मेरे पास एक कौडी भी शेप न रह जाय, चाहे वह परोपकार उतना ही क्यो न हो जितना उस वेश्या ने वीमार स्त्री और उसके बच्चे की तीन दिन तक सुश्रूषा करके किया था। भला सोचिए तो, उसके इस परोपकार को मैने वहुत ही नगण्य समझा और फिर भी मुझ परोपकार करने की कल्पना करने का साहस हुआ! वास्तव में सत्य का एकमात्र स्वरूप तो मेरी उस भावना मे दिखाई दिया था जो ल्यापिन-अनाथालय के भूखो और नगो को देखते ही मेरे मन मे उदित हुई थी और जिसने यह स्पष्ट कर दिया था कि उनकी दुर्दशा का दोष मुझपर है और जैसा जीवन मै विता रहा हू वैसा निरन्तर कदापि नही विता सकूगा।

तो फिर हम क्या करें? यदि किसीको अव भी इस प्रश्न के उत्तर की अपेक्षा है तो भगवान की कृपा से मै आगे के पृष्ठो मे उसका विस्तृत उत्तर दूगा।

: १६ :

हमारे शोषण का जाल

पहले तो मेरे लिए यह विश्वास करना कठिन था कि मै एक भ्रम-जाल मे फसा हुआ हू, किंतु जब मुझे सत्य का ज्ञान हुआ तब मै स्तम्भित रह गया। मै स्वयं कान तक दलदल मे फंसा हुआ था और फिर भी यही सोचता था कि मै दूसरो को उस दलदल मे से निकाल सकूगा।

मै वास्तव में क्या चाहता हू ? मै लोगो की भलाई करना चाहता हूं, कुछ इस प्रकार की व्यवस्था करना चाहता हूं कि एक भी प्राणी नगा और भूखा न रहे और मनुष्य मनुष्य की तरह जीवन-निर्वाह करे।

ऐसा मै चाहता तो अवश्य हू, किंतु देखता हू कि हिंसा, बल-प्रयोग आदि जिन विभिन्न शोषण-क्रियाओ मे मै हाथ बटाता हू उनसे एक ओर तो मजदूर अपनी अनिवार्य आवश्यकता की वस्तुओ से वंचित हो जाते है और दूसरी ओर मेहनत न करनेवाले लोग—जिनमें से एक मै भी हूं—मेहनत करनेवालो की मेहनत से छककर लाभ उठाते है।

मै देखता हू कि इस शोषण-व्यूह की रचना कुछ इस प्रकार की गई है कि मनुष्य जितना ही अधिक छल-प्रपच करता है उतना ही अधिक वह दूसरो के श्रम का लाभ उठाता है और स्वयं कम मेहनत करता है।

ऐसा करनेवालो मे सबसे पहला स्थान बड़े-बडे पूजीपतियो, मिल-मालिको, खानो के स्वामियो और भूमिपतियो का है। इनके बाद बडे-बड़े महाजन, व्यापारी, जमीदार और अफसर आते है। तीसरा स्थान मध्यम वर्ग के महाजनों, व्यापारियो, अफसरो और मेरे-जैसे जमीदारो का है। इनके बाद छोटे व्यापारियो, सराय के स्वामियो, सूदखोरो, पुलिस-अफ-

सरो, सिपाहियो, स्कूली अध्यापको, पुरोहितो और क्लर्कों का निम्न वर्ग है। इनके नीचे दरबान, खानसामे, साईस, भिश्ती, गाड़ीवान और बिसाती आदि है और सबसे नीचे कारखानो में काम करनेवाले मजदूर तथा किसान हैं, जिनकी सख्या अन्य सब वर्गों की अपेक्षा दसगुनी है। मैं देखता हूं कि इन श्रमजीवियो मे से दस मे से नौ का जीवन कुछ इस प्रकार का है कि उसके लिए उसे स्वभावत कठोर श्रम करने की आवश्यकता पडती है, जैसा कि सभी स्वाभाविक जीवन के लिए होता है। परन्तु हमारे द्वारा प्रयोग में लाई जानेवाली विविध शोषण-विधियो के फलस्वरूप स्थिति दिन-पर-दिन बिगडती जा रही है और श्रमजीवियो का जीवन अधिक दु ख-पूर्ण बनता जा रहा है। इसके विपरीत हम-जैसे निठल्लो का जीवन कला और विज्ञान की सहायता से प्रति वर्ष अधिक सम्पन्न, अधिक आकर्षक और अधिक सुरक्षित होता जा रहा है।

मै देखता हू कि आजकल मजदूर लोग—विशेषत वृद्ध स्त्री, पुरुष और बच्चे—अतिशय परिश्रम और अपर्याप्त पोषण के कारण काल-कलवित होते जा रहे है, उन्हे जीवन की नितान्त आवश्यक वस्तुओ तक के प्राप्त होने की आशा नही होती। दूसरी ओर निठल्ले लोगो को—जिनमे एक मै भी हू—प्रति वर्ष अधिकाधिक सुख और विलास की सामग्रिया मिलती जा रही है और उनका जीवन अधिकाधिक सुरक्षित होता जा रहा है; यहातक कि उनमे से मुझ-जैसे कुछ भाग्यशाली लोगो का जीवन सुरक्षा की उस सीमा पर पहुच गया है जिसका स्वप्न पुराने जमाने में लोग केवल परियो की कहानियो मे देखा करते थे। हमारी अवस्था उस व्यक्ति की-सी हो गई है जो जादू की किसी अक्षय थैली का स्वामी बन बैठा है। दूसरे शब्दो में हम उस अवस्था मे पहुच गए है जिसमें मनुष्य न केवल जीवन-रक्षा के लिए परिश्रम करने के प्राकृतिक नियम से मुक्त हो गया है बल्कि इस योग्य भी बन गया है कि परिश्रम किये बिना ही वह जीवन के समस्त सुखो का उप-भोग कर सके और अपने बाद अपनी जादू की अक्षय थैली या तो अपनी संतान को या अपने इच्छानुसार किसी और व्यक्ति को दे जा सके। मैं देखता हू कि मनुष्य के परिश्रम का फल श्रम करनेवालो

को न मिलकर अधिकाधिक निटल्ले लोगो को मिल रहा है। एसा मालूम पडता है कि समाज के विशाल भवन का पुर्ननिर्माण कुछ इस ढग से हो रहा है कि नीव के पत्थर शिखर की ओर चढते जा रहे है और यह परिवर्तन दिन-दूना रात-चौगुना वढता जा रहा है। मै देखता हू कि जो कुछ हो रहा है वह ऐसा है जैसे किसी वावी की चीटिया अपने समान नियम को भूल जायं और उनमें से कुछ चीटिया मिट्टी को उठा-उठाकर नीचे से ऊपर ले जाने लगें और इस प्रकार नीचे का भाग क्रमश छोटा होता जाय और शिखर वढता जाय; यहातक कि अन्य चीटिया भी विवश होकर नीचे से ऊपर चली जाय। मै देखता हू कि परिश्रमी जीवन के आदर्श का स्थान जादूवाली थैली के आदर्श ने ले लिया है। धनिको ने, जिनमे एक मै भी हू, अनेक युक्तियो से जादू की थैली हथिया ली है और उसका उपभोग करने के लिए हम शहरो में, अर्थात् एक ऐसी जगह, आ वसे है जहा उत्पादन एक भी वस्तु का नही होता किंतु उपभोग सव वस्तुओ का होता है। अभागा मजदूर, जो इस जादू की थैली को अमीरो के लिए सुलभ वनाने के लिए लुटा जाता है, उनके पीछे-पीछे शहर पहुचने की चेष्टा करता है। वहा पहुचकर वह भी छल-प्रपच सीख जाता है और या तो अपने लिए ऐसी स्थिति पैदा कर लेता है जिसमें थोडा श्रम करने से ही अधिक प्राप्त हो जाता है और इस प्रकार मजदूर-वर्ग का वोझ और भी अधिक वढ़ जाता है, या उस स्थिति तक पहुचने मे असफल होने के कारण वह नष्ट हो जाता है और सराय मे रात काटनेवाले उन भूखो-नगो की श्रेणी मे जा मिलता है जिसकी सख्या आश्चर्यजनक वेग के साथ वढ रही है।

मै उस वर्ग के लोगो में से हू जो अनेकानेक युक्तियो द्वारा मजदूरो को जीवन सम्वन्धी आवश्यक वस्तुओ से वचित कर देता है। इन्ही युक्तियों के वल पर उसे वह जादूभरी थैली मिली है जिसे वेचारे मजदूर ललचाई हुई आखो से देखते है। यदि मै इन निर्धनो की सहायता करना चाहता हू तो यह स्पष्ट है कि मुझे इन लोगो को लूटना नही चाहिए, जैसा कि मै कर रहा हू। इसके अलावा मुझे इन लोगो को

प्रलोभन भी नही देना चाहिए। किंतु इसके विपरीत, मैंने सदियो से प्रचलित जटिलतम, कुटिल और क्रूर छल-प्रपचो की सहायता से अपने लिए एक ऐसी स्थिति उत्पन्न कर ली है जैसी जादू की थैली रखनेवाले किसी भी व्यक्ति की हो सकती है। अर्थात, मै उस स्थिति में पहुच गया हू जिसमें ?वय कोई काम-काज किये विना ही सैकडो, हजारो आदमियो को अपने लिए काम करने को वाध्य कर सकता हू। ऐसा ही मै आजकल कर भी रहा हू; फिर भी यह सोचने की धृष्टता करता हू कि मैं निर्धनो पर दया करता हू और उनकी सहायता करना चाहता हू। एक ओर तो मै गरीब की पीठ पर सवार होकर उसका दम घोट देता हूं और उसे वाध्य करता हू कि वह मुझे लादकर ले चले और दूसरी ओर अपनेको तथा दूसरो को विश्वास दिलाता हू कि मुझे उस बेचारे के लिए सहानुभूति है और मै हर सम्भव युक्ति से उसका भाग्य सुधारना चाहता हू, बशर्ते कि मुझे उसकी पीठ से उतरना न पडे।

बात बिलकुल सीधी-सादी है। यदि मै निर्धनो की सहायता करना चाहता हू, अर्थात यदि मै चाहता हू कि निर्धन न रहे, तो मुझे उन्हे निर्धन नही बनाना चाहिए। परतु वास्तविकता यह है कि उन गरीवो को, जो जीवन-मार्ग से विचलित हो गए है, मै स्वेच्छा से दसियो, बीसियो या सैकडो रूबल दे डालता हू, किंतु जो लोग अभी विचलित नही हुए है उनसे मैं ठीक इसी प्रकार के सहस्रो रूबल वसूल कर लेता हू। इस प्रकार मै उन्हे निर्धन बनाने के साथ-ही-साथ बुद्धिभ्रष्ट भी कर देता हू।

बात तो बिलकुल सरल है, फिर भी इसे पूरी तरह समझना मेरे लिए उस समय तक अत्यन्त कठिन था जबतक कि मैं कोई ऐसा समझौता न कर लेता या ऐसे बहाने न ढूढ लेता जिनसे मेरे पक्ष का समर्थन हो सकता। पर जैसे ही मैंने अपना अपराध स्वीकार किया, वैसे ही जो बाते पहले विचित्र, जटिल, अस्पष्ट और अगम्य मालूम होती थी वे बिलकुल सरल और बोधगम्य हो गईं। सबसे बडी बात यह हुई कि इस व्याख्या के फलस्वरूप स्वयं मेरे जीवन का मार्ग सुगम,

स्पष्ट और सुखदायी हो गया और पहले की भाति जटिल, अगम्य तथा क्लेशकर न रह गया।

लोगो की सहायता करने की इच्छा रखनेवाला मै हू कौन ? मैं लोगो की सहायता करना चाहता हू, फिर भी मै चार-चार मोमवत्तिया जलाकर रात को देर तक ताश खेलता हू और फिर दोपहर तक पडा सोता रहता हू। मैं दुर्वल, पौरुषहीन हो गया हू और मुझे स्वय सैकड़ो आदमियो की सहायता और सेवा की आवश्यकता है। फिर भी मै दूसरो की सहायता करने वढता हू। किंतु किसकी ? उनकी, जो सवेरे पाच वजे उठ जाते है, तख्तो पर सोते है और रोटी और करमकल्ला खाकर रह जाते है, जिनमे हल चलाने, लकडी काटने, कुल्हाडी मे मूठ लगाने, रद्दा चलाने, घोडो पर जीन कसने और कपडे सीने की योग्यता है। शक्ति, दृढता, कार्य-कुशलता और आत्मसयम मे ये लोग मुझसे सैकड़ो-गुना वढचढकर होते है, फिर भी मैं उनकी सहायता करने निकलता हू ! अत ऐसे लोगो के सम्पर्क मे आकर मै लज्जित न होता तो और क्या ? इनमे से सवसे दुर्वल व्यक्ति भी--रज्हानोफ-भवन मे रहनेवाला एक शरावी तक, जिसे लोग आवारा कहते है--मुझसे सैकडोगुना अधिक परिश्रमी है। यदि मै इस वात का हिसाव लगाऊ कि मै लोगो से कितना लेता हू और उन्हे कितना देता हू और उसकी तुलना इस वात से करू कि वह शरावी दूसरो से कितना लेता है और उन्हे कितना देता है तो मै देखूगा कि उसका आर्थिक सतुलन मेरे आर्थिक सतुलन से हजारोगुना अच्छा है।

ऐसे ही लोगो की सहायता करने का मै दम भरता हू। मै दीनो की सहायता करने जाता हू। किंतु दीन कौन है ? जिनकी मै सहायता करने जाता हू उनमे से एक व्यक्ति भी मुझसे अधिक दीन नही है। मै सर्वथा अशक्त, निकम्मा और परावलम्वी हू और केवल विशेषतम अवस्था मे ही जीवित रह सकता हू। यह अवस्था उस समय उत्पन्न होती है जव सहस्रो व्यक्ति एक नितात निरर्थक जीवन को वनाए रखने का प्रयत्न करते है। मै वह कीडा हू, जो वृक्ष की पत्तियो के फूलने-फलने का और निरोग रहने की कामना तो करता है, किंतु उन्हे निरन्तर चाटता रहता है।

मैं अपना सारा जीवन इसी प्रकार व्यतीत करता हू। मैं खाता हूं, बातें करता हू, सुनता हू, पढता हू, लिखता हू, खेलता हू और सोता हूं। यही क्रम प्रतिदिन चलता है। मैं न तो कुछ काम कर सकता हू, न करना जानता हू। मुझे इस प्रकार का जीवन बिताने में सहायता देने के लिए यह आवश्यक है कि दरवान, किसान, रसोइए-दार, रसोइएदारिन, साईस और धोबिन सवेरे से शाम तक काम करते रहें। इनमें वे मजदूर शामिल नही हैं जो इन साईसो, रसोइएदारो, दरवानो आदि को मेरे सेवार्थ बर्तन, कुल्हाडी, पीपे, ब्रुश, प्याले, तश्तरियां, मेज-कुर्सी, शीशे, पालिश, पैराफिन, घास, ईंधन, गोश्त आदि जुटाने में योग देते है। ये लोग दिन-रात कडी मेहनत करते हैं ताकि मैं बातें कर सकू, खा सकू और सो सकू। फिर भी मैं निकम्मा यही सोचता हूं कि मैं दूसरो की सहायता कर सकता हू, उन्ही लोगो की जो मेरी सहायता कर रहे हैं।

इसमे तो कोई आश्चर्य की बात नही कि मैं किसीकी सहायता नही कर सका और मुझे अपने ऊपर लज्जा आई। आश्चर्य की बात तो यह है कि मेरे मस्तिष्क मे दूसरो की सहायता करने का मूर्खतापूर्ण विचार आया कैसे? जिस स्त्री ने बीमार बूढे की सेवा की थी, उसने उसकी सहायता की थी, जिस किसान महिला ने अपनी मेहनत से पैदा किये हुए नाज की रोटी मे से एक टुकडा काटकर भिखारी को दे दिया था, उसने उसकी सहायता की थी। इसी तरह सेम्यॉन ने अपने कमाए हुए तीन कोपेक भिखारी को देकर उसकी सहायता की थी, क्योकि वे तीन कोपेक वास्तव में उसकी मेहनत के द्योतक थे। किंतु मैंने न किसीकी सहायता की, न सेवा की। मैं यह अच्छी तरह जानता था कि मेरा धन मेरी कमाई का नही है।

अत मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि स्वय रुपए मे—यहातक कि उसे अपने पास रखने भर मे—कोई दोष, कोई पाप है। मैं ने अनुभव किया कि मेरे चारो तरफ जो बुराइया दिखाई देती हैं उनकी जड यही रुपया और उसका मेरे पास होना है। तब मेरे मन मे प्रश्न उठा—रुपया क्या है?

: १७ :

दासत्व का मूल कारण—रुपया

रुपया ! रुपया क्या है ?

रुपया परिश्रम का प्रतीक है ।

मै ऐसे शिक्षित लोगो से मिला हूं जो कहते है कि रुपया जिनके अधिकार मे होता है उन्हीके परिश्रम का वह परिचायक होता है । मै स्वीकार करता हू कि कुछ अस्पष्ट रूप मे मेरा भी पहले यही मत था । किंतु मैंने यह जानना जरूरी समझा कि रुपया वास्तव में है क्या और इसके लिए मैंने अर्थशास्त्र की शरण ली ।

अर्थशास्त्र के अनुसार द्रव्य * में कोई वात अन्यायसूचक अथवा हानिकारक नही है । वह तो सामाजिक जीवन का एक स्वाभाविक उपकरण है और उसकी निम्नलिखित कार्यो मे आवश्यकता पड़ती है— (१) विनिमय सम्वन्धी सुगमता (२) मूल्य-निर्धारण (३) वचत और (४) भुगतान । यह एक विलकुल स्पष्ट वात है कि यदि मेरी जेव में तीन फालतू रूवल पडे हो तो मै किसी भी सभ्य नगर में जाकर चुटकी वजाते ही सैकडो आदमियो को वुला सकता हू, जो उन तीन रूवलों के लिए कठोर-से-कठोर, अप्रिय-से-अप्रिय और अपमानजनक-से-अपमानजनक कार्य करने को तैयार हो जायगे । इसका कारण रुपया-पैसा नही, वल्कि हमारे आर्थिक जीवन की जटिल विपमता है । कुछ विशेष व्यक्तियो को दूसरो पर प्रभुता प्राप्त हो जाने का कारण यह नही है कि उनके पास रुपया है, वल्कि यह कि श्रमजीवियो को अपने श्रम का पूरा पारितोषिक नही मिलता । इस अनीति की जड़ में पूजी, किराया

---

* Money, सुगमता के लिए यहां 'द्रव्य' के स्थान पर 'रुपया-पैसा' या केवल 'रुपया' या 'पैसे' का भी प्रयोग किया गया है ।

और मजदूरी है जिनका स्वय आपस में तथा धन के उत्पादन, वितरण और उपभोग से जटिल सम्बन्ध होता है। सीधी-सादी भाषा मे इसका अर्थ यह है कि जो लोग पैसेवाले है वे बे-पैसेवालो को उगलियो पर नचा सकते है। किंतु अर्थशास्त्र के अनुसार वास्तविकता कुछ और ही है। उनका मत है कि हर तरह के उत्पादन-कार्य पर तीन बातो का प्रभाव पडता है— (१) भूमि, (२) सचित श्रम (पूजी) और (३) श्रम। इन तीनो साधनो की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण और उत्पादन के दो साधनो—भूमि तथा पूजी—के मजदूरो के अधिकार मे न होकर दूसरो के अधीन होने के कारण और साथ-ही-साथ उनसे उत्पन्न होनेवाली जटिल गुटबदियो के फलस्वरूप कुछ लोगो का दूसरो पर प्रभुत्व स्थापित हो जाता है। धन का यह राज्य, जिसके अन्याय और जिसकी क्रूरता को देखकर हम स्तम्भित रह जाते है, कैसे उत्पन्न होता है ? पैसे की सहायता से कुछ लोग दूसरो पर क्यो शासन करते है ? अर्थशास्त्र के अनुसार इसका कारण उत्पादन के विभिन्न साधनो का विभाजन और उससे उत्पन्न होनेवाली गुटबदी है, जो मजदूरो को सताती है। यह उत्तर मुझे सदा ही विचित्र प्रतीत होता रहा है, क्योकि न केवल इसमे प्रश्न के एक भाग—रुपए के महत्त्व—पर विचार नही किया गया है, बल्कि उसके अनुसार उत्पादन के साधनो का जो विभाजन किया गया है वह प्रथम दृष्टि में सदा कृत्रिम और वास्तविकता के विपरीत दिखाई देता है। कहा जाता है कि सब प्रकार के उत्पादनो मे भूमि, पूजी और श्रम तीनो का योग होता है। इसीलिए यह मान लिया गया है कि इनसे जो कुछ पैदा होता है—अर्थात् धन या उसका प्रतीक वह रुपया—इनके ही स्वामियो में बाट दिया जाता है। भूमि का मूल्य—किराया—जमीदार को मिलता है, ब्याज पूजीपति को और परिश्रम का पारितोषिक—मजदूरी—मजदूर को। किंतु क्या यह सच है ? सबसे पहले तो देखना है कि क्या सभी उत्पादनो मे तीनो साधनो का जुटना अनिवार्य है।

इस समय जबकि मै यह लेख लिख रहा हू, मेरे चारो ओर घास सुखाई जा रही है। इस क्रिया में कौन-कौन से साधन प्रयोग में लाए जाते है ? मुझे बताया गया है कि इसमें निम्नलिखित साधनो का

उपयोग किया जाता है---(१) भूमि, जिसपर घास उगाई गई है, (२) पूजी, अर्थात हसिए, पैजेठिया, दतिए और गाडिया, जो घास को इकट्ठा करने के लिए आवश्यक है और (३) परिश्रम। किंतु मै देखता हूं कि यह बात सच नही है। भूमि के अतिरिक्त सूर्य, पानी, सामाजिक संगठन (जिसके फलस्वरूप लोगो को अनियमित अतिक्रमण से खेतो की रक्षा होती है), मजदूरो का ज्ञान, उनकी वोलने और शव्दो को समझ सकने की क्षमता आदि अनेक ऐसे दूसरे तत्व भी है जिनका सूखी घास के उत्पादन मे योग होता है, किनु जिनकी न जाने क्यो अर्थशास्त्र में गणना नही की जाती।

सूर्य की शक्ति भी भूमि की ही भाति उत्पादन का एक साधन है, वल्कि उससे भी अधिक आवश्यक। यह वात कल्पना से वाहर नही है कि नगर के लोग दीवार खडी करके या पेडो द्वारा एक-दूसरे को सूर्य के प्रकाश से वचित करने का अधिकार प्राप्त कर सकते है। तो फिर उसकी गणना उत्पादन के साधनो मे क्यो नही होती ? पानी भी भूमि के समान ही उत्पादन का एक आवश्यक साधन है। यही वात वायु की है। यह सम्भावना भी कल्पना से वाहर नही है कि कुछ लोग आवश्यक जल और वायु पर एकाधिकार प्राप्त करके दूसरो को इनसे वचित करदे। सामाजिक सरक्षण भी इसी प्रकार का एक अनिवार्य साधन है और जैसाकि कुछ अर्थशास्त्री स्वीकार करते है, मजदूरो के लिए भोजन और वस्त्र की गणना भी उत्पादन के साधनो मे ही होनी चाहिए। शिक्षा और वोलने की योग्यता भी, जिनसे विभिन्न प्रकार के काम करने की क्षमता आती है, इसी प्रकार के साधन है। यदि मै उत्पादन के ऐसे-ऐसे अनुल्लिखित साधनो की गिनती करने वैठू तो उनसे एक पूरी-की-पूरी पुस्तक भर सकता हू। तो फिर, क्या कारण है कि उत्पादन के केवल तीन साधन चुने गए है और वे ही अर्थशात्र की नीव माने गए है ? सूर्य के प्रकाश और पानी को भी भूमि के समान उत्पादन का पृथक-पृथक साधन माना जा सकता है। इसी तरह मजदूरो के औजारो के समान उनके भोजन-वस्त्र, ज्ञान और इसके सचारण को भी उत्पादन के स्वतत्र साधनो मे गिना जा सकता है। क्या कारण है कि सूर्य की

किरणो, पानी, भोजन और ज्ञान की गणना उत्पादन के पृथक साधनो के रूप में नही होती और केवल भूमि, औजार और श्रम ही इस श्रेणी में सम्मिलित किये जाते है ? क्या इसका कारण केवल यह है कि सूर्य की किरणो, पानी, हवा और बोलने अथवा सुनने की क्षमता के सम्बन्ध में बिरले ही कोई किसी विशेषाधिकार का दावा करता है, जबकि भूमि और श्रम सम्बन्धी अधिकारो के लिए हमारे समाज मे सदा झगडा होता रहता है ? निस्सदेह इस वर्गीकरण का कोई और आधार नही है। अत मै समझता हू कि उत्पादन के साधनो का केवल तीन अगो मे विभाजन एक जबर्दस्ती का विभाजन है और पदार्थो के रूप पर निर्भर नही है। किंतु सम्भवत यह विभाजन मनुष्य-समाज के लिए इतना स्वाभाविक है कि जहा-कही आर्थिक सम्बन्ध स्थापित होते है वहा उत्पादन के ये ही तीन साधन सामने आते है।*

अब देखना है कि क्या यह बात सही है। सबसे पहले मै अपने चारो ओर रहनेवाले रूसी प्रवासियो को लेता हू, जिनकी सख्या लाखो थी और अब भी है। ये प्रवासी किसी नई जगह जाते है और वहा बस-कर काम करने लगते है। यह बात उनकी समझ में बिलकुल नही आती कि जो आदमी किसी भूमि को जोतता-बोता नही उसका उसपर अधिकार हो और भूमि अपना कोई अलग दावा पेश न करे। इसके विपरीत प्रवासी समझते है कि भूमि सारे समाज की सम्पत्ति है और प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का अधिकार है कि वह जहा चाहे वहा और जितनी सम्हाल सके उतनी भूमि जोते और बोए। प्रवासी अपने साथ जमीन जोतने, तरकारी पैदा करने और मकान बनाने के लिए औजार लाते है; किन्तु उनके मन मे यह विचार कभी नही आता कि औजार स्वय भी कमाई कर सकते है। ये औजार, जिन्हें पूजी कहा जाता है, कभी अपना कोई दावा करते भी नही। इसके

---

* अर्थशास्त्र के सिद्धातो में अब महान् परिवर्तन हो गए है। टॉल्स-टॉय ने जितनी भी बाते गिनाई है उनकी गणना आज के अर्थशास्त्रियो के मतानुसार भूमि, श्रम अथवा पूजी के अन्तर्गत करली जाती है।

विपरीत प्रवासी लोग यह बात पूर्ण चेतनता के साथ स्वीकार करते हैं कि औजार या अनाज—अर्थात् पूंजी—को उधार देने के लिए ब्याज लेना अन्याययुक्त है। ये प्रवासी मुफ्त भूमि पर स्वयं अपने औजारों से अथवा बिना किसी ब्याज के उधार लिये हुए दूसरों के औजारों से अलग-अलग या सब मिलकर सामान्य हित के लिए काम करते हैं। इस प्रकार के सामूहिक समाज में, किराए, पूंजी, ब्याज या मजदूरी का अस्तित्व सिद्ध करना असम्भव है। ऐसे समाज का उल्लेख करते समय मैं कोई मनगढ़न्त बात नहीं कर रहा हूं बल्कि उस वस्तु-स्थिति का दिग्दर्शन करा रहा हूं जो सब जगह दिखाई देती रही है और केवल रूसी प्रवासियों के बीच ही नहीं बल्कि सर्वत्र उस समय तक दिखाई देती है जबतक मनुष्य-जाति की स्वाभाविक प्रकृति बिगाड़ नहीं दी जाती। मैं वही बात कह रहा हूं जो प्रत्येक मनुष्य को स्वाभाविक और न्यायसंगत प्रतीत होती है। लोग भूमि पर बस जाते हैं और अपने-अपने स्वभाव के अनुसार काम करने लगते हैं। उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने काम के लिए आवश्यक तैयारी करके अपना काम स्वयं करता है। यदि ये लोग देखते हैं कि इकट्ठा मिलकर काम करना उनके लिए अधिक सुविधाजनक होगा तो वे अपना एक संघ बना लेते हैं; किंतु न तो उनकी व्यक्तिगत खेती में और न सामूहिक व्यवस्था में ही उत्पादन के साधन अलग-अलग किये जाते हैं। वहां तो केवल श्रम और श्रम-सम्बन्धी आवश्यक साधन होते हैं: जैसे, सूर्य जो सबको गरमी देता है: हवा जिसमें सब लोग सांस लेते हैं; पानी जिसे वे लोग पीते हैं· भूमि जिसपर वे काम करते हैं· कपड़े जिनसे वे शरीर ढकते हैं; भोजन जिससे वे पेट भरते हैं और डंडे, कुदाली, हल, मशीन आदि जिनकी सहायता से वे कार्य करते हैं। यह स्पष्ट है कि न तो सूर्य, न वायु, न जल, न भूमि न तन ढकने के कपड़े, न डंडे, न कुदाली, न हल, न मशीनें किसी और के हो सकते हैं सिवा उनके जो सूर्य की किरणों का उपभोग करते हैं, हवा में सांस लेते हैं, पानी को पीते हैं, रोटी को खाते हैं, कपड़ों से तन ढकते हैं और कुदाली या मशीन से काम करते हैं; क्योंकि इन सब वस्तुओं की आवश्यकता केवल उन्हीं

को होती है जो इनका उपयोग करते हैं। जब लोग इस रीति से काम करते है तब हमें ऐसा लगता है कि वे वैसा ही कार्य कर रहे हैं जैसा कि मनुष्य के लिए उचित और विवेकपूर्ण है। अत मनुष्यो के पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध को दृष्टि मे रखते हुए मैं यह नही कह सकता कि उत्पादन के साधनो का तीन अगो मे विभाजित किया जाना उनके लिए स्वाभाविक है। इसके विपरीत मैं इसे अस्वाभाविक और विवेकहीन समझता हू। किंतु कदाचित् आदिम समाज ही एक ऐसा समाज है जिसमें उत्पादन के साधनो का तीन अगो मे विभाजन नही होता। बाद मे जैसे-जैसे जन-सख्या बढती जाती है और सस्कृति का विकास होता है वैसे-वैसे यह विभाजन अनिवार्य हो जाता है। यह विभाजन यूरोपीय समाज मे भी हुआ है और जो बात सिद्ध हो चुकी है उसे स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा नही। किंतु देखना यह है कि इस बात मे सत्य कहा तक है। हमे बतलाया जाता है कि यूरोपीय समाज मे उत्पादन के अगो का पूरा-पूरा विभाजन हो गया है; अर्थात्, एक वर्ग के लोगो के पास जमीन है, दूसरे वर्ग के लोगो के पास औजार और तीसरे वर्ग के लोग इन दोनो से वचित कर दिये गए हैं। मजदूर लोग इसी तीसरे वर्ग मे हैं। उन्हें भूमि और औजारो से वचित मानने के हम इतने अभ्यस्त हो गए है कि अब हमें इसमे कोई विचित्रता नही प्रतीत होती। किंतु यदि हम विचार करे तो हमे तत्काल पता चल जायगा कि यह बात कितनी अशुद्ध और मूर्खतापूर्ण है। उसका खडन स्वय उसीमे छिपा हुआ है। मजदूर की कल्पना करते समय हम उसके साथ उस भूमि और उन औजारो को भी मिला लेते है जिसपर और जिनकी सहायता से वह कार्य करता है। यदि उसके पास रहने को भूमि और काम करने को औजार न हो तो वह मजदूर हो ही नही सकता। भूमि और औजारो के बिना न आजतक कोई मजदूर हुआ है और न हो सकता। हम ऐसे किसी खेतिहर मजदूर की कल्पना नही कर सकते जिसके पास काम करने के लिए भूमि, हसिया, गाडी और घोड़ा न हो। इसी प्रकार ऐसा मोची अकल्पनीय है जिसके पास मकान, पानी, हवा और काम करने के औजार न हो। यदि किसी किसान के पास

भूमि, घोड़ा या हसिया न हो, या किसी मोची के पास मकान, पानी या कूआ न हो तो इसका अर्थ यही है कि किसीने उसे भगाकर उसकी भूमि हड़प ली है या धोखा देकर उससे उसका हंसिया, उसकी गाडी, घोडा या सूआ छीन लिया है। किंतु इसका यह अर्थ नही है कि हल के विना कोई खेतिहर मजदूर हो सकता है या औजार के विना कोई आदमी मोची हो सकता है। जिस प्रकार हम जल से दूर भूमि पर खडे हुए किसी वसी-विहीन मछेरे की कल्पना नही कर सकते—सिवा उस दशा मे जवकि किसीने उसे पानी से दूर भगा दिया हो और उसकी वसी आदि छीन ली हो—उसी तरह हम भूमि और औजारो से विहीन किसी किसान या मोची की कल्पना उस समय तक नही कर सकते जवतक कि किसीने उससे उसकी भूमि और उसके औजार छीन न लिये हो।

ऐसे आदमी हो सकते है जिनको एक जगह से दूसरी जगह भगा दिया गया हो, जिनके काम करने के औजार छीन लिये गए हो और जिन्हे दूसरो के औजार लेकर ऐसे पदार्थ वनाने के लिए विवश किया जाता हो जिनकी उन्हें स्वय अपने लिए आवश्यकता नही होती; किंतु इसका अर्थ यह नही कि उत्पादन की प्रणाली होती ही ऐसी है। इससे तो केवल इतना व्यक्त होता है कि कही-कही उत्पादन की स्वाभाविक शर्तो का उल्लघन होता है। यदि हम उन सव पदार्थो को उत्पादन का साधन मानते है जिनसे मजदूर को वलपूर्वक वंचित किया जा सकता है, तो फिर दास के शरीर पर अधिकार का जो दावा किया जाता है उसे भी उत्पादन का अग क्यो न माना जाय ? इसी तरह सूर्य की किरणो, वायु, जल आदि के प्रयोग के अधिकार को भी उत्पादन के साधनो मे क्यो न गिना जाय ? सम्भव है कि कुछ लोग ऐसे हो जो दीवार खडी करके अपने पड़ोसी को धूप से वचित कर दे। ऐसे आदमी भी हो सकते है जो नदी के वहाव को तालाव की ओर मोड-कर पानी गदा कर दे। इसी तरह ऐसे आदमियो के भी होने की सम्भावना है जो दूसरो को अपनी सम्पत्ति समझें। किन्तु वलपूर्वक कार्यान्वित किये जाने पर भी उपर्युक्त तीनो दावो मे से एकको भी

उत्पादनो के साधनो के विभाजन का आधार नही माना जा सकता। भूमि और औजार सम्बन्धी काल्पनिक अधिकारो को उत्पादन का अलग-अलग साधन स्वीकार करना उतना ही अशुद्ध है जितना सूर्य की किरणो, वायु, जल अथवा किसी मनुष्य के शरीर सम्बन्धी काल्पनिक अधिकारो को। ऐसे लोग हो सकते है जो भूमि और मजदूर के काम करने के औजारो पर अपना अधिकार बताय, जैसेकि पुराने जमाने मे लोग मजदूर के शरीर को अपनी सम्पत्ति समझते थे। इसी प्रकार ऐसे लोग भी हो सकते है जो सूर्य, हवा या पानी पर एकाधिकार का दावा करें। कुछ लोग ऐसे भी हो सकते है जो श्रमजीवी को एक जगह से दूसरी जगह भगा दे और ज्योही वह अपने श्रम से कोई वस्तु उत्पन्न करे त्योही उसे उससे बलात् छीन लें और साथ-ही-साथ उसके औजारो को भी हथिया ले और उसको अपने लिए नही बल्कि अपने स्वामी के लिए श्रम करने को बाध्य करें, जैसा कि फैक्टरियो में होता है। यह सब सम्भव है; किंतु फिर भी जिस प्रकार एक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की चल सम्पत्ति नही बन सकता—चाहे कितने ही प्राचीन काल से लोग ऐसा क्यों न मानते आए हो—उसी तरह कोई मजदूर बिना जमीन और औजार के नही हो सकता।

यदि कोई मनुष्य यह दावा करे कि अमुक व्यक्ति का शरीर मेरी सम्पत्ति है तो उसका यह परिणाम नही हो सकता कि दास अपने स्वामी की अपेक्षा स्वय अपने कल्याण के लिए प्रयत्न करने के अपने प्राकृतिक अधिकार से वंचित हो जाय। ठीक इसी प्रकार किसी व्यक्ति का भूमि और दूसरो के औजारो पर स्वामित्व का दावा करना किसी मजदूर को मानवमात्र के इस नैसर्गिक अधिकार से वंचित नही कर सकता कि वह भूमि पर रहे और अपने लिए जो कुछ उपयोगी समझता है उसे स्वय अपने या समाज के औजारो से उत्पन्न करे। वर्तमान आर्थिक अवस्थाओ को देखते हुए अर्थशास्त्र केवल इतना कह सकता है कि कुछ लोग मजदूरो की जमीन और औजारो पर अपना अधिकार जताते है, इसलिए कुछ मजदूरो के लिए—सबके लिए कदापि नही—उत्पादन के नैसर्गिक नियमो का इस प्रकार उल्लंघन किया गया

है कि वे भूमि और उत्पादन सम्बन्धी औजारो से वचित होकर दूसरो के औजारो से काम करने के लिए वाध्य हो गए हैं। किन्तु इससे यह नही सिद्ध होता कि उत्पादन के नियमो का यह आकस्मिक उल्लघन स्वय उत्पादन का नियम है।

अर्थशास्त्रियो का यह कहना कि उत्पादन के साधनो का यह विभाजन उत्पादन का आधारभूत नियम है वैसा ही है जैसा वहुत-सी पखकटी छोटी हरी चिडियो को पिंजडे मे वद देखकर किसी जीव-शास्त्री का यह निष्कर्ष निकालना कि एक छोटा-सा पिंजरा और उनकी शलाको पर रखे हुए नन्हें-नन्हे पानी के वर्तन चिडियो के जीवन के आवश्यक साधन है और पक्षियो का जीवन इन्ही तीन साधनो पर निर्भर है। पिंजरो मे चाहे कितनी ही पखकटी चिडिए क्यो न हो, जीव-शास्त्री को यह नही समझना चाहिए कि पिंजरा पक्षियो के लिए जीवन का कोई प्राकृतिक वातावरण है। चाहे कितने ही मजदूरो को उनके स्थान से क्यो न भगा दिया जाय और चाहे उनकी पैदावार और उनके काम के औजारो को उनसे क्यो न छीन लिया जाय, उनकी भूमि पर रहने की तथा अपने औजारो से अपनी आवश्यकता की वस्तुए वनाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति वदलेगी नही। कुछ लोग श्रमजीवियो की भूमि और उनके औजारो पर अपना अधिकार वतलाते है, जैसा कि पुराने जमाने मे कुछ लोग उनके शरीर पर स्वामित्व का दावा करते थे; किंतु जिस प्रकार मनुष्य-समाज का विभाजन स्वामियो और दासो मे नही हो सकता—जैसा कि प्राचीन काल में लोग चाहते थ—उसी प्रकार उत्पादन के साधनो का भूमि और पूजी मे विभाजन नही हो सकता, जैसा कि वर्तमान समाज मे अर्थशास्त्री करना चाहते है। किंतु दूसरो की स्वतन्त्रता पर इस अन्याययुक्त अतिक्रमण को अर्थशास्त्री उत्पादन के स्वाभाविक साधनो के नाम से पुकारते हैं। मानव-समाज की स्वाभाविक प्रवृत्तियो को अपना आधार वनाने के वदले अर्थशात्र ने किसी विशिष्ट उदाहरण को ही ग्रहण कर लिया है और उस विशिष्ट उदाहरण को न्यायोचित सिद्ध करने के लिए उसने उस भूमि पर जिसपर एक आदमी काम करके आजीविका कमाता है और उन औजारो

पर जिनके सहारे वह रोजी कमाता है, दूसरे के अधिकार को स्वीकार कर लिया है। दूसरे शब्दो मे अर्थशास्त्र ने एक ऐसे अधिकार को मान लिया है, जिसका अस्तित्व न तो कभी था, न हो सकता है और जो स्वतः आत्मविरोधी है, क्योकि यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसी भूमि पर अधिकार जताता है जिसपर वह काम नही करता तो उसका वास्तविक तात्पर्य केवल इतना है कि वह एक ऐसी भूमि को उपयोग मे लाने का अधिकार चाहता है जिसे वस्तुत. वह इस्तेमाल नही करता। इसी तरह औजारो पर अधिकार जताने का अर्थ है ऐसे औजारो से काम करने का अधिकार मागना जिनका स्वय प्रयोग नही किया जाता। जिस प्रकार प्राचीन काल में मनुष्य-समाज को नागरिको तथा दासो की दो श्रेणियो में विभक्त करके दासो की अस्वाभाविक स्थिति को ही मनुष्य की स्वाभाविक अवस्था मानते थे, उसी तरह उत्पादन के साधनो का वर्गीकरण करके आज अर्थशास्त्र मजदूरो की उस अस्वाभाविक स्थिति को जिसमे वे रहते है, जीवन की स्वाभाविक अवस्था मानता है। अर्थशास्त्र ने इस विभाजन को केवल इसलिए स्वीकार किया है कि वर्तमान समाज के जिस दुर्गुण को उसने अपने अन्वेषण का आधार मान लिया है उसे वह न्यायसगत सिद्ध करना चाहता है। इसका परिणाम यह निकला है कि अर्थशास्त्र वर्त्तमान स्थिति को किसी-न-किसी प्रकार उचित सिद्ध करने की व्यर्थ चेष्टा करता है और सामने आनेवाले प्रश्नो के स्पष्टतम तथा सरलतम उत्तर को अगीकार न करके ऐसे उत्तर देता है कि जिनका कोई अर्थ नही होता।

अर्थशास्त्र के सामने प्रश्न यह है--क्या कारण है कि जिन लोगों के पास भूमि और पूजी है, वे भूमिहीनो और बिना पूजीवालो को दास बना लेते है? सामान्य बुद्धिवाले कहते है कि यह सब रुपए की माया है। उनका कहना है कि रुपया ही मनुष्य को गुलाम बनाता है। किंतु अर्थशास्त्र इस सिद्धान्त को स्वीकार नही करता और कहता है कि दासता का कारण रुपया नही है, बल्कि यह कि कुछ लोगो के पास भूमि और पूजी है और कुछ लोगो के पास नही। हम पूछते है--"क्या कारण है कि भूमि और पूजी के स्वामी भूमिहीनो और बिना पूजीवालो

को अपना दास बना सकते है ?" हमें उत्तर मिलता है—"क्योंकि उनके पास भूमि और पूंजी है।" किंतु, यही तो हमारा प्रश्न है। भूमि और काम के औजारो से वचित किया जाना तो दासता है ही। यह तो वही पुराना उत्तर हुआ—"इससे नीद आती है क्योंकि इसमे नींद लाने का गुण है।" किंतु जीवन अपने इस अनिवार्य प्रश्न को पूछना बंद नही करता। अर्थशास्त्र भी इसे देखता है और उत्तर देने का प्रयत्न करता है, किंतु जबतक वह अपने द्वारा चुने गए वर्तमान आधार पर ही काम करता रहेगा और भूल-भुलैया मे पडा रहेगा तबतक वह ठीक उत्तर नही दे सकेगा। इसका उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि अर्थशास्त्र सबसे पहले उत्पादन के साधनो के अपने गलत विभाजन का परित्याग करे; अर्थात् परिणाम को कारण मानना छोड दे और जिन बातो की उसे जाच-पडताल करनी है उनके पहले समीपस्थ और बाद में दूरस्थ कारणो पर विचार करे। अर्थशास्त्र को इस प्रश्न का उत्तर देना चाहिए—"क्या कारण है कि कुछ लोग तो भूमि और उत्पादन के औजारो से वचित है और कुछ लोग उन दोनो के स्वामी है ?" अर्थात्, "क्या कारण है कि जो लोग जमीन जोतते है और औजारो का उपयोग करते है उनसे उनकी भूमि और उनके औजार अलग कर दिये जाते है ?" जैसे ही अर्थशास्त्र इस प्रश्न पर विचार करना आरम्भ करेगा वैसे ही अनेक नई बाते उसके सामने आ खडी होंगी और पहलेवाली वे सारी अर्द्धशास्त्रीय धारणाए उलट-पुलट जायगी जिनका परिचालन इस दूषित आधार पर होता था कि मजदूरो की गरीबी का कारण उनकी गरीबी है। साधारण मनुष्य को इस बात मे लेशमात्र भी शका नही होती कि दासत्व का निकट कारण रुपया है। किंतु अर्थशास्त्र इसको अस्वीकार करता है और कहता है कि रुपया (द्रव्य) तो विनिमय का साधन मात्र है और उसका लोगो की दासता से कोई सम्बन्ध नही। अब देखना है कि बात ऐसी ही है या नही ?

: १८ :

फ़ीजी द्वीप की करुण कहानी

रुपया कहा से आता है? किन परिस्थितयो मे राष्ट्रो के पास रुपया सदा बना रहता है और किन परिस्थितियो में वे उसका उपयोग नही करते? जिस प्रकार प्राचीन काल में सीदियन[1] या द्रेवलियन[2] लोग रहते थे, उसी प्रकार एक जाति आज अफ्रीका या आस्ट्रेलिया में रहती है। वह कृषि, पशु-पालन और फलोत्पादन द्वारा जीवन-निर्वाह करती है। इसकी चर्चा हम इतिहास के आरम्भिक काल में सुनते हैं और इतिहास का प्रारम्भ विजेताओ के आक्रमणो से होता है। विजेता सदा एक ही रीति का अनुसरण करते आए है। मूलनिवासियो से वे जितनी भी चीजे हड़प सकते है हड़प लेते है; जैसे पशु, अन्न, वस्त्र, बुनी हुई वस्तुए आदि। इसके अतिरिक्त वे स्त्रियो और पुरुषो को वदी बनाकर लूटी हुई दूसरी वस्तुओ के साथ अपने देश ले जाते है। कुछ वर्ष वाद वे फिर चढ़ाई करते है, किंतु उस समय तक वहा के निवासी अपने पहले विनाश से भी नही सम्हल पाते और विजेताओ को लूटने के लिए बहुत कम सामग्री मिलती है। इसलिए वे उनके शोषण की और भी अच्छी-अच्छी युक्तिया ढूढ निकालते है। ये युक्तिया बहुत ही सरल होती हैं और सबको स्वभावत. ही सूझ जाती है। पहली युक्ति है व्यक्तिगत दासत्व की, किंतु इसमें कठिनाई यह होती है कि विजेताओ को समस्त पराजित जाति से काम लेने और बदले मे उसकी रोटी की व्यवस्था

---

१ एशिया की एक प्राचीन खानाबदोश जाति।

२ प्राचीन रूसी इतिहास मे उल्लिखित एक स्लैवोनिक जाति।

करनी पडती है। स्वभावत उन्हे एक दूसरी युक्ति सूझती है। इसके अनुसार वे पराजितो को उनकी ही भूमि पर रहने देते है, किंतु उय भूमि पर आधिपत्य अपना जमा लेते है और उसे अपने अनुगामियो में बाट देते हैं ताकि इन अनुगामियो द्वारा वे वहाके मूल निवासियो से मनमानी मेहनत करवा सकें। किंतु यह युक्ति भी असुविधाओ से रिक्त नही होती। विजेताओ के पृष्ठपोषको को मूल निवासियो की उत्पादन सम्बन्धी सभी क्रियाओ की व्यवस्था करनी पडती है। इसलिए एक तीसरी युक्ति सामने आती है। यह युक्ति अन्य युक्तियो के समान ही सभ्यता की द्योतक होती है। इसके अन्तर्गत पराजितो पर एक प्रकार का अनिवार्य कर लगाया जाता है जो उन्हे निश्चित समय पर भरना पडता है। विजेताओ के सामने लक्ष्य यह होता है कि जनता की पैदावार का जितना भी अधिक-से-अधिक भाग हडपा जा सकता है हडपा जाय। स्पप्ट है कि विजेता ऐसी ही वस्तुओ को हथियाना चाहेगे जिन्हे वहाके मूल निवासी सबसे अधिक बहुमूल्य समझते हो; किंतु जो भारी न हो और सरलतापूर्वक सचित की जा सके, जैसे सोना और खाल। अत. वे प्रत्येक पराजित कुटुम्ब या जाति पर सोने या खाल के रूप मे निश्चित समय पर मिलनेवाले कर लगा देते है और इस प्रकार अत्यधिक सुविधा के साथ जनता के श्रम का शोषण करते है। जब मूल निवासियो का खाल और सोने का भडार प्राय पूरा-का-पूरा उनकी भेट चढ लेता है तो अभागे पराजितो को और सोना प्राप्त करने के लिए न केवल आपस में ही एक-दूसरे को बल्कि विजेताओ और उनके अनुगामियो के हाथ भी अपनी सारी सम्पत्ति और कार्य-शक्ति बेचनी पड़ती है। यही क्रम प्राचीन और मध्यकाल मे चलता रहा था और यही अब भी चल रहा है। प्राचीन काल मे देशो की जय-पराजय प्राय हुआ करती थी और मानव-समाज मे समानाधिकार की भावना नही थी। यही कारण था कि वैयक्तिक दासता ही उन दिनो दूसरो पर स्वामित्व प्राप्त करने की सबसे प्रचलित प्रणाली थी और उसकी मुख्य विशेषता यह थी कि दासो के साथ चल-सम्पत्ति का-सा व्यवहार किया जाता था। मध्यकाल मे इस प्रकार की दासता का स्थान कुछ अश में सामतशाही अर्थात

भूस्वामित्व और चाकरी ने ले लिया और दासत्व के खिंचाव का केन्द्र व्यक्ति से हटकर भूमि पर आ गया। आधुनिक काल में—जब से अमरीका का पता लगा, व्यापार मे उन्नति हुई, बहुलता के कारण सोना ससार भर में प्रामाणिक सिक्के के रूप में स्वीकार कर लिया गया और विभिन्न देशो की राज्य-शक्ति भी बढी—तबसे रुपए या द्रव्य के रूप मे कर लेना लोगो के शोषण की मुख्य विधि बन गया है और मनुष्य के समस्त आर्थिक सम्बन्ध इसी पर आधारित हैं। एक साहित्यिक पुस्तक में प्रोफेसर यानजूल का एक लेख है जिसमें उन्होने फीजी द्वीप के आधुनिक इतिहास का वर्णन किया है। यह प्रमाणित करने के लिए कि किस प्रकार वर्तमान युग में रुपया वसूल करना ही दूसरो को दास बनाने का प्रमुख साधन बन गया है, यदि मैं कोई अत्यन्त प्रभावोत्पादक उदाहरण उपस्थित करना चाहूं तो मुझे नीचे लिखे सत्य-विवरण से बढकर कोई दूसरा दृष्टात नही मिलेगा। यह विवरण लिखित प्रमाणो पर आधारित है।

फीजी लोग दक्षिण प्रशात महासागर मे पोलिनीशिया के द्वीपो में रहते हैं। प्रोफेसर यानजूल के अनुसार इस द्वीप-समूह मे कई छोटे-छोटे टापू हैं, जिनका क्षेत्रफल लगभग ८,००० वर्गमील है। आबादी केवल आधे टापुओ मे है। कुल जन-संख्या १,५१,५०० है, जिसमे से १,५०,००० मूल निवासी और १,५०० गोरे हैं। मूल-निवासियो को जंगली अवस्था मे से निकले हुए बहुत दिन हो गए हैं और वे अपनी योग्यता के लिए प्रसिद्ध हैं। थोडे ही दिनो में कृषि और पशुपालन की अच्छी योग्यता प्राप्त करके उन्होने यह सिद्ध कर दिया है कि उनमे कार्य और विकास की क्षमता है। पहले ये लोग वैभव-शाली थे; परन्तु सन् १८५९ मे भीषण सकट में फस गए। अमरीकी सरकार ने फीजी राजा पर यह अभियोग लगाया कि तुम्हारी प्रजा ने कुछ अमरीकी नागरिको के साथ हिंसात्मक अत्याचार किये हैं इसलिए उसकी क्षतिपूर्ति के रूप मे ४५,००० डालर दो। अतः फीजी-निवासियो और उनके राजा थाकम्बाऊ को एकाएक रुपए की आवश्यकता पड़ गई।

क्षतिपूर्ति के धन को वसूल करने के लिए अमरीकियो ने एक सैन्य-दल भेजा, जिसने जमानत के रूप मे कुछ सर्वोत्तम टापुओ पर अचानक अधिकार कर लिया और यहा तक धमकी दी कि यदि क्षतिपूर्ति का रुपया एक निश्चित तिथि तक अमरीकी प्रतिनिधियो को न दे दिया गया तो गोलावारी करके उनकी वस्तिया नष्ट कर दी जायगी।

धर्म-प्रचारको के साथ जो गोरे फीजी मे सबसे पहले जा बसे थे उनमे अमरीकी भी थे। इन लोगो ने किसी-न-किसी वहाने टापुओ की सर्वोत्तम भूमि को चुन या हथिया कर उसपर रूई और कॉफी की खेती आरम्भ कर दी। उन्होने वहाके असख्य निवासियो को मजदूरी पर रख लिया और उन वेचारो को या तो ऐसी शर्तो मे जकड लिया जिन्हे वे समझ नही पाते थे या उन्हे ऐसे ठेकेदारो द्वारा नौकरी पर लगाया जो गुलामो का व्यापार किया करते थे। इन खेतो के गोरे स्वामियो और मूलनिवासियो मे, जिन्हे गोरे अपना गुलाम समझते थे, झगडा अनिवार्य था। इसी प्रकार के एक झगडे को वहाना बनाकर अमरीका ने क्षतिपूर्ति की माग की थी। वैभवशाली होते हुए भी फीजी-निवासी उस समय तक भुगतान जिन्स के जरिए किया करते थे; जैसा कि यूरोप मे भी मध्यकाल तक प्रचलित था। वे रुपए का प्रयोग नही करते थे और उनका सारा व्यापार वस्तु-विनिमय के ही रूप मे होता था। माल के वदले माल दिया जाता था और जो इने-गिने सार्वजनिक अथवा सरकारी कर थे, उनका भुगतान पैदावार से होता था। अत जव अमरीकावालो ने फीजीनिवासियो और उनके राजा थाकम्वाऊ से ४५,००० डालर की क्षतिपूर्ति मांगते हुए समय पर रुपया न भरे जाने पर भीषण परिणामो की धमकी दी तव उनके सामने एक विकट समस्या आ खडी हुई। उनके लिए तो ४५,००० का अक ही कल्पनातीत था; डालर की तो वात ही क्या, जिसको इतने परिमाण मे उन्होने कभी देखा ही नही था। थाकम्वाऊ ने दूसरे सामतो से परामर्श करके इग्लैंड की रानी की सहायता लेने का निश्चय किया। पहले उसने रानी से फीजी द्वीपो को अपने

सरक्षण मे लेने की प्रार्थना की। बाद में उसने इन द्वीपो के अग्रेजी राज्य में मिला लिये जाने की चर्चा उठाई, किंतु अग्रेजो ने इस प्रार्थना पर अत्यन्त सावधानी से विचार किया और उस अर्द्ध-सभ्य राजा को आपत्ति-काल मे सहायता देने की कोई उतावली नही दिखाई। सीधा उत्तर देने के बदले उन्होने फीजी द्वीप की जाच-पडताल के लिए सन् १८६० मे एक कमीशन भेजा जिससे कि यह निश्चय किया जा सके कि अमरीकी पावनेदारों को सतुष्ट करने और फीजी द्वीपो को ब्रिटिश उपनिवेश में मिलाने के लिए धन व्यय करना लाभदायक होगा या नही।

इस बीच अमरीकी सरकार क्षतिपूर्ति के भुगतान के लिए बराबर तकाजा करती रही। जमानत के रूप में उसने वहा के कुछ सर्वोत्तम स्थानो पर अधिकार कर लिया और लोगो की सम्पन्नता को देखकर क्षतिपूर्ण की राशि ४५,००० डालर से बढाकर ९०,००० डालर कर दी। साथ-ही-साथ उसने यह भी धमकी दी कि यदि थाकम्बाऊ ने भुगतान में तत्परता नही दिखाई तो क्षतिपूर्ति की राशि और भी बढा दी जायगी। इस प्रकार चारो ओर से दबाए जाने पर बेचारे थाकम्बाऊ ने, जिसको उधार लेन-देन की यूरोपीय पद्धति का तनिक भी ज्ञान नही था, यूरोपीय प्रवासियो की सलाह पर मेलबोर्न के व्यापारियो से किसी भी शर्त पर—यहा तक कि किसी एक व्यक्ति के पास अपना सारा राज्य गिरवी रखकर भी—रुपया लेने की चेष्टा की। थाकम्बाऊ की प्रार्थना के फलस्वरूप मेलबोर्न मे एक व्यापारी कम्पनी की स्थापना हुई, जिनका नाम पोलिनीशियन कम्पनी रखा गया। इस कम्पनी ने अपने लिए बहुत ही अनुकूल शर्तो पर फीजी के सरदारो के साथ एक समझौता किया। अमरीकी सरकार के ऋण को कुछ निश्चित तिथियो तक चुका देने का वचन देकर कम्पनी ने समझौते की पहली शर्त के अनुसार आरम्भ मे १,००,००० और बाद मे २,००,००० एकड अच्छी-से-अच्छी अपनी पसन्द की भूमि ले ली। इसके अतिरिक्त उसने अपनी फैक्टरियो, बस्तियो आदि को सदा के लिए सब तरह के करो और चुगियो से मुक्त करा लिया। साथ-ही-साथ, उसने बहुत

समय तक के लिए फीजी मे बैक स्थापित करने का एकाधिकार प्राप्त कर लिया और अनिश्चित सख्या में नोट चलाने की छूट भी ले ली। समझौते के बाद से, जिसपर अतिम रूप से सन् १८६८ मे हस्ताक्षर किये गए, फीजी-निवासियो को थाकम्बाऊ की अधीनता में अपनी निजी सरकार के अतिरिक्त एक-दूसरी शक्ति का सामना करना पडा। यह शक्ति वह प्रभावशाली व्यवसायी कम्पनी थी जिसके पास सभी टापुओ मे बडी-बडी जमीदारिया थी और जिसका थाकम्बाऊ सरकार में बड़ा बोलवाला था। उस समय तक थाकम्बाऊ सरकार अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विभिन्न करो के रूप मे मिलने-वाले पदार्थो को लेकर और आयात पर थोडी-सी चुगी वसूल कर ही सतुष्ट हो जाती थी; किंतु शक्तिशाली पोलिनीशियन कम्पनी की स्थापना और उसके साथ की गई सधि के फलस्वरूप फीजी सरकार की आर्थिक स्थिति बदल गई। उसकी सर्वोत्तम भूमि का एक बहुत बडा भाग कम्पनी के हाथ मे चला गया, जिसके परिणामस्वरूप कर घट गए। उधर, जैसा कि बतलाया जा चुका है, कम्पनी को बिना चुगी दिये ही माल भेजने और मगाने का अधिकार मिल गया था। परिणाम यह हुआ कि चुगी की आय भी कम हो गई। मूल-निवासियो अर्थात् फीजी के ९९ प्रतिशत लोगो से चुगी की आय वैसे ही बहुत कम होती थी, क्योंकि रूई और धातुओ के कुछ सामान के अतिरिक्त वे किसी अन्य विदेशी वस्तु का उपयोग नही करते थे। अब जबकि पोलिनीशियन कम्पनी के कारण यूरोप के धनी लोग भी चुगी देने से बचने लगे तो थाकम्बाऊ की आय नाममात्र की रह गई। स्वभावत थाकम्बाऊ को अपनी आय बढाने के लिए प्रयत्नशील होना पडा। उसने अपने गोरे मित्रो से सलाह पूछी कि मै इन कठिनाइयो से कैसे बच सकता हू। उन्होने थाकम्बाऊ को अपने देश में पहली बार प्रत्यक्ष कर लगाने की सलाह दी और यह भी कहा कि काम को सरल बनाने के लिए इस कर को रुपए के रूप मे वसूल किया करो। यह कर एक पौण्ड प्रति पुरुष और चार शिलिग प्रति स्त्री के हिसाब से व्यक्ति-कर के रूप मे लगाया गया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, फीजी द्वीपसमूह में अब भी खेती और प्रत्यक्ष वस्तु-विनिमय की प्रथा प्रचलित है। वहाके मूल-निवासियो में ऐसे बहुत ही कम लोग है जिनके पास रुपया या द्रव्य हो। विभिन्न प्रकार के कच्चे माल और पशु ही उनका धन है, रुपया नही। फिर भी, नए कर के अनुसार फीजी-निवासियो से एक निश्चित तिथि पर और चाहे जैसे भी हो वैसे रुपए के रूप में एक ऐसी रकम मांगी गई जो सकुटुम्ब व्यक्तियो के लिए काफी भारी सिद्ध हुई। उस समय तक कोई फीजी-निवासी मजदूरी के अलावा और किसी रूप मे सरकार को व्यक्तिगत कर देने का अभ्यस्त नही था। कर तो गाव या समुदाय द्वारा सार्वजनिक खेतो की पैदावार में से भरे जाते थे और यही पैदावार फीजी-निवासियो की भी आय का प्रधान साधन थी। नई कठिनाई को दूर करने का इनके पास एक ही उपाय था और वह था गोरे औपनिवेशिकों से रुपया लेना। इसके लिए इन्हें या तो व्यापारियो की शरण लेनी पडती या खेत के मालिको की। टैक्स-कलक्टर कर का रुपया एक निश्चित तिथि तक चाहते थे, इसलिए यदि उसे चुकाने के लिए मूल निवासी व्यापारी के पास रुपया लेने जाते थे तो उन्हें अपनी चीजें व्यापारी के हाथ किसी भी मूल्य पर बेच देनी पडती थी। कभी-कभी तो आगामी फसल को गिरवी रखकर रुपया लेना पडता था, जिससे लाभ उठाकर व्यापारी लोग स्वभावत अनुचित कमाई करते थे। दूसरी युक्ति यह थी कि लोग जमीदार के पास जाकर उसके हाथ अपनी मेहनत बेच देते, अर्थात उसके मजदूर बन जाते। किंतु उन दिनो फीजी द्वीप मे मजदूरी बहुत कम थी जिसका कारण सम्भवत. यह था कि एक साथ बहुत-से आदमी काम करने को तत्पर हो गए थे। वर्तमान सरकार की रिपोर्ट के अनुसार उस समय प्रत्येक वयस्क पुरुष को प्रति सप्ताह एक शिलिंग या प्रति वर्ष दो पौण्ड बारह शिलिंग॰ से अधिक नही मिलता था। इसका परिणाम यह होता था कि केवल निजी कर चुकाने के लिए—कुटुम्ब के कर की कौन कहे—

॰ लगभग ३५ रुपए

फीजी-निवासियो को घरवार, परिवार, भूमि और खेती छोड़कर कभी-कभी तो वहुत दूर दूसरे टापू मे जाना पडता था और नए टैक्स के एक पौण्ड के लिए किसी जमीदार की दासता मे छ महीनो को वधना पडता था। सारे कुटुम्ब के कर को चुकाने के लिए उसे दूसरे साधनो की शरण लेनी पडती थी।

इस प्रकार की व्यवस्था का क्या परिणाम हो सकता था, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। अपनी १,५०,००० प्रजा से थाकम्वाऊ केवल ६,००० पौड इकट्ठा कर सका। इसके पश्चात करो के भुगतान के लिए घर-घर इस प्रकार माग की जाने लगी जैसी पहले कभी नही की गई थी और लोगो पर बहुत-से अनिवार्य काम भी लादे जाने लगे। स्थानीय शासन के कर्मचारी, जो पहले ईमानदार थे, शीघ्र ही उन गोरे जमीदारो से जा मिले जिन्होने देश की व्यवस्था अपने हाथो मे ले ली थी। कर न चुकाने के अपराध में फीजी-निवासी अदालतो मे प्रस्तुत किये जाने लगे और उन्हे अदालती व्यय भरने के अतिरिक्त कम-से-कम छः महीने के कारावास का दड भी दिया जाने लगा। जेल का काम उस खेत से लिया जाता था जिसका गोरा स्वामी कैदी का कर चुकाने और मुकदमे का खर्च भरने को सबसे पहले तैयार हो जाता था। दूसरे शब्दो मे यो कहिए कि अदालत अभियुक्त फीजी-निवासियों को गोरो के हाथ सौंप देती थी जिनके खेतो पर अनिवार्य मजदूरी करके उन्हे कारावास का-सा समय काटना पडता था। इस प्रकार गोरो को जितने मजदूरो की आवश्यकता होती थी, उतने उन्हे सस्ते दामो पर मिल जाते थे। आरम्भ मे इस अनिवार्य मजदूरी का दण्ड छ महीने से अधिक के लिए नही दिया जाता था; किंतु वाद में भाडे के टट्टू जज यह दण्ड अट्ठारह-अट्ठारह महीने तक के लिए देने लगे। कभी-कभी तो वे इस दण्ड को दुहरा भी देते थे। अत. कुछ ही वर्षो में फीजी-निवासियो की आर्थिक स्थिति सर्वथा वदल गई। पूरे-के-पूरे जिले, जो पहले हरे-भरे और सम्पन्न थे, अव विलकुल कगाल हो गए और उनकी जन-सख्या आधी रह गई। वूढो और दुर्वलो को छोडकर सारा-का-सारा पुरुष-समाज कर चुकाने के लिए रुपया कमाने या

अदालत द्वारा दिया गया दण्ड भोगने के लिए घर से दूर गोरे जमीदारो के यहा पापड बेलने लगा। फीजी की स्त्रिया खेती का काम नही करती; अत पुरुषो की अनुपस्थिति में उन्होंने या तो खेतो की रत्ती भर भी चिन्ता नही की या खेती बिलकुल बद कर दी। कुछ ही वर्षों मे फीजी की आधी जन-सख्या गोरो का गुलाम बन गई। स्वभावत अपनी दशा सुधारने के लिए इन लोगो ने एक बार फिर इंगलैंड का द्वार खटखटाया। एक नया प्रार्थनापत्र तैयार किया गया जिसमें फीजी के अनेक प्रसिद्ध व्यक्तियो और सामन्तो ने ब्रिटिश प्रजा बनाए जाने की याचना की। यह प्रार्थना-पत्र ब्रिटिश राजदूत को दे दिया गया। इस बीच इगलैंड अपने अन्वेषक यात्रियो की सहायता से फीजी-द्वीपो का ज्ञान ही नही प्राप्त कर चुका था, बल्कि उसने उनका पर्यवेक्षण भी कर लिया था। साथ-ही-साथ उसे यह भी पता चल गया था कि संसार के एक कोने में पड़े हुए इस सुन्दर द्वीप-समूह मे कितना प्राकृतिक धन है। अत इस बार की चेष्टा पूर्ण रूप से सफल रही और सन् १८७४ मे इगलैंड ने फीजी-द्वीप-समूह पर सरकारी रूप से अधिकार कर उसे अपने उपनिवेशो में मिला लिया। इसके फलस्वरूप अमरीकी जमीदारो मे बडा असंतोष फैला।

थाकम्वाऊ का देहात हो गया और उसके उत्तराधिकारियो को थोड़ी-सी पेंशन दे दी गई। द्वीप-पुज का शासन-भार न्यू साउथ वेल्म के गवर्नर सर हरकुलिज राबिनसन को सौप दिया गया, जो बाद मे लार्ड रासमीड कहलाए। अंग्रेजी राज्य मे मिलने के बाद एक वर्ष तक फीजी मे अग्रेजो की कोई सरकार नही रही, सर हरकुलीज राबिनसन ने वहां अपनी ओर से केवल एक व्यवस्थापक नियुक्त कर दिया। द्वीपो को अपने हाथ मे लेने के बाद अंग्रेजी सरकार से जो आशाएं की गई थी उन्हे पूर्ण करने मे उसे बडी कठिनाइयो का सामना करना पडा। एक ओर तो फीजी के मूल-निवासी घृणित मनुष्य-कर के बंद किये जाने की आशा करते थे। दूसरी ओर वहा के गोरे निवासियो मे स्वार्थ का संघर्ष था। अमरीकी लोग तो अग्रेजों के शासन को शंका की दृष्टि से देखते थे, जबकि ब्रिटिश लोग हर तरह की सुविधाओ के आकांक्षी थे;

जैसे, मूल-निवासियो पर अपनी सत्ता की स्वीकृति, हड़पी हुई फीजी भूमि पर अपने अधिकार का नियमित माना जाना, आदि। अग्रेजी सरकार ने इस समस्या का योग्यतापूर्वक सामना किया। सबसे पहले उसने उस मनुष्य-कर का अत किया जिसके कारण थोडे-से औपनिवेशिको के लाभ के लिए वहाके मूल निवासी दासता की जजीर मे जकड दिये गए थे, किंतु इस मामले मे सर हरकुलीज राबिनसन को एक भीषण असमजस का सामना करना पडा। जिस मनुष्य-कर से मुक्ति पाने के लिए फीजी-निवासियो ने ब्रिटिश सरकार से अपील की थी उसका अत करना तो आवश्यक था ही, साथ-ही-साथ अग्रेजी औपनिवेशिक नीति के अनुसार यह भी आवश्यक था कि फीजी द्वीप-समूह अपनी शासन व्यवस्था पर किये जानेवाले व्यय का भार स्वय सम्हाले। किंतु मनुष्य-कर के हट जाने पर फीजी को चुगी से वर्ष भर मे ६,००० पौंड से अधिक आय नही होती थी, जब कि शासन-प्रबध का वार्षिक व्यय कम-से-कम ७०,००० पौंड पडता था। इसलिए राबिनसन ने द्रव्य-कर हटा कर श्रम-कर लगाया, अर्थात फीजी-निवासियो को राज्य के लिए अनिवार्य रूप से काम करने के लिए बाध्य किया। इससे भी ७०,००० पौंड की वह रकम पूरी न हो सकी जिसकी उसे अपने और अपने सहकारी कर्मचारियो के व्यय के लिए आवश्यकता थी। यह स्थिति सर ए० एम० गार्डन (बैरन स्टेनमूर) नामक नए गवर्नर की नियुक्ति तक इसी प्रकार चलती रही। उसने अपने और अपने अधीनस्थ कर्मचारियो के आवश्यक व्यय की पूर्ति के लिए एक नई युक्ति निकाली। उसने निश्चय किया कि जबतक द्वीप मे मुद्रा का प्रचुर प्रचार नही हो जायगा, तबतक वह मुद्रा की माग न कर वहाके निवासियो द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले पदार्थों को इकट्ठा करता रहेगा और उन्हे स्वयं बेचेगा।

फीजी-निवासियो के जीवन की यह करुण कहानी हमे साफ-साफ और अच्छी तरह बता देती है कि वास्तव मे रुपया क्या है और उसका प्रभाव कितना व्यापक होता है। इसमे हम सारी बाते स्पष्ट रूप से देख लेते है—एक ओर हमे दासता के मूल आधार—तोप, धमकी, हत्या, लूटमार इत्यादि—का परिचय मिलता है और दूसरी ओर दासता के मुख्य शस्त्र

रुपए का स्वरूप दिखाई देता है—वह रुपया, जिसने अब अन्य सभी साधनो का स्थान ले लिया है। राष्ट्रो के आर्थिक विकास के इतिहास मे हमें शताब्दियो तक की जिन घटनाओ का अध्ययन करना पडता है, वे सब, आर्थिक उत्पीडन के विभिन्न रूपो के पूर्णत विकसित हो जाने के कारण, यहां केवल दस वर्षों मे केन्द्रीभूत हो गई हैं। नाटक इस प्रकार प्रारम्भ होता है—अमरीकी सरकार फीजी-निवासियो को दास बनाने की इच्छा से प्रेरित होकर फीजी द्वीप-समूह में तोपो से भरे हुए जहाज भेजती है। धमकी का बहाना आर्थिक है, किंतु फीजी-निवासियो—औरतो, बच्चो, बूढ़ो और बेकसूरों—के सामने तोपें तान दी जाती हैं। यही कहानी आज अफ्रीका, चीन और मध्य एशिया में दोहराई जा रही है। सब राष्ट्रो की पराजय के इतिहास मे यही कहानी दोहराई गई है। यह था नाटक का सूत्रपात जिसका मूल मत्र था—"रुपया दो या जीवन।" पहले ४५,००० डालर, फिर ९०,००० डालर या रक्त की नदिया। किंतु ९०,००० डालर आते कहा से ? वे तो अमरीकियो की जेब में थे। और तब आरम्भ होता है नाटक का दूसरा अक। सक्षिप्त, रक्तपात से परिपूर्ण, भयकर और केन्द्रित नर-सहार की योजना स्थगित करनी पड़ती है और उसके स्थान पर ऐसी यातनाए आरम्भ की जाती हैं जो दिखलाई तो कम देती हैं किंतु होती हैं अधिक चिरस्थायी। इसपर फीजी द्वीपो के निवासी अपने शासक सहित नर-सहार के बदले आर्थिक दासता स्वीकार करते हैं। वे रुपया उधार लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मानवीय दासता के आर्थिक रूप प्रस्फुटित होते हैं।

यह आर्थिक दासता अपने विभिन्न रूपो मे एक अनुशासित सेना के समान तुरन्त कार्य करना आरम्भ कर देती है और पाच वर्ष के भीतर सारा काम पूरा हो जाता है। फीजी-निवासी न केवल अपनी भूमि और सम्पत्ति का उपभोग करने के अधिकार से वचित कर दिये जाते हैं बल्कि उनसे उनकी स्वतत्रता भी छीन ली जाती है। वे दास बन जाते हैं।

इसके बाद तीसरा अक आरम्भ होता है। स्थिति असह्य हो जाती है और लोगो के कानो मे भनक पड़ती है कि वे अपना स्वामी बदल

कर दूसरे की दासता स्वीकार कर सकते है। ध्यान रहे कि इस समय आर्थिक दासता से मुक्ति पाने की किसीको चिता नही रह जाती। फीजी-निवासी दूसरा स्वामी बुलाते है और अपने दु खो को कम करने की प्रार्थना करते हुए उसकी अधीनता स्वीकार कर लेते है। अग्रेज आते है और देखते है कि इन द्वीपो पर अधिकार करके वे यहा के असख्य आलसियो का पेट भर सकते है। अत वे इन द्वीपो को उनके मूल-निवासियो सहित अपने राज्य मे मिला लेते है, किंतु उन्हे वे न तो अपना दास या चल सम्पत्ति ही मानते है, न उनकी जमीन को हथिया कर अपने मित्रो मे बाटते है। अब इन पुराने हथकडो की आवश्यकता नही रह जाती। अब तो केवल इस बात की आवश्यकता रह जाती है कि मूल निवासियो से कर वसूल किया जाय, जो एक ओर तो इतना भारी हो कि दासो को दासता मे बाधे रख सके और दूसरी ओर इतना पर्याप्त हो कि उससे अनगिनत निकम्मो का पेट पल सके।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, फीजी-निवासियो को अग्रेजो को ७०,००० पौण्ड देना था। इसी आधारभूत शर्त पर इगलैड उन्हे अमरीकी दासता से मुक्त करने के लिए उद्यत हुआ था। उन्हें दासता की शृ खला मे पूरी तरह से जकड देने के लिए बस इसी बात की आवश्यकता भी थी। किंतु फीजी-निवासियो की अवस्था ऐसी नही थी कि वे ७०,००० पौंड भर सकते। यह रकम उनके सामर्थ्य से बाहर थी। इसलिए कुछ समय के लिए अग्रेजो ने अपनी माग में सशोधन किया और अपने पावने का कुछ अश उपज के रूप मे लेना स्वीकार कर लिया, ताकि भविष्य मे रुपए का प्रचलन हो जाने पर वे अपना पूरा पावना वसूल कर सके। इगलैड ने पहली कम्पनी की तरह व्यवहार नही किया। उस कम्पनी के व्यवहार की तुलना जगली लोगो पर जगली आक्रमणकारियो द्वारा की गई उस प्रथम चढाई से की जा सकती है जिसमे आक्रमणकारियो का एकमात्र उद्देश्य यह होता है कि जो कुछ मिले उसे लूटपाट कर चलते बनो। किंतु इगलैड ने दासता के जाल मे फसानेवाले एक दूरदर्शी व्यक्ति के समान व्यवहार किया। उसने सोने का अडा देनेवाली मुर्गी को एक बारगी ही नही

मार डाला, बल्कि उसे सोने की चिड़िया समझकर खिलाया-पिलाया। अपनी अर्थ-सिद्धि के लिए पहले उसने लगाम ढीली कर दी ताकि बाद में वह उसे कसके खीचकर फीजी-निवासियो को उस आर्थिक दासता मे जकड दे जिसमे आज यूरोप और सारा सभ्य ससार जकडा हुआ है और जिससे मुक्ति का कोई मार्ग दृष्टिगत नही होता।

रुपया विनिमय का एक निर्दोष साधन है, किंतु तभी जब जनता की छाती पर तोपें नही तानी जाती। जब वह तोप से उडा देने की धमकी देकर वसूल किया जाता है तब अनिवार्य रुप से वही होता है जो फीजी में हुआ था। ऐसा ही हर जगह हमेशा हुआ और होता है। ऐसा ही रूस के पुराने राजाओ और डवलियनो के साथ हुआ था और ऐसा ही सब देशो के शासको और उनकी प्रजा के साथ होता है। जो लोग दूसरो का उत्पीडन करने में समर्थ होते हैं, वे उनसे इतने अधिक रुपए की माग करते हैं और उसे प्राप्त करने में इतने बल का प्रयोग करते हैं कि उत्पीडित उनकी दासता स्वीकार करने के लिए विवश हो जाता है। इसके अतिरिक्त सदा वैसा ही होता है जैसा अग्रेजो और फीजी-निवासियो के बीच हुआ था, अर्थात् उत्पीडित को शीघ्र-से-शीघ्र दास बनाने के उद्देश्य से उत्पीडक सदा आवश्यकता से अधिक रुपए की मांग करता है, कम की नही। वह सीमा का उल्लघन केवल उस दशा में नही करता जब उसके मन में नैतिक जागरूकता विद्यमान होती है। फिर भी जब उसे रुपए की आवश्यकता होती है तब वह अपनी निश्चित सीमा तक पहुचे बिना नही रहता। जहा तक सरकार या शासन-सस्था का प्रश्न है, वह तो उस सीमा का सदा उल्लघन करती है, क्योकि एक तो उसमें नैतिक भावना नही होती और दूसरे, जैसा कि हम जानते है, युद्ध-सम्बन्धी व्ययो को पूरा करने और सहयोगियो को देने के लिए उसे सदा धन की अधिक आवश्यकता रहती है। वह ऋण से सदा इतनी अधिक लदी रहती है कि उससे मुक्त होना उसके लिए असम्भव होता है और इच्छा न होने पर भी उसे १८ वी सदी के एक रूसी राजनीतिज्ञ द्वारा प्रतिपादित इस नियम का अनुसरण करना पडता है···"किसान को मूडते ही रहना चाहिए ताकि वह फूलकर मोटा न हो जाय।"

सभी सरकारे ऋण के पंक मे इतनी ही बुरी तरह फसी रहती है और उनके ऋण मे प्रति वर्ष वडे भयकर वेग से वृद्धि होती रहती है (इग्लैंड और अमरीका के आकस्मिक घाटे इसमे शामिल नही है)। इसी प्रकार बजट के अको मे भी वृद्धि होती है, अर्थात दूसरे आक्रमण-कारियो से झगडने और स्वय अपनी आक्रमणकारी योजना मे योग देने-वालो को धन और भूमि देने की आवश्यकता वढ जाती है। स्वभावत भूमि-कर भी वढ जाते है। किंतु मजदूरी नही वढती। इसका कारण यह नही है कि लगान का कानून उसे वढने से रोकता है वल्कि यह कि भूमि-कर और राज्य-कर को वसूल करने मे हिंसा का प्रयोग किया जाता है और इन करो का एकमात्र प्रयोजन लोगो से उनकी वची हुई सारी सम्पत्ति को छीनना होता है, ताकि वे कर भरने के लिए अपना श्रम वेचने पर वाध्य हो जाय। श्रमजीवियो का शोपण ही इन करो का लक्ष्य होता है। किंतु यह शोपण उसी दशा मे सम्भव है जव लोगो से उनकी सामर्थ्य से अधिक कर मागा जाय, अर्थात् जव लोगो मे इतनी क्षमता ही न हो कि वे अपनी पोषण-सम्वधी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के अतिरिक्त कोई कर दे सके। मजदूरी वढा देने से इस दासत्व की सम्भावना ही समाप्त हो जायगी। अत वल-प्रयोग के रहते हुए मजदूरी मे कर-वृद्धि नही हो सकती। समाज के एक समूह के लोगो द्वारा दूसरे समूह के लोगो के साथ किये गए इस सरल और वोधगम्य व्यवहार को अर्थशास्त्री 'लौह नियम' कहकर पुकारते है और जिस साधन द्वारा यह कार्य किया जाता है उसे वे विनिमय का माध्यम कहते है।

विनिमय के इस निर्दोप माध्यम—रुपये—की आवश्यकता मनुष्य को पारस्परिक व्यवहार के लिए होती है। किंतु क्या कारण है कि जहा कर रुपए के रूप मे जवरदस्ती वसूल नही किये जाते वहा रुपए का आजकल-जैसा महत्व न कभी रहा है, न हो सकता ? और क्या कारण है कि वस्तु-विनिमय का अर्थात् आवश्यकतानुसार भेड, रोए, खाल, शख आदि का मुद्रा के रूप मे प्रयोग सदा होता रहा है और होता रहेगा, जैसा कि फीजी, अफ्रीका आदि के निवासियो और साधारणतया

उन सभी लोगो में प्रचलित है जो कर नही देते ? लोगो में किसी विशिष्ट प्रकार के द्रव्य का प्रचलन तभी होता है जब वह सब लोगो से बलात् मागा जाता है। रुपए की आवश्यकता लोग तभी अनुभव करते है जब उन्हे पता चल जाता है कि उत्पीडको के अत्याचार से बचने का यही एक साधन है और तभी रुपए को विनिमय की स्थायी क्षमता प्राप्त होती है। किंतु यह बात नही है कि जो वस्तु-विनिमय का सबसे सुविधाजनक माध्यम है उसीको विनिमय की शक्ति भी प्राप्त हो। यह शक्ति वस्तुत उस वस्तु को मिलती है जिसकी माग सरकार करती है। यदि सरकार सोने की माग करती है तो सोना विनिमय का माध्यम बन जाता है। इसी प्रकार यदि सरकार अगुलियो की हड्डियो की माग करती तो उन हड्डियो को ही विनिमय-माध्यम का स्थान मिल जाता है। यदि ऐसी बात नही है तो विनिमय के माध्यम को प्रचलित करने का विशिष्ट अधिकार अबतक केवल सरकार को ही क्यो रहा है अब भी क्यो है ? जनता ने—मान लीजिए फीजी-निवासियो ने—जब विनिमय का एक माध्यम बना रखा है तो फिर उसे अपने इच्छानुसार विनिमय क्यो न करने दिया जाय और जिन्हे बल प्रयोग करने की क्षमता है वे उसकी विनिमय-प्रणाली मे हस्तक्षेप क्यो करे ? किंतु स्थिति यह है कि सरकार स्वय सिक्के बनाती है और दूसरो को ऐसा करने से रोक देती है या (जैसा कि हमारे यहा रूस में होता है) सरकार केवल कागज के टुकडे छाप देती है, जिसपर जार की मुखाकृति छपी रहती है और किसी विशिष्ट व्यक्ति के हस्ताक्षर होते है। सरकार इस द्रव्य की नकल करने पर लोगो को दड देती है और उसे अपने अधीनस्थ कर्मचारियो में बाटती है। इन्ही सिक्को और इन्ही कागज के टुकडो को वह राज्य-कर और भूमि-कर के रूप मे मागती है और इतनी अधिक सख्या मे मागती है कि इन्हे प्राप्त करने के लिए मजदूरो को अपना सारा श्रम लगा देना पड़ता है। फिर भी सरकार जनता को यही विश्वास दिलाती है कि उसे इस रुपए की आवश्यकता 'विनिमय के माध्यम' के रूप में है। मानव स्वतत्र होता है, वह एक-दूसरे पर अत्याचार नही करता और न एक-दूसरे को दासता की रस्सी में

ही जकडता। किंतु समाज मे रुपए का उपयोग होता है और एक-ऐसा लौह-नियम बन जाता है, जिसके फलस्वरूप लगान बढ जाता है और मजदूरी घटकर न्यूनतम स्तर पर पहुच जाती है। यह तो सत्य है कि रूस के आधे या आधे से भी अधिक किसान प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष टैक्सो और भूमि-करो के कारण जमीदारो और मिल-मालिको के यहा दासो की तरह मजदूरी करते है, किंतु स्पष्टत इसका यह अर्थ नही है कि सरकार और उसके सहकारी जमीदारो को मुद्रा के रूप मे दिये जाने-वाले प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष व भूमि सम्बन्धी अनेक करो के वलात् लिये जाने के कारण मजदूर रुपया लेनेवालो की दासता करने के लिए वाध्य हो जाते है। इसका अर्थ यह है कि विनिमय के माध्यम के रूप मे रुपये का अस्तित्व है और उसके साथ-साथ एक लौह कानून भी है।

दासता की प्रथा का अत होने से पहले मै अपने नौकर वैका को कोई भी काम करने के लिए वाध्य कर सकता था और अस्वीकार करने पर उसे गाव के पुलिस-थाने मे भेज देता था, जहा उसकी इतनी मरम्मत होती थी कि उसे घुटने टेक देने पडते थे। किंतु साथ ही यह बात भी थी कि यदि मै वैका से अधिक काम लेता या उसको भूमि और भोजन न देता तो मामला अधिकारियो के सामने जाता और मुझे उत्तर देना पडता। आज जबकि गुलामी उठ गई है, मै वैका, सिदोर्का या पेत्रूशका से कोई भी काम करा सकता हूं। साथ-ही-साथ, यदि उनमे से कोई काम करने से इन्कार कर देता है तो मै उसे कर चुकाने के लिए रुपए नही देता और तब उसपर इतने कोडे पड़ते है कि वह मेरी बात मानने के लिए वाध्य हो जाता है। इसके अति-रिक्त मै किसी भी जर्मन, फ्रासीसी, चीनी या हिन्दुस्तानी को, जिसके पास भूमि और भोजन नही है, काम करने के लिए विवश कर सकता हूं और उसे लगान पर जमीन लेने या रोटी खरीदने के लिए उस समय तक रुपए देने से इन्कार कर सकता हू जबतक वह मेरे सामने सिर न झुका दे। इसके अतिरिक्त यदि मै खाना दिये विना ही उससे उसकी सामर्थ्य से अधिक काम लू या काम की चक्की में पीसकर उसे मार भी डालूं तब भी कोई मुझसे एक शब्द भी नही कहेगा। इसपर

यदि मैने अर्थशास्त्र की पुस्तकें पढ रखी है तो मै इस बात का पक्का विश्वास कर सकता हू कि सब लोग मुक्त है और रुपया दासत्व का कारण नही है। किसान इस बात को बहुत दिनो से जानते है कि रुपए की मार सिंदूर की लाठी की मार से अधिक कडी होती है, किंतु अर्थशास्त्री उसकी ओर ध्यान देना नही चाहते। यह कहना कि रुपया दासत्व का कारण नही है ऐसा ही है जैसा कि आज से पचास वर्ष पहले कोई यह कहता कि दासता दासत्व के कानून से उत्पन्न नही होती। अर्थशास्त्रियो का मत है कि यद्यपि रुपए के बल पर एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दास बना कर रख सकता है तथापि रुपया विनिमय का एक निर्दोष माध्यम है। यही क्यो? क्या आज से पचास वर्ष पहले लोग यह नही कह सकते थे कि गुलामी के कानून के अनुसार लोग चाहे एक-दूसरे को दास भले ही बना ले, किंतु स्वयं वह कानून दासत्व का कारण न होकर पारस्परिक सेवा का एक हानिरहित साधन है? इसी तरह क्या वे यह नही कह सकते थे कि कुछ लोग मोटा काम करते हैं और दूसरे लोग दासो के शारीरिक और मानसिक हितो का ध्यान रखते है तथा उनके काम का सगठन भी करते है? मै तो समझता हू कि शायद लोग ऐसा ही कहते भी थे।

: १६ :

रुपया मूल्य का मापदण्ड नहीं

यदि अन्य कानूनी शास्त्रो के समान इस भ्रामक शास्त्र—अर्थशास्त्र—का उद्देश्य भी बल-प्रयोग के लिए बहाने ढूढना न होता तो उसका ध्यान इस विचित्र बात की ओर जाए बिना न रहता कि धन का वितरण—अर्थात यह स्थिति कि कुछ लोग तो भूमि और पूजी से वञ्चित कर दिये जाते हैं और कुछ लोग इतने सम्पन्न हो जाते है कि वे दूसरो को अपना दास बना लेते है—रुपए पर निर्भर है और केवल रुपए के बल पर ही एक समूह के लोग दूसरे समूह के लोगो के श्रम का शोषण करते है अर्थात उन्हे अपना दास बनाते है।

मै एक वार फिर कहता हू कि जिसके पास पैसा है वह सारा अनाज खरीदकर अपने अधिकार मे ले सकता है और दूसरो को भूखो मारकर, उन्हे रोटी के लिए तरसाकर पूरी तरह से अपना गुलाम वना सकता है। यही वात आज हमारी आखो के सामने वडे व्यापक रूप मे हो रही है। इसीलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि रुपए और दासता के पारस्परिक सम्वन्ध को जानने की चेष्टा की जाय। किंतु अर्थशास्त्र यह विश्वासपूर्वक घोषित करता है कि रुपए का लोगो की दासता से कोई सम्बन्ध नही है।

अर्थशास्त्र कहता है—रुपया भी अन्य पदार्थो के समान एक पदार्थ है, जिसका मूल्य-निर्धारण उसके उत्पादन-व्यय के आधार पर किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि मूल्य के मापदण्ड के रूप मे और धन-संचय, विनिमय तथा भुगतान के लिए रुपया ही सबसे अधिक सुविधाजनक माध्यम माना गया है। एक व्यक्ति जूते वनाता है, दूसरा अन्न पैदा करता है और तीसरा भेड पालता है। अपनी-अपनी पैदावार का सरलतापूर्वक विनिमय करने के लिए ये लोग रुपए का प्रचलन करते है। यह रुपया इस वात का द्योतक होता है कि किस उत्पादन में कितना श्रम करना पडा है। उसकी सहायता से लोग जूतो के तल्लो को भेड के मास और पाच सेर आटे से वदल सकते है।

इस 'काल्पनिक शास्त्र' के समर्थको को अपने सामने इस प्रकार की अवस्था के काल्पनिक चित्र खीचने का वडा शौक है; किंतु वास्तव मे ऐसी अवस्था ससार मे कभी रही नही। ऐसे समाज की कल्पना उस प्राचीन और निर्दोष मानव-समाज की कल्पना के समान है जिसके चित्र दार्शनिक अपने मस्तिष्क मे खीचा करते थे, किंतु जिसका कभी कोई अस्तित्व नही रहा। मानव-समाज मे जहा कही भी रुपए का इस रूप मे प्रयोग हुआ है, वही सशक्त और सशस्त्र लोगो ने दुर्वल और निःशस्त्र लोगो पर वल-प्रयोग किया है और जहा कही भी वल-प्रयोग किया गया, वही मूल्य के मापदण्ड के रूप में प्रयुक्त होनेवाला रुपया, पशु, खाल, रोआ, धातु अथवा कोई अन्य पदार्थ विनिमय का माध्यम न रहकर वल-प्रयोग से वचने का एक साधन मात्र रह गया। इसमे

सन्देह नही कि रुपए मे वे सब निर्मल गुण है जिनकी गणना अर्थ-शास्त्र कराता है; किंतु ये गुण उसी समाज में सम्भव है जहा मनुष्य मनुष्य पर बल-प्रयोग न करता हो अर्थात् जो एक आदर्श समाज हो। ऐसे समाज में रुपए का रुपए के रूप मे—अर्थात मूल्य के एक सामान्य मापदण्ड के रूप मे कोई अस्तित्व नही हो सकता, ठीक उसी तरह जैसे साधारण सरकारी दण्ड-व्यवस्था से मुक्त समाज में न तो कभी रुपए का ऐसा अस्तित्व था, न हो ही सकता था। किंतु हमारे जाने हुए जिस किसी समाज में भी रुपए का प्रचलन है, वहा उसे विनिमय का माध्यम बनने का महत्त्व केवल इसलिए प्राप्त हुआ कि उसका उपयोग बल-प्रयोग के साधन के रूप मे होता था। इसलिए उसका मुख्य महत्त्व विनिमय के माध्यम के रूप में नही बल्कि बल-प्रयोग या जोर-जबरदस्ती के शस्त्र के रूप मे है। जहा जोर-जबरदस्ती होती है, वहा रुपए का उपयोग विनिमय-माध्यम के रूप में नही हो सकता, क्योकि वह मूल्य के मापदण्ड का काम नही कर सकता। उसके मूल्य का मापदण्ड न बन सकने का कारण यह है कि जब समाज मे एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को उसके गाढे पसीने की कमाई से वचित कर देता है तब वहा तुरन्त इस मापदण्ड का उल्लघन हो जाता है। यदि बाजार मे ऐसी गाएं और ऐसे घोडे लाए जाय जिनमें से कुछको तो उनके मालिको ने स्वय पाला हो और कुछ अपने पोषको से बलात छीन लिये गए हो, तो यह स्पष्ट है कि उस बाजार में गायो और घोडो का मूल्य उनके पोषक-व्यय के अनुसार नही होगा और इस अतर के कारण बाजार के दूसरे सभी पदार्थों के मूल्य में भी अतर पड जायगा। दूसरे शब्दो में यो कहिए कि उन पदार्थों का मूल्य रुपए द्वारा निश्चित नही होगा। इसके अतिरिक्त, यदि कोई व्यक्ति बलपूर्वक गाय, घोडा या घर प्राप्त कर सकता है तो उसके लिए बलपूर्वक रुपया प्राप्त करना भी सम्भव है और उस रुपए से वह सभी पदार्थ ले सकता है, किंतु जब स्वय रुपया ही बलपूर्वक प्राप्त किया जाता है और उससे अन्य वस्तुए खरीदी जाती है तो उसमे विनिमय के माध्यम का कोई लक्षण कैसे शेष रह सकता है? जब कोई व्यक्ति किसीसे बलपूर्वक रुपया

छीनकर उसे दूसरो के परिश्रम से उत्पन्न किये गए पदार्थों के वदले में देता है तव उसका यह व्यापार विनिमय नही कहलायगा। वह मनुष्य तो जो कुछ चाहता है रुपए के वल पर ले लेता है।

किंतु यदि कभी इस प्रकार का कल्पित और असम्भव समाज रहा भी हो जहा जनता पर सरकारी दंड-व्यवस्था का अकुश न रहते हुए भी रुपए (सोने या चादी) से मूल्य के मापदड और विनिमय के माध्यम का काम लिया जाता रहा हो, तो भी वहां वल का प्रयोग होते ही रुपए का उक्त गुण नष्ट हो गया होगा। थोड़ी देर के लिए मान लीजिए कि ऐसे समाज मे कोई अत्याचारी विजेता के रूप में प्रवेश करता है। वह आततायी जनता की गाए, उनके घोडे, कपड़े और घर-वार सव छीन लेता है, किंतु चूकि इन सवका प्रवन्ध करने मे उसको असुविधा होती है इसलिए स्वभावत. उसके मन में जनता से समस्त रुपया-पैसा छीन लेने का विचार उठता है, जो सब प्रकार के मूल्यों का मापदड समझा जाता है और जिससे विनिमय करके सव वस्तुए प्राप्त की जा सकती है। किंतु उस समाज मे रुपए का मूल्य के मापदण्ड के रूप मे प्रयोग होना तत्काल वंद हो जाता है, क्योंकि सव वस्तुओं के मूल्य अत्याचारी की इच्छा पर आश्रित हो जाते है। जिन वस्तु की आततायी को सवसे अधिक आवश्यकता होगी और जिसके लिए वह सवसे अधिक रुपया दे सकेगा, वही वस्तु सवसे अधिक वहुमूल्य हो जायगी। इसी प्रकार जिस वस्तु की उसे कम-से-कम आवश्यकता होगी और जिसके लिए वह कम-से-कम पैसे देना चाहेगा वह वस्तु सवसे सस्ती हो जायगी। अत जिस समाज मे वल-प्रयोग का वोलवाला होता है उस समाज मे तत्काल रुपए मे वे गुण प्रवेश कर जाते है जिनकी सहायता से आततायी जनता पर हिंसा का प्रयोग करता है। पीडितो के लिए रुपया विनिमय का माध्यम अवश्य वना रहता है, किंतु उसी सीमा तक जिस सीमा तक उसका इसमें प्रयोग किया जाना आततायी को सुविधाजनक होता है।

जरा ऐसे समाज की स्थिति पर विचार कीजिए। दास लोग अपने स्वामी को कपडा, मुर्गा, मुर्गी और भेड़-वकरी लाकर देते है तथा

उनके लिए दिन भर चक्की पीसते हैं। स्वामी इन पदार्थों के वदले रुपया लेने को तत्पर हो जाता है और इनमें से प्रत्येक का मूल्य निर्धारित कर देता है। जो लोग अन्न, वस्त्र और पशु नही दे सकते या चाकरी नही वजा सकते उन्हे इस वात की छूट मिल जाती है कि वे इनके वदले एक निश्चित रकम दे दे। स्पष्ट है कि इस स्वामी के दास-समुदाय मे विविध वस्तुओ का मूल्य स्वामी की इच्छा पर ही निर्भर होगा।। जो वस्तुए उसे मिलती है, उनका वह उपभोग करता है। किसी वस्तु की उसे अधिक आवश्यकता होती है और किसीकी कम और उसीके अनुसार वह उन वस्तुओ का अधिक या कम मूल्य निर्धारित करता है। स्पष्टत उसकी ही स्वेच्छा और आवश्यकताओ के अनुसार इन पदार्थो का मूल्य उन व्यक्तियो के मध्य भी निर्धारित होता है जो उसे रुपए अदा किया करते है। यदि उसे नाज की आवश्यकता होती है तो निश्चित परिमाण मे नाज न मिलने पर वह उसके लिए अधिक रुपए की माग करता है और निश्चित परिमाण मे वस्त्र, पशु तथा श्रम न मिलने पर उनकी कीमत सस्ती रख देता है। परिणाम यह होता है कि जिनके पास अन्न नही होता वे अपने स्वामी की सतुष्टि के लिए अन्न खरीदने के अभिप्राय से अपनी पैदावार, श्रम, कपडा या पशु दूसरो के हाथ वेच देते है। यदि जमीदार इन सव पदार्थों के वदले रुपया लेना स्वीकार भी करले तव भी इनका मूल्य उत्पादन-श्रम के आधार पर निश्चित नही होगा, वल्कि वह दो वातो पर निर्भर होगा—एक तो यह कि जमीदार कितने रुपए की माग करता है और दूसरे यह कि किसानो द्वारा उत्पन्न किये गए किन पदार्थो की उसे सवसे अधिक आवश्यकता है और किन वस्तुओ के लिए वह अधिक मूल्य देगा और किनके लिए कम। जमीदार किसानो से जो अपना रुपया वसूल करता है उसका—जहा तक किसानो का प्रश्न है—चीजो की कीमत पर केवल दो परिस्थितियो में असर नही पडता—एक तो तव जवकि ये किसान या ये दास ससार के अन्य व्यक्तियो से विलकुल पृथक होकर रहें और उनका आपस में और अपने स्वामी के अतिरिक्त किसी दूसरे से सम्पर्क न रहे, दूसरे तव जव जमीदार उस रुपए से अपने गाव में नही वल्कि कही वाहर

चीजें खरीदे। केवल इन्ही अवस्थाओ में मूल्य नाममात्र के लिए परिवर्तित होने पर भी अपेक्षाकृत ठीक रह सकता है और तभी मूल्य-निर्धारण का मापदण्ड और विनिमय का माध्यम बनने का महत्व प्राप्त हो सकता है। किंतु यदि इन किसानो का पास-पडोस के लोगो मे आर्थिक सम्बन्ध हो तो, जहा तक इन पडोसियो का सम्बन्ध है, स्वामी की अधिक या कम माग के अनुसार मूल्य बढ जायगे। यदि उनकी अपेक्षा उनके पडोसियो को अपने जमीदार को कम रुपया देना पडता है तो पडोसियो की तुलना मे उनकी अपनी चीजे सस्ती बिकेंगी और इसी तरह यदि दूसरे गाववालो को अधिक रुपए देने पडते है तो उनकी पैदावार महगी बिकेगी।

दूसरी अवस्था, जब जमीदार की रुपए की माग का चीजो की कीमत पर किसानो के लिए कोई प्रभाव नही पडेगा, वह है जब जमीदार अपने एकत्र किये हुए रुपए से अपने ही किसानो की चीजे न खरीदे। किंतु यदि वह इस रुपए का प्रयोग अपने ही किसानो द्वारा उत्पादित पदार्थों के खरीदने मे करेगा तो यह स्पष्ट है कि उन पदार्थों का मूल्य निरन्तर परिवर्तित होता रहेगा और इस बात पर निर्भर होगा कि जमीदार किस वस्तु विशेष को खरीदता है। मान लीजिए कि कोई स्वामी अपने दासो को स्वेच्छानुसार काम या व्यापार करने की अनुमति देने के लिए उनसे कमकर रुपए मागता है और कोई पडोसी जमीदार इसी अनुमति के लिए कम रुपए मागता है। स्पष्ट है कि ऐसी दशा में पहले जमीदार की जमीदारी मे दूसरे जमीदार की जमीदारी की अपेक्षा सब वस्तुए सस्ती होगी और इन दोनो जमीदारियो मे चीजो की कीमत प्रत्यक्ष रूप से इस बात पर निर्भर होगी कि दासो द्वारा भरी जानेवाली रकम घटाई जाती है या बढाई।

मूल्यो पर बलप्रयोग के जो अनेक प्रभाव पडते है उनमे से एक यह है। दूसरा प्रभाव, जो पहले से ही उद्भूत होता है, विभिन्न वस्तुओ के मूल्यो के पारस्परिक सम्बन्ध पर पडता है। मान लीजिए कि एक जमीदार को घोडो का शौक है और उनके लिए वह अच्छे दाम देता है, दूसरे को तौलियो का शौक है और वह उनके लिए अच्छे पैसे देता

है। स्पष्टत इन दोनो जमीदारों की रियासतो में घोडो और तौलियो की कीमतें ऊची होगी और इन कीमतो तथा गाय और नाज की कीमतो में बडा अन्तर होगा। यदि कल तौलियो के शौकीन जमीदार की मृत्यु हो जाय और उसके उत्तराधिकारी को मुर्गे-मुर्गियो का चाव हो तो स्पष्ट है कि तौलियो का मूल्य गिर जायगा और मुर्गे-मुर्गियो का बढ जायगा। जिस समाज में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को बलपूर्वक दबाव मे रख सकता है, उस समाज मे रुपए की मूल्य-निर्धारण-शक्ति तत्काल आततायी की स्वेच्छा पर आश्रित हो जाती है और रुपया गाढे पसीने से उत्पन्न किये हुए पदार्थों के विनिमय का माध्यम न रहकर दूसरे के श्रम-शोषण का सबसे सुविधाजनक साधन बन जाता है। अत्याचारी को रुपए की आवश्यकता विनिमय के साधन के रूप मे नही होती। उसको इसकी आवश्यकता मूल्य के मापदड निर्धारित करने के लिए भी नही होती, क्योकि मूल्य तो वह स्वय निर्धारित करता है। उसे रुपए की आवश्यकता केवल इसलिए होती है कि वह अत्याचार आसानी से कर सके; कारण रुपया सचित किया जा सकता है और वह अधिक-से-अधिक व्यक्तियो को दासता के बधन में बाधकर रखने का सबसे सरल साधन है। जिस समय जितने घोडो, गायो और भेडो की आवश्यकता पडे उस समय उतने ही घोडे, गाय और भेडे मिल जाय, इस उद्देश्य को दृष्टि में रखकर यदि सारे जानवर एक साथ ही छीनकर रख लिये जाय तो ऐसा करना सुविधाजनक नही हो सकता, क्योकि आखिर इन सबका पेट भी तो भरना पडता है। यही बात नाज की भी है, क्योकि उसके सड-गल जाने की सम्भावना रहती है। यही बात मजदूरो तथा गुलामो के विषय मे भी कही जा सकती है। आज एक हजार मजदूरो की आवश्यकता पड सकती है, कल एक की भी नही। जिनके पास रुपया नही है उनसे रुपया मागने से ये सारी असुविधाए दूर हो सकती है और आवश्यकतानुसार सदा प्रत्यक वस्तु मिल सकती है। यही मुख्य उद्देश्य है जिसके लिए अत्याचारी को रुपए की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त उसे रुपए की आवश्यकता इसलिए भी होती है कि वह चाहता है कि उसकी श्रम-शोषण-शक्ति थोडे-से लोगो तक

ही सीमित न रहे वल्कि रुपए की आवश्यकता अनुभव करनेवाले सव व्यक्तियो तक व्याप्त हो जाय। यदि रुपया न हो तो किसी भी जमीदार मे अपने किसान-दासो के अतिरिक्त और किसीके शोषण की सामर्थ्य नही आ सकती, किंतु जव दो जमीदार एक साथ मिलकर अपने किसान-दासो से रुपये मागने का निश्चय करते है तो दासों के पास रुपया न होते हुए भी वे दोनो जमीदारियो के समस्त साधनो का समान रूप से शोषण करने मे समर्थ वन जाते है।

इस प्रकार रुपए की सहायता से अत्याचारी को दूसरों के श्रम से लाभ उठाने मे अधिक सुविधा मिलती है और वह रुपया केवल इसी कार्य के लिए चाहता है। जिस व्यक्ति के साथ वल-प्रयोग किया जाता है—अर्थात् जिस व्यक्ति के श्रम का प्रतिफल उससे छीन लिया जाता है उसे रुपए की आवश्यकता न तो विनिमय-माध्यम के रूप मे पडती है, न मूल्य के मापदण्ड के रूप में, क्योकि पहली दशा मे तो वह रुपए के विना ही वस्तु-विनिमय कर लेता है, जैसा कि सभी सरकारविहीन देश करते है और दूसरी दशा मे मूल्य का निर्धारण उससे पूछे विना ही कर लिया जाता है। इसी प्रकार उसे वचाने या भुगतान करने के लिए भी रुपए की आवश्यकता नही पडती, क्योकि जहातक वचत का प्रश्न है जिस मनुष्य से उसके श्रम का प्रतिफल ले लिया जाता है वह वचा ही क्या सकता है और जहातक भुगतान की वात है पीडित व्यक्ति को लेने की अपेक्षा देना ही अधिक रहता है और यदि उसको कुछ मिलता भी है तो रुपए के रूप मे नही वल्कि पदार्थ के रूप में। यह वात उस व्यक्ति के साथ लागू होती है जिसे अपने काम के वदले सीधे मालिक की दुकान से सामान मिल जाता है। प्राय यही दशा उस व्यक्ति की होती है जिसकी सारी कमाई जीवन सम्वधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वाहरी दुकानो से सामान खरीदने मे चट हो जाती है। उससे रुपया मागा जाता है और साथ-ही-साथ उसे यह धमकी दी जाती है कि यदि वह रुपए नही देगा तो उसको भूमि और अन्न कुछ नही मिलेगा या उसकी गाय या उसका मकान उससे ले लिया जायगा और उसको या तो मेहनत-मजदूरी करनी पडेगी या कारागार मे सडना

होगा। इस स्थिति से वह तभी मुक्त हो सकता है जब वह अपने परिश्रम से पैदा की हुई चीजो और स्वय अपने परिश्रम को ऐसे मूल्य पर बेच दे जो न्याययुक्त विनिमय द्वारा नही बल्कि पैसा मागनेवाली सत्ता की शक्ति द्वारा निश्चित किया गया हो।

अत ऐसी स्थिति मे जब कि मूल्य पर कर और लगान का प्रभाव हर समय और हर जगह—जमीदारियो मे छोटे पैमाने पर और राज्यो मे बडे पैमाने पर—पडता है, जब कि मूल्यो के चढाव-उतार का कारण उतना ही स्पष्ट होता है जितना कि पर्दे के पीछे देखनेवाले को पुतलियो के चलने फिरने का कारण; यह कहना कि रुपया विनिमय का माध्यम और मूल्य का मापदड है यदि और कुछ नही तो कम-से-कम आश्चर्यजनक तो है ही।

: २० :

दासता के तीन रूप

दासता चाहे कैसी भी हो, उसका एकमात्र आधार यही है कि एक मनुष्य में दूसरे मनुष्य को जीवन के सुखो से वचित करने की क्षमता होती है और अपने इस भयावह अधिकार को अक्षुण्ण रखकर वह उसे अपने इच्छानुसार काम करने के लिए बाध्य कर सकता है।

यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि यदि कही दासवृत्ति है अर्थात यदि कही कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के इच्छानुसार और स्वय अपनी इच्छा के प्रतिकूल अपने लिए अवाछनीय कार्य करता है तो इसका एकमात्र कारण यही है कि उसके साथ हिंसात्मक व्यवहार किया जा सकता है और उस अभागे के जीवन को सकट में डालने की धमकी दी जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति अपने सारे श्रम का लाभ दूसरो को दे देता है, यदि उसे स्वयं अपर्याप्त पोषण प्राप्त होता है, यदि वह अपने छोटे-छोटे बच्चो से कठोर परिश्रम करवाता है और यदि खेती छोडकर वह अपना सारा जीवन उन पदार्थो के लिए घृणित

परिश्रम करने मे लगा देता है जिनकी उसको स्वय आवश्यकता नही है, तो यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वह इन कामो को केवल इसलिए करता है कि इन्हे न करने पर उसे अपने प्राणो के लाले पड जाने का भय रहता है। ध्यान रहे कि ऐसी घटनाए इस ससार मे हमारी आखो के सामने घटती रहती है और फिर भी हम इस ससार को सभ्य कहते है क्योकि हम इसमे रहते है। हमारे इस सभ्य ससार के अधिकाश निवासी ऐसे है जो भीषण अभावो से पीडित होकर घृणास्पद और अनावश्यक कामो मे सलग्न रहते है और मार डाले जाने की धमकी से आतकित होकर दासता का जीवन विताते है।

अव प्रश्न यह है कि इस दासता का रूप क्या है और किस वस्तु से लोगो के जीवन सकट मे पडते है।

प्राचीन काल मे दास वनाने और जान से मार डालने की धमकी देने की रीति विलकुल प्रत्यक्ष थी। लोगो को दास वनाने के लिए एक जगली युक्ति काम मे लाई जाती थी, उन्हे तलवार से उडा देने की सीधी धमकी दी जाती थी। सशस्त्र मनुष्य नि शस्त्र से कहता था—"तूने देखा है कि मैंने अभी-अभी तेरे भाई को मार डाला है; इसी तरह मै तुझे भी मार सकता हू। किंतु मै ऐसा करना नही चाहता। मै तुझे छोड देता हू क्योकि यदि मारे जाने की अपेक्षा तू मेरी नौकरी करने लगे तो यह वात तेरे और मेरे दोनो के लिए अधिक लाभदायक होगी। इसलिए मै जो कुछ कहू उसे कर, नही तो मै तेरे प्राण ले लूगा।" भयभीत होकर नि शस्त्र ने सशस्त्र के सामने घुटने टेक दिये और वह उसके सारे आदेश वजा लाने लगा। इस तरह नि शस्त्र व्यक्ति काम करता था और सशस्त्र धमकी देता था। यही वह रूप था जिसमे व्यक्तिगत दासता सर्वप्रथम प्रकट हुई और जिसमे आज भी वह आदिम जातियो में दिखाई देती है। आरम्भ मे दासता ऐसी ही थी, किंतु जैसे-जैसे जीवन जटिल वनता गया वैसे-वैसे दासता का रूप भी वदल गया। जीवन की जटिलता के वढने के साथ-ही-साथ दासता का रूप आततायी के लिए अधिक असुविधाजनक होता गया। दुर्वलो के श्रम

का शोषण करने के लिए दुर्बलो को भोजन-वस्त्र देने की आवश्यकता की अनुभूति हुई अर्थात् दुर्बलो को कार्य करने योग्य बनाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसके कारण दासो की सख्या स्वभावत परिमित हो गई। इसके अतिरिक्त, आततायियो को सदा अपने दासो की गर्दन पर सवार रहने और उन्हे मृत्यु की धमकी देते रहने के लिए भी विवश होना पडा। अत दास बनाने की एक दूसरी रीति निकालनी पडी।

जैसा कि बाइबिल मे लिखा है, लोगो को दास बनाने की यह नई, अधिक सुविधाजनक और व्यापक रीति मिस्र देश मे यूसुफ ने आज से पाच हजार वर्ष पहले निकाली थी। यह वैसी ही रीति है जैसी आजकल पशुशालाओ मे हठी घोडो और जगली जानवरो को वश में करने के लिए काम मे लाई जाती है, अर्थात्, भूखो मारने की रीति।

बाइबिल के उत्पत्ति-प्रकरण मे इस नई विधि का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अध्याय—४१ पद ४८—"और उसने (यूसुफ ने) मिस्र देश के सातो (अच्छी फसलवाले) वर्षो का सारा नाज इकट्ठा कर लिया और उसको नगरो मे सचित कर दिया। प्रत्येक नगर के निकटवर्ती खेतो का नाज भी उसने वही जमा कर लिया।"

पद ४९—"यूसुफ ने नाज समुद्र के रेत के समान इकट्ठा किया। वह इतना अधिक था कि उसने उसकी नापजोख करनी छोड दी, वह अपरिमित था।"

पद ५३—"और मिस्र देश के सुकाल के सातो वर्ष समाप्त हो गए।"

पद ५४—"और, जैसी कि यूसुफ ने भविष्यवाणी की थी, दुष्काल के सात वर्ष आने लगे। सब देशो मे अकाल था, किंतु मिस्र की भूमि में खाने को मिलता था।"

पद ५५—"और जब सारा मिस्र देश भी दुर्भिक्ष से ग्रस्त हो गया तो लोगो ने फ़राऊन के पास जाकर रोटी के लिए चिल्लाना शुरू किया और फराऊन ने मिस्रियो से कहा—"यूसुफ के पास जाओ और वह जो कुछ तुमसे कहे, करो।"

पद ५६—"और अकाल सारी दुनिया मे फैल गया। यूसुफ ने अपने सारे कोठार खोल दिये और उनका नाज मिस्रियो को वेच दिया; और मिस्र मे अकाल खूब जोरो पर था।"

पद ५७—"और सभी देशो के लोग यूसुफ के पास नाज खरीदने के लिए आने लगे, क्योंकि सारी दुनिया मे अकाल जोरो पर था।"

तलवार की धमकी देकर लोगो को दास बनाने की असभ्य-कालीन विधि का प्रयोग करके यूसुफ ने सुकाल मे ही अन्न सचित कर लिया। उसे पता था कि सुकाल के पश्चात दुष्काल आयगा, जैसा कि बहुधा होता है और जिसे फराऊन के स्वप्न के विना ही प्रत्येक व्यक्ति जानता है। इस युक्ति से, अर्थात लोगो को भूखा मारकर यूसुफ ने न केवल मिस्रियों को वलिक पास-पडोस के देशो के निवासियों को भी फराऊन की अपेक्षा अधिक सुदृढ और सुविधाजनक ढग से दास वना लिया और जब लोग भूखो मरने लगे तो उसने ऐसी व्यवस्था की जिससे लोग स्थायी रूप से उसके अधिकार मे आ जायं। यह व्यवस्था थी लोगो को भूखा रखने की, जिसका वर्णन ४७ वे अध्याय में है।

पद १३—"और सारे देश मे कही भी रोटी का पता नही था, क्योकि अकाल वहुत भयकर था। मिस्र और कनान दोनो देशो मे मुर्दनी छा गई।"

पद १४—"और लोगो ने नाज खरीदकर जो रुपया दिया था वह मिस्र और कनान मे जितना भी मिल सका यूसुफ़ ने सव इकट्ठा कर लिया और उसको फराऊन के घर मे लाकर रख दिया।"

पद १५—"और जव मिस्र और कनान मे सव रुपया चुक लिया तो मिस्र के सारे निवासियो ने यूसुफ के पास आकर कहा—'हमें खाने को दीजिए, हमारे पास रुपया नही है। क्या हम आपके होते हुए भूखो मरेंगे ?"

पद १६—"और यूसुफ़ ने उत्तर दिया—'तुम अपने पशु लाओ। यदि तुम्हारे पास रुपया नही रहा तो मै तुम्हारे पशु लेकर तुम्हे अनाज दूगा।"

पद १७—"और तव लोग यूसुफ के पास अपने पशु ले गए और यूसुफ ने उनके घोडे, गाय, वैल, भेड़, वकरिया और गधे लेकर उनके

बदले लोगो को अनाज दिया। और उस साल उसने उनके सारे पशु ले लिय और उनके बदले लोगो को रोटी दी।"

पद १८—"और जब वह साल खतम हो गया तो अगले वर्ष वे फिर उसके पास आए और बोले—हम आपसे कुछ छिपायगे नही। हमारा सारा रुपया खर्च हो चुका है और हमारे पशु भी आपके पास है, आप जानते है कि अब हमारे पास शरीर और भूमि के सिवाय और कुछ नही बचा है।"

पद १९—"तो क्या आपके अक्षत रहते हम और हमारी भूमि नष्ट हो जाय? हमको और हमारी जमीन दोनो को अन्न के बदले खरीद लीजिए, हम अपनी जमीन के साथ फराऊन के गुलाम होकर रहेंगे। हमको बीज दीजिए जिससे हम जीवित रहें, मरे नही और हमारी भूमि उजाड न हो जाय।"

पद २०—"तब यूसुफ ने फराऊन के लिए मिस्र की सारी जमीन खरीद ली। प्रत्येक मिस्रवासी ने अपना खेत बेच डाला, क्योकि अकाल से वह बुरी तरह पीडित था; और जमीन फराऊन की हो गई।"

पद २१—"और जहा तक लोगो का सम्बन्ध था उसने उन्हे मिस्र के एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक नगरो में ला बसाया।"

पद २२—"उसने केवल पुरोहितो की भूमि नही खरीदी, क्योकि वह फराऊन की ओर से दक्षिणा के रूप मे दी गई थी और उसीसे वे अपना पेट पालते थे। इसलिए उन्होने अपनी जमीन नही बेची।"

पद २३—"तब यूसुफ ने लोगो से कहा—देखो! आज मैंने तुम्हे और तुम्हारी जमीन को फराऊन के लिए खरीद लिया है। लो, यह तुम्हारे लिए बीज है, इससे जमीन को जोतो-बोओ।"

पद २४—"और यह नियम होगा कि फसल कटने पर तुम लोग उसका पाचवा हिस्सा फराऊन को दोगे और शेष चार भाग तुम्हारे रहेंगे। इनमे से तुम बीज के लिए रख छोडना और अपने कुटुम्ब और बाल-बच्चो का भरन-पोषण करना।"

पद २५—"और उन्होने कहा—आपने हमारी जान बचाई है। आप हमपर कृपा-दृष्टि रखिए और हम फराऊन के नौकर होकर रहेंगे।"

पद २६—"और यूसुफ ने मिस्र की भूमि के सम्बन्ध मे यह नियम बना दिया कि पैदावार का पाचवा भाग फराऊन को मिला करेगा। यह नियम वहा आज भी प्रचलित है। केवल पुजारियो की भूमि पर फराऊन का अधिकार नही हुआ।"

इससे पहले फराऊन को लोगो के श्रम का शोषण करने के लिए डर और धमकी से काम लेना पडता था, किंतु अब जबकि अन्न-भडार और जमीन सब उसके अधिकार मे आ गए तब उसे केवल उनकी बलपूर्वक पहरेदारी करने की आवश्यकता रह गई। लोगो की भूख ने उसे इस बात मे सहायता दी कि वह उन्हे अपने लिए काम करने को बाध्य कर सके।

सारी जमीन फराऊन की हो गई और लोगो से लिये जानेवाले अन्न का पचमाश भी उसीका हो गया। इस प्रकार लोगो से काम कराने के लिए अब उसे अलग-अलग व्यक्ति को अलग-अलग तलवार दिखाने की आवश्यकता नही रह गई। अब तो केवल इस बात की आवश्यकता थी कि भडारो की रक्षा के लिए बल का प्रयोग किया जाय, अर्थात सशस्त्र पहरेदार रख दिये जाय। फलत लोग तलवार की नोक पर नही, बल्कि भूख के कारण दास बन गए।

अब यह फराऊन की सामर्थ्य मे था कि किसी भी वर्ष अकाल पडने पर वह चाहे तो सब लोगो को भूखा मार दे और यदि दुर्भाग्यवश किसीके पास सुकाल में भी अन्न न रहे तो उसे भी भूख का शिकार बनने दे।

इस प्रकार दास बनने की इस दूसरी विधि का आविर्भाव तलवार के बल पर नही हुआ, अर्थात किसी सशक्त व्यक्ति ने दुर्बल व्यक्ति को मारने की धमकी देकर अपने लिए काम करने के लिए बाध्य नही किया, बल्कि आततायी ने जनता का अन्न हडपकर उसपर तलवार का पहरा लगा दिया और इस प्रकार पेट की खातिर दुर्बलो को विवश होकर मजदूरी स्वीकार करनी पडी।

यूसुफ ने भूखो से कहा था—"अन्न मेरे अधिकार मे है, इसलिए मैं तुम्हें भूखो मार सकता हू, किंतु मैं तुम्हे इस शर्त पर छोडे देता

हू कि जो अनाज मैं तुम्हे दूगा उसके बदले तुम मेरा हुक्म बजा लाओगे ।"

दासत्व की पहली विधि के लिए सत्ताधारी मनुष्य को केवल ऐसे सिपाहियो की आवश्यकता होती है जो घोडो पर चढकर सर्वदा लोगो में चक्कर लगाते रहें और उन्हें मौत की धमकी देकर स्वामी की आज्ञा का पालन कराते रहे । इस विधि मे आततायी को केवल अपने सैनिको को ही लूट का हिस्सा देना पडता है । किंतु दूसरी पद्धति में आततायी को सिपाहियो के अतिरिक्त ऐसे सहायको की आवश्यकता होती है जो भूखो से अन्न-भडारो और भूमि को रक्षा कर सके । दूसरे शब्दो में यो कहिए कि उसे छोटे और बडे यूसुफो, अन्न-वितरको और प्रबन्धको की आवश्यकता होती है । इसलिए सत्ताधारी को अपनी हथियाई हुई सम्पदा को इन सब लोगो मे बाटना पडता है और न केवल यूसुफ को सुन्दर वस्त्र, सोने की अगूठी, नौकर-चाकर और अन्न देना पडता है बल्कि उसके भाइयो और सम्बन्धियो के लिए भी चादी देनी पडती है। इसके अतिरिक्त इस दूसरी पद्धति मे यह स्वाभाविक है कि डर-धमकी के प्रयोग से प्राप्त किये जानेवाले लाभ में न केवल प्रबधको और उनके सगे-सम्बन्धियो को बल्कि उन सब लोगो को भी, जिनके पास अन्न के भडार है, हिस्सा मिले । जिस प्रकार पहली पद्धति मे, जो केवल बल-प्रयोग पर अवलम्बित थी, जनता पर किये जानेवाले बल-प्रयोग में शस्त्रधारी भागीदार होता था, उसी प्रकार भूख के आधार पर सस्थापित दूसरी पद्धति में उन सब लोगो को, जिनके पास खाने पीने की सामग्री होती है, डर-धमकी का लाभाश मिलता है और वे उन लोगो पर शासन करते है जिनके पास अन्न नही होता ।

पहली पद्धति की अपेक्षा दूसरी पद्धति से आततायी को दो लाभ होते है—पहला और प्रधानत यह कि मजदूरो से इच्छानुसार काम कराने के लिए उसे डर-धमकी का प्रयोग करने को बाध्य नही होना पडता, क्योकि मजदूर स्वय उसके पास आकर अपने को उसके हाथो बेच जाते है । दूसरा यह कि उसके अत्याचार-पाश से बहुत थोड़े लोग बच पाते है । इस पद्धति से उसे केवल एक हानि है, वह यह कि उसे

अपना लाभ अधिक व्यक्तियो में बाटना पडता है। जहातक पीडितो का प्रश्न है, उनके लिए इस पद्धति में अच्छाई यह होती है कि उन्हें बल-प्रयोग के आतक में नही रहना पडता। वे स्वतत्र हो जाते हैं और दिन फिरने पर पीडितो की श्रेणी से निकलकर पीडको की श्रेणी में जाने की आशा कर सकते है। इस पद्धति से उन्हे हानि यह होती है कि वे किसी भी अवस्था मे डर-धमकी से बच नही पाते—चाहे उसकी मात्रा कम हो या अधिक।

दास बनानें की यह नई विधि प्राय पहली विधि के साथ-ही-साथ प्रयोग मे आती है और सत्ताधारी व्यक्ति आवश्यकतानुसार एक को सकुचित और दूसरी को व्यापक बनाता जाता है, किंतु इस पद्धति से भी सत्ताधारी को पूरा-पूरा सतोप नही हो पाता, क्योकि वह तो चाहता है कि यथासाध्य अधिक-से-अधिक व्यक्तियो के श्रम का अधिक-से-अधिक प्रतिफल हडपा जाय और अधिक-से-अधिक व्यक्तियो को दास बनाया जाय। इसके अतिरिक्त यह विधि जीवन की बढती हुई जटिलताओ का साथ भी नही दे पाती। अत दास बनाने की एक और नई विधि निकाली जाती है। यह नई और तीसरी विधि कर लगाने की है। दूसरी विधि के समान यह विधि भी लोगो को क्षुधित रखकर ही चलाई जाती है, किंतु इसमे एक नई बात यह जुड जाती है कि लोगो को रोटी से वचित करने के साथ-ही-साथ जीवन-सम्बन्धी अन्य आवश्यकताओ से भी वचित कर दिया जाता है। जो रुपया स्वय आततायी के पास होता है उसे ही वह अपने दासो से इतनी अधिक सख्या मे मागता है कि उसका प्रबन्ध करने के लिए उन दासो को न केवल यूसुफ द्वारा निश्चित पचमाश से अधिक अन्न बेचना पडता है; बल्कि मास, खाल, ऊन, कपडा, ईंधन और घर-जैसी नितात आवश्यक वस्तुए तक बेच डालनी पडती हैं। इस प्रकार आततायी न केवल भूख बल्कि प्यास, शीत, अभाव आदि अन्य विपदाओ का भी त्रास दिखाकर दासो को सदा अपने अधिकार मे रखता है।

इस रीति से दासत्व के तीसरे रूप—पैसे की दासता—का प्रादुर्भाव होता है। इसमे सबल मनुष्य निर्बल से कहता है—"मैं तुममे से

प्रत्येक से जो चाहू करा सकता हूं। चाहूं तो मै तुम्हे अपनी बदूक की गोली का निशान बना दू और चाहू तो तुमसे रोटी देनेवाली भूमि छीनकर तुम्हें नष्ट कर दू। जो रुपए तुम मुझे लाकर दोगे उससे मैं तुम्हारा उदर-भरण करनेवाला सारा नाज खरीद सकता हू और उस नाज को दूसरो के हाथो बेचकर तुम सबको किसी समय भी भूखो मार सकता हू। यही नही, मै तुम्हारे पशु, तुम्हारे मकान, तुम्हारे वस्त्र—तुम्हारा सब कुछ हडप सकता हू। किन्तु ऐसा करना मेरे लिए सुविधाजनक नही है और मुझे अच्छा भी नही लगता, यही कारण है कि मै तुम सबको इस बात की स्वतत्रता देता हू कि तुम जिस प्रकार चाहो अपने काम और पैदावार की व्यवस्था करो—मुझे तो केवल मेरी माग के अनुसार गिने-गिनाए रुपए दे दो, जो मै तुमसे या तो प्रति व्यक्ति के हिसाब से या तुम्हारी भूमि, तुम्हारे खाद्य पदार्थो, वस्त्रो या घरो के हिसाब से लूगा। बस तुम मुझे ये रुपए लाकर दे दो और फिर जैसे चाहो आपस में रहो। पर इस बात को समझ लो कि रक्षा न तो मैं विधवाओ और अनाथो की करूगा, न बीमारो और बूढो की और न ऐसे लोगो की जिनका घर-बार आग मे जल गया है। मै तो केवल इस बात की व्यवस्था करूगा कि रुपए का लेन-देन नियमित रूप से चलता रहे। जो लोग मुझे निश्चित समय पर अपेक्षित राशि देते रहेंगे, उन्होंके व्यवहार को मै न्यायसगत ठहराऊगा और उन्हीकी मै रक्षा भी करूगा। किंतु मुझे इससे कोई सम्बन्ध नही कि उस रुपए को लोग अर्जित किस प्रकार करते है।

अपनी माग की पूर्ति के रसीद-स्वरूप सत्ताधारी इन्ही रुपयो को चलाता है।

दासता की दूसरी विधि वह है जिसके अनुसार फराऊन ने फसल का पचमाश इकट्ठा कर अपने कोठो में भर लिया था और तलवार के बल पर भी लोगो को व्यक्तिगत दासत्व मे जकड लिया था। इसके अतिरिक्त इसी विधि की सहायता से उसके लिए यह भी सम्भव हो सका था कि अपने सहयोगियो से मिलकर वह अकाल के समय समस्त श्रमजीवियो पर और विपत्ति पडने पर उनमे से कुछ पर शासन करे।

तीमरी विधि वह है जिसके अनुसार फराऊन ने जनता से फसल के पचमाग के मूल्य से अधिक रुपया मागा और अपने सहायको की सहायता से मजदूरो पर केवल अकाल और आकस्मिक घटना के समय ही नही वल्कि सर्वदा राज्य करने का एक नया साधन निकाला। दूसरी पद्धति मे लोग थोडा-सा अनाज बचाकर रख लेते थे और उसीके सहारे वे अपने को दासत्व से मुक्त रखकर छोटे-छोटे अकालो और आकस्मिक दुर्घटनाओ का सामना कर लेते थे। किंतु तीसरी पद्धति मे कर मे वृद्धि हो जाने के कारण उनसे उनका सारा नाज ही नही वल्कि जीवन सम्बन्धी अन्य सभी आवश्यक पदार्थ भी ले लिये गए और छोटे-से-छोटा सकट पडने पर ही मजदूरो को पैसेवाले की दासता स्वीकार करनी पडी, क्योकि उनके पास न तो नाज ही रह गया और न कोई अन्य पदार्थ ही जिसके वदले मे वे अन्न प्राप्त कर सकते। पहली पद्धति की सफलता के लिए आततायी को केवल सिपाहियो की आवश्यकता थी और उसे केवल उन्हीको लाभाश देना पडता था, दूसरी पद्धति मे भूमि और अन्न-भडारो के रक्षको के अतिरिक्त आततायी को अन्न एकत्र करनेवालो और वितरक मुशियो की भी आवश्यकता पडी। तीसरी पद्धति मे वह अकेला ही सारी भूमि का स्वामी नही बना रह सका, उसे भूमि और सम्पत्ति की रक्षा के लिए पहरेदारो के अतिरिक्त जमीदारो, टैक्स-कलक्टरो, व्यक्ति अथवा उपभोग्य पदार्थ के हिसाव से टैक्स निश्चित करनेवाले अफसरो, इन्सपेक्टरो, चुगी व माल-अफसरो और पचो की आवश्यकता हुई।

तीसरी पद्धति का सगठन दूसरी की अपेक्षा अधिक जटिल है। दूसरी पद्धति के अनुसार नाज इकट्ठा करने का काम ठेके पर दिया जा सकता है, जैसा कि पुराने जमाने मे होता था और आजकल भी तुर्की में होता है। किंतु जब दामो पर कर लगाया जाता है तब इस बात की देखभाल करने के लिए कि कोई व्यक्ति या उसका कर लगाने योग्य कोई कार्य कर से वचित न रह जाय, एक जटिल शासन-व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसलिए तीसरी पद्धति मे आततायी को अपना लाभ दूसरी पद्धति की अपेक्षा और भी अधिक लोगो मे बाटना पडता

है। इसके अतिरिक्त यह विधि कुछ है ही ऐसी कि पैसेवाले सभी लोग—चाहे वे उसी देश के हो जिसमें यह विधि प्रचलित है चाहे किसी और देश के—लूट में भागीदार बन जाते है। इस विधि का प्रयोग करनेवाले आततायी को पहली और दूसरी विधियो के आततायियो की अपेक्षा निम्नलिखित लाभ अधिक होते है—

पहला लाभ तो यह है कि इस विधि के अनुसार लोगो से अपेक्षाकृत अधिक काम लिया जा सकता है और वह भी अधिक सुविधाजनक रूप मे, क्योकि रुपए की शकल मे लिया जानेवाला कर एक पेच के समान होता है जिसको सरलतापूर्वक उस अतिम सीमा तक कसा जा सकता है जिससे सोने का अडा देनेवाली मुर्गी मरने न पाय। इसमे यूसुफ-काल की भाति अकाल की प्रतीक्षा नही करनी पडती, क्योकि इस व्यवस्था के अनुसार अकाल जब चाहे तभी पैदा किया जा सकता है।

दूसरा लाभ यह है कि इस पद्धति में उन समस्त भूमिरहित व्यक्तियो को डराया-धमकाया जा सकता है जो पहले बच निकलते थे और उदर-पूर्ति के लिए थोडी-बहुत मजदूरी कर लेते थे, किंतु जिनको अब आततायी को कर देने के लिए भी अतिरिक्त श्रम करना पडता है। इस विधि मे आततायी को हानि यह है कि इसे अपना लाभ अपेक्षाकृत अधिक लोगो में बाटना पडता है। इन भागीदारो मे केवल उसके सहायक ही नही होते, बल्कि एक ओर वे प्राइवेट जमीदार होते है जिनका ऐसी व्यवस्था मे साधारणत आविर्भाव हो ही जाता है और दूसरी ओर अपने ही देश के नही बल्कि विदेशो के भी वे व्यक्ति होते है जिनके पास उस तरह के सिक्के होते है जिस तरह के सिक्को की दासो से माग की जाती है। जहा तक पीडितो का प्रश्न है, उन्हे इस पद्धति मे दूसरी पद्धति की अपेक्षा केवल इतना लाभ है कि वे आततायियो के चगुल से और भी अधिक स्वतत्र हो जाते है। वे जहा चाहे रह सकते है और जो चाहे कर सकते है। खेत बोना या न बोना उनकी स्वेच्छा पर निर्भर है। उन्हे अपने काम का हिसाब किसीको नही देना पडता और यदि उनके पास रुपया है तो वे अपने को पूर्णत स्वतत्र समझ सकते है। इसके अतिरिक्त जब उनके पास फालतू रुपया होता है या

उस फालतू रुपए से वे कोई जमीन खरीद लेते है तो वे केवल स्वतंत्रता प्राप्त करने की नही बल्कि-आततायी तक बन सकने की आशा कर सकते है। इतना ही नही, वे इस स्थिति को प्राप्त तक कर सकते है चाहे थोडे ही समय के लिए सही। इस पद्धति से उन्हे हानि यह है कि साधारणत उनकी स्थिति और भी विगड़ जाती है और वे अपनी अधिकांश पैदावार से वंचित कर दिये जाते है, क्योकि इस पद्धति मे दूसरो के श्रम का सुख-भोग करनेवाले व्यक्तियो की संख्या और भी अधिक होती है जिसके फलस्वरूप उनके जीवन-निर्वाह का भार अपेक्षाकृत कम लोगो पर पड़ता है।

दास बनाने की यह तीसरी पद्धति भी बहुत पुरानी है और इसका प्रयोग भी पहली दो पद्धतियो के साथ-ही-साथ होता है वे इससे बिलकुल व्यतिरिक्त नही हो जाती। सच पूछिए तो तीनो मे से एक पद्धति भी कभी बंद नही हुई है। तीनो पद्धतियो की तुलना पेचो से की जा सकती है जो श्रमजीवियो के मस्तक पर रखे हुए एक तखते मे कसे जाते है और उनको दबाते है। इनमे से मुख्य, आधारभूत और बीच का पेच--जिसके बिना दूसरे पेच नही ठहर सकते और जो सबसे पहले कसा जाता है तथा कभी ढीला नही किया जाता—शारीरिक दासता का पेच है—वह दासता जिसमे मानवो का एक समूह मानवो के दूसरे समूह को तलवार से उड़ा देने की धमकी देकर बाधता है। दूसरा पेच, जो पहले के बाद कसा जाता है, लोगो को भूमि और भोजन से वंचित करके दास बनाने का पेच है; इसमें व्यक्तिगत मृत्यु की भी धमकी दी जाती है। तीसरा पेच उस दासता का पेच है जिसमे निरीह जनता से रुपया मांगा जाता है (जो उसके पास नही होता) और साथ-ही-साथ मौत की धमकी भी दी जाती है। तीनो पेचो से एक साथ काम लिया जाता है और जब एक कस दिया जाता है तभी दूसरे ढीले किये जाते है। श्रमजीवियो को दासत्व की शृंखला में पूर्ण रूप से कसने के लिए तीनो पेचो—दास बनाने की तीनो पद्धतियो—की आवश्यकता होती है। हमारे समाज मे इन तीनो पद्धतियो से बराबर काम लिया जाता है—तीनो पेच बराबर कसे रहते है।

व्यक्तिगत बल-प्रयोग और तलवार से धड उडा देने की धमकी देकर लोगो को दास बनाने की पहली पद्धति का कभी परित्याग नही हुआ है और जबतक मानव मानव को दास बनाता रहेगा तबतक इस पद्धति का परित्याग नही होगा, क्योकि इसीपर दासता की भीत खडी है। हमलोग बडे ही सहज भाव से यह विश्वास प्रकट करते है कि हमारे सभ्य ससार मे व्यक्तिगत दासता का अन्त हो चुका है, उसके अतिम अवशेष तो अमरीका और रूस मे दफना दिये गए। हम लोग यह भी कहते है कि अब दासता केवल जगलियो मे रह गई है। ऐसा कहते समय हम एक छोटी-सी बात भूल जाते है, वह यह कि स्थायी सेनाओ में करोडो व्यक्ति कार्य करते है, जिनके बिना कोई शासन-प्रबध अक्षुण्ण नही रह सकता और जिनको हटा देने से किसी भी राज्य की आर्थिक व्यवस्था का नष्ट-विनष्ट हो जाना अनिवार्य है। क्तिु ये करोडो सिपाही अपने शासको के व्यक्तिगत दास नही तो और क्या है ? क्या यातना और मृत्यु की धमकी देकर—जो प्राय कार्यान्वित भी की जाती है—सिपाहियो को अपने स्वामी के इच्छा-नुसार कार्य करने के लिए विवश नही किया जाता ? भेद केवल इतना है कि इनकी दासता को दासता का नाम नही दिया जाता। इसको अनु-शासन के नाम से पुकारा जाता है और जबकि दूसरे लोग आजीवन दास बने रहते है, इनकी दासता, जिसे हमलोग 'नौकरी' कहते है, एक सक्षिप्त काल तक ही सीमित रहती है। हमारे सभ्य समाज मे व्यक्तिगत दासता का न केवल अन्त नही हुआ है बल्कि अनिवार्य सैनिक भरती के कारण पिछले कुछ वर्षो से वह और भी अधिक पुष्ट हो गई है। यह तो सत्य है कि उसके रूप मे थोडा-सा परिवर्तन हो गया है, किंतु सारत वह अब भी वही है जो पहले थी। उसका अस्तित्व मिट नही सकता, क्योकि जबतक मनुष्य मनुष्य का दास रहेगा तबतक इस प्रकार की व्यक्तिगत दासता भी अक्षुण्ण रहेगी, जो तलवार की नोक पर मनुष्य की भूमि और कर सम्बन्धी दासता को भी जीवन-दान करती रहती है। हो सकता है कि सेना की यह दासता हमारे देश की रक्षा और गौरव के लिए आवश्यक हो, जैसा

कि कहा जाता है, किंतु यह आवश्यकता अत्यत सदिग्ध है, क्योकि हम देखते है कि युद्ध मे असफल होने पर यही सेना देश की पराधीनता और अवनति का कारण बन जाती है। फिर भी एक वात स्पष्ट है, वह यह कि इस प्रकार की दासता भूमि और कर सम्बन्धी दासता को जीवन-दान करने के लिए उपयोगी है। उदाहरणत, यदि रूस या आयरलैंड के किसान जमीदारो से जमीन छीन ले तो उसी समय सेनाए आकर किसानो से जमीन वापस ले लेगी। इसी प्रकार यदि कोई शराब खीचने का कारखाना बनाले और आबकारी का कर अदा न करे तो सैनिक आकर उस कारखाने को तत्काल बद कर देगे। या जरा टैक्स बद करके देखिए, आपको वही परिणाम भोगना पडेगा।

दूसरी पद्धति है लोगो की भूमि और भोजन-सामग्री छीनकर दास बनाने की पद्धति। जहा कही भी लोग दास बनाए जाते है वहा पहले भी इस पद्धति से काम लिया गया होगा और अब भी लिया जाता है। इस पद्धति का रूप चाहे कितना ही परिवर्तित क्यो न हो जाय वह प्रचलित सब जगह होती है। कही-कही—जैसा कि तुर्की मे है—सारी भूमि पर राजा का स्वामित्व माना जाता है और सरकार फसल का दसवा भाग कर के रूप मे वसूल करती है। कही-कही भूमि के कुछ भाग पर ही राजा का अधिकार माना जाता है और उस भूमि से कर इकट्ठा किया जाता है। कही-कही—जैसा कि इगलैड मे है—सारी भूमि कुछ थोडे-से व्यक्तियो के अधिकार मे होती है और उनके लिए लोगो से कुछ मजदूरी कराई जाती है। या कही-कही—जैसा कि रूस, जर्मनी और फ्रास मे है—भूमि का न्यूनाधिक भाग जमीदारो के अधिकार मे होता है। साराश यह कि जहा कही भी दासता है वहा सत्ताधारी व्यक्ति दासता द्वारा जमीन पर अपना अधिकार अवश्य जमा लेता है।

लोगो को दास बनानेवाला यह पेच दूसरे पेचो पर पडनेवाले बोझ को दृष्टि मे रखकर ही कसा या ढीला किया जाता है। उदाहरणार्थ, रूस मे जब अधिकाश श्रमजीवी व्यक्तिगत दासता मे जकड दिये गए तो वहा भूमि की दासता निरर्थक हो गई, किंतु व्यक्तिगत दासता का

पेच उस समय तक ढीला नही किया गया जबतक भूमि और कर-सम्बन्धी दासता के पेच खूब कस नही दिये गए। लोगो को विभिन्न समुदायो मे बाट दिया गया, उनके स्थान-परिवर्तन के मार्ग मे बाधाए उपस्थित कर दी गईं भूमि या तो सरकार ने हथिया ली या व्यक्तिगत जमीदारो को दे दी गई और तब कही जाकर किसानो को स्वतन्त्र किया गया। इसी तरह इगलैंड में भूमि-दासता का दौर-दौरा है और वहा भूमि के राष्ट्रीयकरण का जो प्रश्न उठ रहा है उसका अर्थ केवल यह है कि कर-सम्बन्धी पेच को कस दिया जाय ताकि भूमि-दासता का पेच ढीला किया जा सके।

कर द्वारा दास बनाने की तीसरी पद्धति भी पहले प्रचलित थी और आजकल विभिन्न राज्यो मे समान मुद्रा का प्रचलन होने के कारण तथा शासक सस्थाओ के आतरिक अधिकारो मे वृद्धि होने से इस पद्धति का प्रभाव विशेष रूप से बढ गया है। वर्तमान काल मे इस पद्धति का इतना विस्तार हो गया है कि इस बात की आशा की जाने लगी है कि धीरे-धीरे यह पद्धति भूमि-दासत्व की दूसरी पद्धति का स्थान ग्रहण कर लेगी। यह वह पेच है जिसके कस देने पर भूमि सम्बन्धी दासता का पेच ढीला हो जाता है, जैसा कि सारे यूरोप की आर्थिक अवस्था से प्रकट है। अपनी याद में हम रूस में दासता को दो बार एक रूप से दूसरा रूप ग्रहण करते देख चुके है। जब दास मुक्त किये गए और अधिकाश भूमि जमीदारो के अधिकार में छोड दी गई तब भू-स्वामियो को चिंता हुई कि दासो पर से उनका अधिकार जाता रहेगा। किंतु अनुभव ने सिद्ध किया कि वे एक शृखला को छोडकर दूसरी शृखला पकड रहे है, अर्थात दास-स्वामित्व के बदले भू-स्वामित्व की प्रणाली अपना रहे है। किसान के पास खाने को कुछ नही था। किंतु जमीदार के पास जमीन और अन्न-भडार थे, इसलिए किसान गुलाम-का-गुलाम बना रहा। इस स्थिति में नया परिवर्तन तब हुआ जब कि सरकार की मागो ने कर-सम्बन्धी दूसरे पेच को खूब कस दिया और अधिकाश श्रम-जीवी अपने आपको जमीदारो या मिल-मालिको के हाथ बेचने को बाध्य हो गए। दासता की इस नई पद्धति ने लोगो को और भी जकड

लिया। परिणाम यह हुआ कि रूस के ९० प्रतिशत मजदूर आज जमीदारों और मिल-मालिको के यहा केवल इसलिए काम करते है कि भूमि-कर और राज्य की मागे उन्हे ऐसा करने के लिए विवश करती है। यह वात इतनी स्पष्ट है कि यदि सरकार एक साल के लिए प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष और भूमि सम्बन्धी करो की उगाही वद करने का प्रयोग करे तो कारखानो मे और उन जमीनो पर जो किसानो या मजदूरो की अपनी नही है, काम विलकुल पट पड जाय। जव कर उगाहे जाते है तव उन्हे अदा करने के लिए रूस के ९० प्रतिशत लोगो को मजदूरी करनी पडती है।

दासत्वीकरण की ये तीनो विधिया पुरातन काल से निरतर चली आई है और आज भी विद्यमान है, किंतु मनुष्य का यह स्वभाव है कि इन विधियो की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए नए वहानो के मिलते ही वह इनकी ओर ध्यान देना छोड देता है। आश्चर्य की वात तो यह है कि यही पद्धति जिसपर आजकल सव कुछ टिका हुआ है, यही पेच जिसने सव चीजो को एक साथ जकड़ रखा है, लोगो को दिखलाई नही देता।

प्राचीन काल मे, जव कि ससार की मारी आर्थिक व्यवस्था व्यक्तिगत दासता के आधार पर खडी थी, महान्-से-महान् मनीषियो की भी दृष्टि इधर नही गई। जोनोफन, अफलातून, अरस्तु और रोमनो का तो यह धारणा थी कि इसके विपरीत कुछ हो ही नही सकता। दासता युद्ध का स्वाभाविक और अनिवार्य परिणाम है और इसके विना मानव-समाज का अस्तित्व ही कल्पनातीत है। इसी प्रकार मध्य काल में और अभी कुछ ही दिनो पीछे तक—लोग भू-स्वामित्व के महत्व को नही समझते थे और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होनेवाली उस दासता को भी नही देख पाते थे जिसपर मध्यकाल का सम्पूर्ण आर्थिक यत्र अवलम्वित था। ठीक इसी तरह आजकल भी न तो कोई इस वात को समझता है, न समझने की चेष्टा ही करता है कि अधिकाश लोगो की दासता का कारण रुपए के रूप में लिये जानेवाले वे राज्य-कर और भूमि-कर है जिनकी माग सरकार और उसके आश्रित करते है और

जिन्हे वसूल करने की व्यवस्था कर्मचारियो तथा सैनिको के हाथो में होती है—वे ही कर्मचारी और वे ही सैनिक जिन्हें इन करो की आय से वेतन दिया जाता है।

: २१ :

अव्यवहारिक अर्थशास्त्र

आश्चर्य की बात यह नही, कि पुरातन काल से दासता के पाश में जकडे हुए प्राणी स्वय अपनी स्थिति से परिचित नही है और जिस दशा मे वे सदा से रहते आए है उसे वे मानव-जीवन की स्वाभाविक अवस्था मानते है और दासता के रूपमात्र में परिवर्तन को सुधार समझ बैठते है। आश्चर्य की बात यह भी नही है कि इन दासो के स्वामी भी कभी-कभी सच्चे हृदय से यही समझते है कि एक पेच ढीला करके वे अपने दासो को स्वतन्त्र कर रहे है जब कि वास्तविकता यह होती है कि दूसरा पेच पहले ही से खूब कस दिया जाता है। दास और स्वामी दोनो अपनी-अपनी स्थिति के अभ्यस्त हो जाते है और स्वतन्त्रता से अनभिज्ञ होने के कारण दासो की केवल इतनी आकाक्षा होती है कि किसी तरह उनकी स्थिति मे सुधार हो जाय या उनकी दासता का रूप बदल जाय। इसके विपरीत स्वामी-वर्ग के लोग अपने अन्याय पर परदा डालने के लिए इस बात की चेष्टा करते है कि लोगो को पुराने ढग की दासता से निकालकर वे जिस नए ढंग की दासता में जकड़ने जा रहे है उसका खूब ढोल पीटे। आश्चर्य की बात तो यह है कि उदार कहलानेवाला अर्थशास्त्र भी मानव-जीवन की आर्थिक स्थिति की जाच करते समय उस वास्तविकता को देखने से चूक जाता है जो उस स्थिति के मूल मे छिपी रहती है। मै समझता हू कि अर्थशास्त्र का काम यह पता लगाना है कि किसी एक घटना का अनेक शृंखलाबद्ध घटनाओ के सामान्य कारण से क्या सम्बन्ध है? किंतु अर्थशास्त्र इसका बिलकुल उलटा करता है। वह

घटनाओ तथा उनके महत्व को एक सूत्र मे बाधनेवाले सम्बन्ध को सावधानी के साथ छिपाता है और साधारण-से-साधारण तथा अनिवार्य-से-अनिवार्य प्रश्नो का भी उत्तर देने से वचता है । वह एक सुस्त और हठी घोडे के समान है जो ढलाव पर, जहा बोझ नही खीचना पडता, खूब मजे से चलता है, किंतु जैसे ही बोझ खीचने का अवसर आता है वैसे ही वह किसी दूसरी दिशा मे मुड जाता है, मानो उस दिशा मे उसे कोई काम हो । अर्थशास्त्र के सामने जैसे ही कोई गम्भीर और आवश्यक प्रश्न आता है वैसे ही असम्बन्धित बातो पर पाडित्यपूर्ण वादविवाद आरम्भ हो जाता है, ताकि लोगो का ध्यान मुख्य प्रश्न से हट जाय ।

आप पूछते हैं इस अस्वाभाविक, विलक्षण, विवेकरहित और केवल व्यर्थ ही नही बल्कि हानिकारक व्यवस्था का क्या कारण है कि मानव-समाज के कुछ प्राणी दूसरो की इच्छा के विना न खा सकते है, न काम कर सकते है ? और अर्थशास्त्र गम्भीर-से-गम्भीर मुद्रा बना कर उत्तर देता है इसका कारण यह है कि कुछ लोग दूसरो के काम और पोषण पर नियत्रण रखते हैं—उत्पादन का नियम ही ऐसा है ।

आप पूछते हैं स्वामित्व का यह कैसा विलक्षण अधिकार है जिसके बल पर कुछ लोग दूसरो की भूमि, भोजन तथा काम करने के औजारो का अपहरण कर लेते है ? अत्यत गम्भीर मुद्रा बनाकर अर्थशास्त्र उत्तर देता है इस अधिकार की रचना परिश्रम के सरक्षण के तत्व पर की गई है, अर्थात् एक वर्ग के लोगो के परिश्रम का सरक्षण दूसरे वर्ग के लोगो के परिश्रम का अपहरण करके किया जाता है ।

आप पूछते है . यह कैसा रुपया है जिसकी छपाई और ढलाई सब जगह सरकार अथवा उसके अधिकारी ही करते है, जो मजदूरो से इतनी अधिक सख्या मे बलपूर्वक वसूल किया जाता है और जो राष्ट्रीय ऋण के रूप मे मजदूरो की भावी सतान के सिर पर भी मढ दिया जाता है ? आप पूछते है कि कर लेनेवालो से कर देनेवालो का जो आर्थिक सम्बन्ध होता है, उसपर इस रुपए का, जो करो के रूप मे लोगो से यथासम्भव अधिक-से-अधिक परिमाण मे हडपा जाता है, क्या असर

पडता है ? अर्थशास्त्र वही गम्भीर मुद्रा बना कर उत्तर देता है चीनी या छीट की तरह रुपया भी एक पदार्थ है। अतर केवल इतना है कि यह विनिमय का सबसे अधिक सुविधाजनक माध्यम है। करो का लोगो की आर्थिक स्थिति पर कोई प्रभाव नही पडता। उत्पादन, विनिमय और वितरण के नियम एक वस्तु है, कर दूसरी वस्तु।

आप पूछेंगे . सरकार को अपने इच्छानुसार मूल्य घटाने-बढाने और कर बढाकर भूमि-विहीन लोगो को दासता की शृखला मे जकडने का जो अधिकार प्राप्त है, क्या उसका लोगो की आर्थिक अवस्था पर कोई प्रभाव नही पडता ? अर्थशात्र बडा ही गम्भीर मुह बनाकर उत्तर देता है बिलकुल नही, उत्पादन, वितरण और विनिमय का शास्त्र अलग है और कर तथा राज्य-कार्य अर्थात अर्थ-व्यवस्था का शास्त्र अलग है।

आप अतिम प्रश्न करते है सारी-की-सारी जनता सरकार की दासता में आबद्ध है, सरकार को यह क्षमता प्राप्त है कि जिसे चाहे वह नष्ट करदे, जिससे चाहे उससे उसके श्रम का समस्त प्रतिफल ले ले और श्रमजीवियो को उनके काम से हटाकर सैनिक दासत्व मे जकड दे—क्या इन सब बातो का आर्थिक परिस्थिति पर कोई प्रभाव नही पडता ? अर्थशास्त्र इस प्रश्न का उत्तर देने तक का कष्ट नही करता। यह तो एक बिलकुल पृथक विषय है—राज्य-नियम या राजनीतिक कानून। जिस जनता का प्रत्येक कार्य और प्रत्येक कर्त्तव्य आततायी की स्वेच्छा पर निर्भर होता है उसके आर्थिक जीवन के नियमो का अर्थशास्त्र बडी गम्भीरता के साथ परीक्षण करता है और आततायी के इस अधिकार को सार्वजनिक जीवन का स्वाभाविक रूप समझता है। दासो के जीवन पर स्वामी की स्वेच्छा का क्या प्रभाव पडता है, अपने लाभार्थ स्वामी जो कुछ चाहता है उसे करने के लिए वह दासो को किस प्रकार बाध्य करता है, किस प्रकार उन्हे वह अपने मन की मौज के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर खदेडता फिरता है और इच्छा होती है तो भोजन देता है, नही तो भूखा रखकर मार डालता है या योही जीने के लिए छोड देता है—इन बातो की जाच किये बिना जिस प्रकार कोई भी प्रेक्षक दासो की आर्थिक स्थिति का अनुमान नही

लगा सकता उसी प्रकार अर्थशास्त्र भी ऐसा करने मे असमर्थ रहता है। हम लोग सोचेगे कि शायद अर्थशास्त्र मूर्खतावश ऐसा करता है, किंतु उसके प्रस्तावो की परीक्षा करने से यह विश्वास हो जाता है कि इसका कारण मूर्खता नही वलिक चातुर्य है।

अर्थशास्त्र का एक निश्चित उद्देश्य है जिसको वह प्राप्त करता है। वह उद्देश्य है जनता मे अध-विश्वास और भ्रम की भावना वनाए रखना और उसके द्वारा मानव-जाति को सत्य तथा कल्याण की ओर अग्रसर होने से रोकना। लोगो मे वहुत दिनो से एक भयकर अध-विश्वास फैला हुआ है, जिसने समाज को भयकरतम धार्मिक अध-विश्वास से भी अधिक क्षति पहुचाई है। अर्थशास्त्र इसी अध-विश्वास को अपनी पूरी शक्ति लगाकर अक्षुण्ण रखता है। यह अध-विश्वास धार्मिक अध-विश्वासो के ही समान होता है। कहा जाता है कि मनुष्य के प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य है, उससे भी वढकर हमारा कर्तव्य एक काल्पनिक व्यक्ति के प्रति है। धर्मशास्त्र मे उस काल्पनिक व्यक्ति का नाम 'ईश्वर' है और अर्थशास्त्र मे उसे 'राज्य' कहते है। धार्मिक अध-विश्वास यह मानने मे है कि ईश्वर के लिए वलि—कभी-कभी नर-वलि तक—की आवश्यकता होती है, और यह वलि प्रत्येक दशा में होनी ही चाहिए, चाहे उसके लिए हिंसा का ही क्यो न प्रयोग करना पडे। राजनीतिक अध-विश्वास यह मानने मे है कि मनुष्य का जो कर्तव्य मनुष्य के प्रति है उससे भी वढकर उसका कर्तव्य राज्य के प्रति है। इस राज्य के लिए भी वलि—अकसर नर-वलि—की आवश्यकता होती है और इस वलि के निमित्त मनुष्य को हर तरह से, यहा तक कि हिंसा का प्रयोग करके भी, तैयार करना चाहिए। पहले इस अध-विश्वास के स्तम्भ विभिन्न धर्मो के पुरोहित थे, किंतु अव उसका समर्थक अर्थशास्त्र है। मानव-समाज पहले से भी अधिक भयकर दासता के गह्वर मे ढकेल दिया गया है, किंतु अर्थशास्त्र हमे विश्वास दिलाने का प्रयत्न करता है कि यह स्थिति आवश्यक है और इससे भिन्न नही हो सकती।

राज्य का अस्तित्व लोक-कल्याण के लिए होना चाहिए और उसे अपना कर्त्तव्य-पालन करते रहना चाहिए; अर्थात् उसे जनता का शासन

करना चाहिए और साथ-ही-साथ शत्रुओ से उसकी रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। इसके लिए राज्य को रुपए और सिपाहियो की आवश्यकता होती है। यह रुपया राज्य के सब नागरिको को मिला कर देना चाहिए और इसलिए राज्य के अस्तित्व को ध्यान में रखकर ही लोगो के परस्पर सम्बन्धो पर विचार करना उचित है।

एक साधारण अनपढ़ आदमी कहता है—मै खेत पर अपने पिता की सहायता करना चाहता हू। मेरी इच्छा व्याह करने की है, किंतु सरकार मुझे पकड़कर सिपाही का काम करने के लिए ६ वर्ष को कही दूर भेज देती है। सेना को छोडने के वाद मै खेती करना और अपने परिवार की सहायता करना चाहता हू, किंतु रुपया दिये विना मुझे अपने इर्द-गिर्द कही खेती करने की अनुमति नही मिलेगी और रुपया मेरे पास है नही। मुझसे रुपया वे लोग मागते है जिन्हे हल तक जोतना नही आता और वे इतना रुपया मागते है कि उसके लिए मुझे अपनी सारी मेहनत वेचनी पडती है। इतने पर भी मै कुछ कमा लेता हू और उसमे से जितना वचा सकता हूं उतना अपने वच्चो को देना चाहता हूं; किंतु सरकारी कर्मचारी आकर मेरे पास से वह रकम कर के रूप मे वसूल कर ले जाता है। इसके वाद मै फिर कुछ कमाता हूं और फिर मेरी सारी कमाई मुझसे छीन ली जाती है। मेरी सारी आर्थिक क्रिया राज्य की इच्छा पर निर्भर है और मुझे ऐसा लगता है कि मेरी तथा मेरे भाइयो की दशा तभी सुधर सकती है जव हमको राज्य की मागो से छुटकारा मिल जाय।

किंतु अर्थशास्त्र कहता है—तुम ऐसी वातें अज्ञानवश सोचते हो। धन के उत्पादन, वितरण और विनिमय के नियमो का अध्ययन करो और आर्थिक प्रश्नो को राजनीतिक प्रश्नो के साथ न मिलाओ। जो वाते तुमने कही है उनसे तुम्हारी स्वतन्त्रता का उल्लघन नही होता। वे तो अनिवार्य वलिदान है जो तुम्हे अन्य व्यक्तियो की भाति स्वय अपनी स्वतन्त्रता और कल्याण के हेतु करना होगा।

इसपर वह सीधा-सादा आदमी कहता है—देखो तो, उन्होंने मेरे लड़के को मुझसे ले लिया है और कह गए है कि मेरे दूसरे लडको

को भी वडा होते ही ले जायगे। वे उसको वलपूर्वक ले गए है और वह किसी ऐसे विचित्र देश मे शत्रुओ की गोलियो का सामना करने के लिए भेज दिया गया है जिसका हमने पहले कभी नाम भी नही सुना था। हमे तो यह भी नही पता कि यह युद्ध लडा क्यो जा रहा है और, यह तो देखिए, जिस खेत को हमें जोतने की अनुमति नही है और जिसके विना हम भूखो मरते है वह एक ऐसे आदमी के अधिकार मे है जिसको न तो हमने कभी देखा है, न जिसकी उपयोगिता हमारी समझ मे आती है। जहा तक करो का सवाल है, मै समझता हू कि जिन करो के लिए सरकारी सिपाही मेरे लडके के पास से वलपूर्वक गाय छीन ले गया था, उनका रुपया उसी सिपाही के पास और विभिन्न कमीशनो तथा मन्त्रिमडलो के उन सदस्यो के पेट मे जायगा जिनको मै नही जानता और जिनकी उपयोगिता मे मुझे विश्वास नही। भला वताइए कि इस अत्याचार से मेरी स्वतन्त्रता की किस प्रकार रक्षा होगी और इतनी सारी वुराई से मेरा कैसे कल्याण होगा।

यह तो सम्भव है कि किसी व्यक्ति को दास वना लिया जाय और उसे कोई ऐसा कार्य करने के लिए वाध्य किया जाय जिसे वह वुरा समझता है, किंतु उसे यह सोचने के लिए प्रेरित करना असम्भव है कि डर-धमकी की यत्रणा भोगते हुए भी वह स्वतत्र है और जिस प्रत्यक्ष वुराई को वह सहन कर रहा है वह उसके लिए कल्याणप्रद है। देखने मे यह बात असम्भव प्रतीत होती है, किंतु अर्थशास्त्र की सहायता से हमारे समय मे यही हुआ है।

सरकार—अर्थात् वल-प्रयोग करनेवाले सशस्त्र व्यक्तियो की सत्ता—यह निश्चित करती है कि जिन लोगो को वह डराती-धमकाती है उनसे वह कितना रुपया वसूल करे। जैसा कि अग्रेजो ने फिजी-निवासियो के साथ किया था, वैसे ही सरकार यह निश्चय करती है कि गुलामो से कितनी मेहनत कराई जाय, श्रमजीवियो को सगठित करने के लिए कितने सहायको की आवश्यकता है और इन सहायको को सिपाहियो, जमीदारो तथा टैक्स-कलक्टरो के रूप में सगठित करने के लिए क्या किया जाय। दास अपनी सेवाए समर्पित करते है, फिर भी वे

समझते हैं कि वे ऐसा अपने स्वामी की इच्छा के कारण नही कर रहे हैं बल्कि इसलिए कर रहे हैं कि स्वत्र अपनी स्वतत्रता और कल्याण के लिए उन्हे 'राज्य' नामक देवता के सामने सेवाए समर्पित करना और लहू की बलि चढाना आवश्यक है। इतना त्याग करते हुए भी वे अपने को स्वतत्र मानते हैं। उनके इस विश्वास का कारण यह है कि पहले धर्म और पुजारी ऐसा ही कहते थे और अब अर्थशास्त्र और विद्वज्जन भी यही कहते है। किंतु यदि हम उन लोगो की बातो का, जो अपने को पुरोहित और विद्वान् कहते हैं, आखे बन्द करके विश्वास करना छोड दें तो उनके कथनो की अनर्गलता बिलकुल स्पष्ट हो जाय। जो लोग दूसरो के प्रति बलप्रयोग करते हैं वे उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यह बलप्रयोग राज्य के लिए आवश्यक है और राज्य जनता की स्वतन्त्रता तथा कल्याण के लिए आवश्यक है। इसका अर्थ यह हुआ कि पीडितो की स्वतत्रता मे वृद्धि करने के लिए ही पीडक उन्हे पीडा पहुचाते है, उनकी भलाई के लिए उन्हें नुकसान पहुचाते है। किंतु मनुष्य तर्कशील प्राणी है, वह समझ सकता है कि उसकी किस बात में भलाई है और वह अपने हित की स्वतत्रतापूर्वक अभिवृद्धि कर सकता है। जिन कामो की अच्छाइया लोगो की समझ में नही आती और जिन कामो को उन्हे विवशतावश करना पडता है, वे उनके लिए कदापि कल्याणप्रद नही हो सकते। तर्कशील प्राणी केवल उस वस्तु को कल्याणप्रद मान सकता है, जो उसकी बुद्धि को ऐसा प्रतीत हो। यदि कुछ व्यक्ति बुराई की ओर राग या तर्कहीनता के कारण आकर्षित होते है तो शेष लोग—जो ऐसी भूल नही करते—केवल इतना कर सकते हैं कि इन पथभ्रष्टो को वास्तविक कल्याण के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करें। लोगो को यह विश्वास दिलाया जा सकता है कि यदि वे सबके सब सिपाही बन जाय, यदि उन सबकी जमीनें उनसे छीन ली जाय और यदि वे अपना सारा श्रम कर के रूप में अर्पित कर दें तो उनका अधिक कल्याण होगा। किंतु जबतक सब लोग इसे अपना कल्याण न समझने लगें और इसे स्वेच्छा से न करने लगे तबतक यह सार्वजनिक कल्याण की बात नही कही जा सकती। किसी भी काम के कल्याणप्रद होने का

एकमात्र प्रमाण यह है कि जनता उसे स्वेच्छा से करे। मनुष्य का जीवन ऐसी बातो से भरा हुआ है।

मान लीजिए, दस मजदूर साथ काम करने के लिए औजार लेते है। उनका यह कार्य निस्सदेह उनके सामान्य हित के लिए है। किन्तु यदि ये लोग किसी ग्यारहवे व्यक्ति को अपनी टोली मे मिलकर काम करने के लिए बलपूर्वक बाध्य करे तो वे यह नही कह सकते कि जिस वस्तु मे उनका सामान्य हित है उसीमे उस ग्यारहवे व्यक्ति का भी है।

यही बात उन भद्र पुरुषो के विषय में भी चरितार्थ होती है जो एक साथ मिलकर अपने किसी सामान्य मित्र को प्रीति-भोज के लिए निमत्रित करते है। यह कहना असम्भव है कि यह भोज उस व्यक्ति को भी अच्छा लगेगा जिससे भोज के लिए बलात् दस रूबल वसूल किये गए है। यही बात उन किसानो पर भी लागू होती है जो अपनी सामान्य सुविधा के लिए तालाब खोदने का निश्चय करते हैं। जो लोग तालाब को उसपर की गई मेहनत से अधिक लाभदायक समझते है उनके लिए उसका निर्माण निस्सदेह एक सामान्य हित का प्रश्न होगा, किंतु जो व्यक्ति फसल की कटाई मे पिछड़ गया है और तालाब को उससे कम महत्त्वपूर्ण समझता है, उसे भला उसकी खुदाई कैसे लाभदायक प्रतीत हो सकती है? यही बात सडको, गिरजाघरो, अजायबघरो और बहुत-सी सामाजिक तथा राजनीतिक बातो में भी चरितार्थ होती है। ये चीजे उन्ही लोगो के लिए लाभदायक हो सकती है जो उनको लाभदायक समझते है और उनके निर्माण मे वे स्वेच्छा तथा स्वतत्रता के साथ भाग लेते है। यही बात सघ के लिए खरीदे गए हथियारो, भद्र पुरुषो द्वारा दिये गए सहभोज और किसानो द्वारा खोदे गए तालाब के सम्बन्ध मे भी थी। जो काम लोगो से बलपूर्वक कराए जाते है वे केवल बलप्रयोग के कारण सामान्य हित के काम नही रह जाते।

यह बात इतनी स्पष्ट और सरल है कि यदि इतने दिनो तक लोग धोखे मे न रहे होते तो इसे समझाने की कोई आवश्यकता ही न होती।

मान लीजिए कि हम सब गाव में रहते है और वहा के एक ऐसे दलदल पर पुल बांधने का निश्चय करते है जिसमे लोग अकसर फस जाते हैं। हमलोग सहमत होकर वचन देते है कि प्रत्येक परिवार से इतना रुपया, इतनी लकडी और इतने दिनो की मेहनत ली जायगी। इस काम को करने के लिए हम इसलिए राजी होते हैं कि हम समझते है कि यह पुल हमारे लिए अपने निर्माण-मूल्य से अधिक लाभदायक होगा। किंतु हममे कुछ लोग ऐसे भी हो सकते है जिनके लिए खर्च न करना पुल के निर्माण से अधिक लाभदायक हो या जो कम-से-कम ऐसा समझते हों।

क्या इन लोगो से पुल के निर्माण मे भाग लेने के लिए जबर्दस्ती करना उनके लिए लाभप्रद हो सकता है ? स्पष्ट है कि ऐसा नही हो सकता; क्योकि जो लोग पुल के निर्माण में स्वेच्छापूर्वक कार्य करने को ही हानिकारक सकझते थे वे अनिवार्य रूप से कार्य करना तो और भी अधिक हानिकारक समझेगे। यदि हम यह भी मान ले कि हम सबने विलकुल एकमत होकर पुल वनाने का निर्णय किया था और उसके लिए प्रत्येक परिवार ने एक निश्चित परिमाण मे रुपया और श्रम देने का वचन दिया था, तव भी यह सम्भव हैं कि स्थिति मे परिवर्तन हो जाने के कारण कुछ लोग अपना अश देने मे असमर्थ हो जाय और उसके फलस्वरूप यह सोचने लगें कि रुपया खर्च करने की अपेक्षा पुल का न होना ही अच्छा है। यह भी सम्भव है कि उनका केवल मत वदल गया हो, या वे यह सोचने लगे हो कि पुल तो हमारी सहायता के बिना भी बन ही जायगा और उसका उपयोग भी हम कर ही सकेगे। ऐसी दशा में क्या इन लोगो को पुल के निर्माण मे भाग लेने के लिए बाध्य करना अर्थात उनसे अनिवार्य वलिदान कराना उनके लिए लाभ-दायक हो सकेगा ? कदापि नही; क्योकि यदि वे अपने वचन का पालन किसी ऐसी परिवर्तित स्थिति के कारण नही कर पाये है, जिसके फल-स्वरूप उन्हें पुल के निर्माण मे योग देना कठिन हो गया, तो उनसे वलात् सहायता लेना उनका और भी अहित करना होगा। इसके विपरीत, यदि वचन भग करनेवाले व्यक्ति का उद्देश्य दूसरो के श्रम

से लाभ उठाना था तब भी उसको सहायता देने के लिए विवश करना उसे केवल उसके एक इरादे के लिए दण्ड भर देना होगा और इरादा भी ऐसा जो सिद्ध नही हुआ है और कार्य रूप मे परिणत होने से पूर्व ही दण्ड पा चुका है; किंतु किसी व्यक्ति को अवाछित कार्य मे भाग लेने के लिए विवश करना किसी भी दशा मे लाभदायक नही हो सकता ।

यह बात तो तब है जब दलदल पर पुल बाधने-जैसा असदिग्ध उपयोगिता का और सबकी समझ मे आनेवाला कार्य किया जाता है। जिस उद्देश्य को लोग समझते नही, जो उद्देश्य अग्राह्य होते है और बहुधा निश्चयात्मक रूप से हानिकर होते है, उनके लिए लाखो व्यक्तियो को उत्सर्ग करने के लिए विवश करना और भी अधिक अन्याय और मूर्खता की बात होगी, जैसा कि सैनिक भरती और करो की वसूली मे होता है। किंतु अर्थशास्त्र का कहना है कि जो बात सबको बुरी दिखाई देती है वह वस्तुत सार्वजनिक हित की बात है। ऐसा मालूम होता है कि कुछ थोडे-से इनेगिने लोगो को ही इस बात का ज्ञान होता है कि सार्वजनिक हित किस बात मे है और यद्यपि शेष सब लोग उस सार्वजनिक कल्याण को अहितकर समझते है, तथापि इन थोडे-से व्यक्तियो को अधिकार होता है कि वे शेष लोगो को यह अहित-कर कार्य करने के लिए विवश करे और उसको सार्वजनिक हित का कार्य समझे।

यही वह सबसे बडा अधविश्वास और धोखा है जो मानव-समाज को सत्य और कल्याण के पथ पर अग्रसर होने से रोकता है। इसी अध-विश्वास और इसी धोखे को अक्षुण्ण रखना राजनीति-शास्त्र का साधारण और अर्थशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। उसका लक्ष्य मानव-समाज से अत्याचार और दासता की उस स्थिति को छिपाए रखना है जिसमे वह पडा हुआ है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए वह जो युक्ति काम मे लाता है वह इस प्रकार है—जिस बलप्रयोग द्वारा दासो का समस्त आर्थिक जीवन सचालित होता है उसे वह जानबूझ कर स्वाभाविक और अनिवार्य बतलाता है और इस प्रकार लोगो को धोखे

में डालकर उनकी आंखें उनकी दुर्दशा के वास्तविक कारणो की ओर से हटा देता है।

दास-प्रथा का अत हुए बहुत दिन हो चुके है। रोम, अमरीका तथा रूस तीनो ही देशो में यह प्रथा नही रही है, किंतु जिस वस्तु का यथार्थत अत हुआ है वह है दासता शब्द, स्वयं दासता नही।

दासता इस बात में है कि कुछ लोग अपने को उस श्रम से मुक्त कर लेते है जो उनकी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए प्रयोजनीय होता है और वही श्रम दूसरो पर बलात् लाद दिया जाता है। जहां कही भी ऐसे लोग है जिनके निष्क्रिय रहने का कारण यह नही है कि दूसरे लोग उनका काम प्रेमवश कर देते है बल्कि यह कि वे अपने लिए स्वय काम न करके दूसरो को अपने लिए कार्य करने को बाध्य कर सकते है, वही दासता है। इसी प्रकार यूरोपीय देशो की भाति जहा कही भी ऐसे लोग है जो हिंसात्मक युक्तियो द्वारा सहस्रो दूसरे व्यक्तियो के श्रम का उपयोग करते हुए यह विश्वास करते है कि उन्हे ऐसा करने का अधिकार है और साथ-ही-साथ जहा दूसरे लोग इन हिंसात्मक युक्तियो के सामने सिर झुका कर काम करने ही नही लग जाते बल्कि उसको अपना कर्तव्य भी समझ लेते है, वहा निस्सदेह भयकर दासता का राज होता है।

तो, दासता विद्यमान है। किंतु उसका तथ्य क्या है? उसका तथ्य वही है जो सदा रहा है और जिसके बिना वह टिक नही सकती—अर्थात सशक्तो तथा सशस्त्रो द्वारा दुर्बलो और नि शस्त्रो के प्रति बल-प्रयोग।

दासता का रूप अब भी व्यक्तिगत बल-प्रयोग की उन्ही तीन मूल प्रणालियो मे दिखाई देता है, जिनमें पहले दिखाई देता था; अर्थात् (१) सैनिक भरती, (२) सैनिको द्वारा प्रचारित भूमि-कर और (३) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर के रूप मे जनता पर लादे हुए सम्मान-कर, जिन्हे ये ही सिपाही अक्षुण्ण रखते है। हम इन्हे देख इसलिए नही पाते कि इनमें से प्रत्येक का नए ढग से समर्थन किया जाने लगा है, जिसके कारण इनका अर्थ हमसे छिप गया है।

सशस्त्र व्यक्तियो द्वारा नि.शस्त्रो पर किये जानेवाले वल-प्रयोग का समर्थन यह कहकर किया जाता है कि उससे देश की कल्पित शत्रुओ से रक्षा होती है। यथार्थ मे उसका वही पुराना अर्थ है—पराजितो पर विजेताओ का शासन। इसी प्रकार जिस हिंसा का प्रयोग श्रमजीवियो से उनके खेतो को छीनने मे किया जाता है उसे सार्वजनिक हित के लिए किये गए कार्य का पारितोषिक कहकर उचित ठहराया जाता है। इसका समर्थन उत्तराधिकार की प्रथा से भी हुआ है। वस्तुत: यह वही पुरानी विधि है जिसके अनुसार सेना या अधिकारीगण खेतो को हथियाकर जनता को दास वनाते थे।

अंतिम विधि का, जो आजकल की सवसे शक्तिशाली और प्रमुख विधि है और जिसके अनुसार डरा-धमकाकर कर वसूल किये जाते हैं, एक वड़े ही आश्चर्यजनक ढग से समर्थन किया जाता है। लोगो को उनकी सम्पत्ति, स्वतत्रता और सारी भलाई से वचित कर दिया जाता है और उसके समर्थन मे कहा यह जाता है कि काम स्वतत्रता और सार्वजनिक कल्याण के लिए किया गया है। वस्तुत यह कुछ नही, वही पुरानी दासता है, सिवा इसके कि अव इसका रूप व्यक्तिगत नही रह गया है।

जहा वलप्रयोग को कानून का रूप दे दिया जाता है, वहा दासता का वास होता है। वलप्रयोग का प्रदर्शन चाहे किसी भी रूप में होता हो—चाहे राजा और उनके सैनिक स्त्रियो और वच्चो को मारते हुए तथा गावो को जलाते-फूकते हुए चढाई करते हो, चाहे स्वामीगण अपने खेत के लिए दासो से रुपया वसूल करते या मजदूरी कराते हो और उनके अस्वीकार करने पर सेना वुला लेते हो, चाहे कुछ लोग शस्त्र लेकर दूसरो पर गाव-गाव कर लगाते फिरते हो, चाहे प्रान्तीय गवर्नरो और देहाती पुलिस की सहायता से गृहमत्री का विभाग रुपया इकट्ठा करता हो और लोगो के आना-कानी करने पर फौज तैनात कर देता हो—सक्षेप यह कि जवतक सगीन की नोक पर लोगो को डराया धमकाया जायगा, उनके साथ जोर जवर्दस्ती की जायगी, तवतक धन जनता मे वितरित न होकर अत्याचारियो की मुट्ठी मे जाता रहेगा।

हेनरी जार्ज * की भूमि के राष्ट्रीयकरण की योजना इस निष्कर्ष की यथार्थता का एक प्रबल प्रमाण है। जार्ज का प्रस्ताव है कि सारी भूमि राज्य की मान ली जाय और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के करो के स्थान पर केवल जमीन का किराया या लगान लिया जाय।

इसका परिणाम क्या होगा ? राज्य की सीमा में कृषि-दासता नही रह जायगी, अर्थात् भूमि पर राज्य का स्वत्व हो जायगा। इगलैण्ड की अपनी भूमि होगी और अमरीका की अपनी और किस व्यक्ति को कितना कर देना पडेगा यह इस बात पर निर्भर होगा कि वह कितनी भूमि का उपयोग करता है।

इससे कदाचित कुछ ग्रामीण श्रमजीवियो की स्थिति सुधर जायगी, किंतु जबतक लगान की वसूली बलपूर्वक होती रहेगी तबतक दासता बनी रहेगी। फसल नष्ट हो जाने पर बेचारा किसान बलपूर्वक मागे गए लगान को अदा करने में असमर्थ हो जायगा और तब उसे अपनी भूमि की रक्षा करने और सर्वनाश से बचने के लिए किसी धनी व्यक्ति की दासता करने पर बाध्य होना पडेगा।

यदि बालटी चूती है, तो निस्सदेह उसमें कही-न-कही छेद है। बालटी की तली पर दृष्टि डालने से दिखाई दे सकता है कि पानी कई छेदो से निकल रहा है। इन काल्पनिक छेदो को बाहर से रोकने की चाहे कितनी ही चेष्टा की जाय, पानी टपकता ही रहेगा। पानी को रोकने के लिए यह आवश्यक है कि हम बालटी के उस सूराख को ढूढ निकालें जिसमें से पानी निकलता है और उसे अन्दर से बन्द कर दे।

---

* प्रसिद्ध अमरीकी अर्थशास्त्री (१८३९–१८९७), जिसे १८७९ मे प्रकाशित अपनी 'उन्नति और निर्धनता' पुस्तक के कारण बडी ख्याति मिली। वह भूमि के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में था, यद्यपि वर्तमान जमींदारी प्रणाली को भी अक्षुण्ण रखने का समर्थक था। उसका कहना था कि भूमि के लगान पर कर लगाना चाहिए जिससे कि अन्तत. सभी अन्य प्रकार के कर हटाये जा सके। उसके मतानुसार मनुष्य द्वारा निर्मित किसी वस्तु पर कर नही लगाना चाहिए था।

यही यत्न धन के दोषपूर्ण वितरण को रोकने के लिए करना चाहिए, अर्थात् उन छेदो को वद करना चाहिए जिनमे से लोगो का धन टपक जाता है। लोग अनेक प्रकार के प्रस्ताव करते है—मजदूर-सभाए बनाओ और पूजी तथा भूमि दोनो को सार्वजनिक सम्पत्ति घोषित कर दो। ये सब युक्तिया सूराखो को केवल बाहर से वन्द करने की युक्तिया है। श्रमजीवियो के धन को टपककर काहिल-वर्गो के हाथो मे जाने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सूराख का अन्दर से पता लगाया जाय। यह सूराख है सशस्त्र मनुष्यो का नि शस्त्रो को डराना, धमकाना और सेना का वलप्रयोग करना जिसके फलस्वरूप स्वय मजदूर अपने कामो से अलग कर दिये जाते है और उनसे उनकी जमीन तथा उनकी मेहनत के फल छीन लिये जाते है। जबतक इस ससार मे एक भी ऐसा प्राणी रहेगा जो अपने को किसी भी दूसरे जीव को मार डालने का अधिकारी समझता है तबतक धन का अनियमित वितरण अर्थात दासत्व कायम रहेगा। ❀

: २२ :

अब मैं समझा

"हा, सिद्धात की दृष्टि से तो यह ठीक है, किंतु पता नही व्यवहार की दृष्टि से यह कैसा होगा ?" लोगो को वार-बार ऐसा कहते सुनकर मुझे सदा आश्चर्य होता है। मानो सिद्धात वाते करने के लिए सुन्दर शब्दमात्र हो, अनिवार्य रूप से व्यवहार मे लाए जाने अर्थात्

❀ इस पुस्तक के पूर्व सस्करणो मे यहा कुछ पृष्ठ और थे जो इस परिच्छेद के साथ-ही-साथ निष्कर्ष-रूप मे छापे गए थे। किंतु बाद मे टॉल्स्टॉय ने इन पृष्ठो को निकालकर रुपए की समस्या पर चार नए परिच्छेद लिख डाले जो इस सस्करण मे परिच्छेद १७, १८, १९ और २० के रूप मे प्रकाशित है।

हमारे समस्त कार्य-कलाप का आधार बनने योग्य नही ! निस्सन्देह इस संसार में मूर्खतापूर्ण सिद्धातों की भरमार होने के कारण ही यह विचित्र मत व्यापक रूप से स्वीकार किया गया होगा। सिद्धात वह है जो मनुष्य सोचता है और व्यवहार वह है जो मनुष्य करता है। तब यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मनुष्य सोचे एक बात और करे ठीक उसका उलटा ? यदि रोटी बनाने का सिद्धात यह है कि पहले आटा गूंधा जाय और फिर खमीर उठाने के लिए छोड दिया जाय, तो सिवा किसी पागल के ऐसा कौन-सा व्यक्ति इस सिद्धात को जाननेवाला होगा जो इसके विपरीत करेगा ? किंतु हम लोगो मे तो यह कहने का फैशन-सा चल गया है कि सिद्धातत तो यह ठीक है, किंतु पता नही व्यवहार की कसौटी पर कैसा उतरे ?

जिस काम मे मैं लगा हुआ हू उसमे अनुभव ने उसी बात की पुष्टि की जो मैं सदा उसके सम्बन्ध मे सोचा करता था, अर्थात् यह कि सारी बातें सिद्धात के अनुसार ही कार्य के रूप में परिणत होनी है। मै यह नही कहता कि कार्य से सिद्धात का औचित्य सिद्ध होता है, किंतु वह उससे भिन्न नही हो सकता। यदि मैंने किसी विषय पर विचार करने के बाद उसे अच्छी तरह से समझ लिया है तो उसे मै अपनी समझ के विपरीत नही कर सकता।

मैं निर्धनो की सहायता करना चाहता था। इसका एक मात्र कारण यह था कि मेरे पास रुपया था और दूसरे लोगो की भाति मै भी इस अधविश्वास को ठीक समझता था कि रुपया काम का प्रतीक है या साधारणत एक उचित और अच्छी वस्तु है। किंतु जब मै रुपया देने लगा तो मुझे मालूम हुआ कि मै तो उन्ही हुडियो को बाट रहा हूं जो निर्धनो के नाम लिखी गई थी और जिन्हे मैंने इकट्ठा कर रखा था। मै वही कर रहा था जो बहुत-से जमीदार किया करते थे, अर्थात् मै कुछ अनुचरो से दूसरे अनुचरो की सेवा करा रहा था। मैंने अनुभव किया कि रुपए-पैसे का चाहे कैसा भी उपयोग किया जाय, उससे चाहे कोई वस्तु खरीदी जाय चाहे वह किसीको दानस्वरूप दे दिया जाय, उसका एक ही अर्थ है—या तो हम गरीबो के नाम

हुडिया लिखकर जारी करते है या इन हुडियो को औरो को दे देते है, ताकि वे उनका रुपया गरीबो से वसूल करले। अत मुझे अपने काम की मूर्खता समझ मे आ गई। मैंने देख लिया कि मै निर्धनो से ही रुपया हडपकर निर्धनो की सहायता करना चाहता हू। मैंने यह भी देख लिया कि स्वय रुपया न केवल एक वरदान नही है, बल्कि निश्चय ही एक अभिशाप है। वह मनुष्य को सबसे बडे सुख—परिश्रम करने और अपने परिश्रम के मीठे फल का रसास्वादन करने—से वचित कर देता है। मैंने अनुभव किया कि यह सुख मै किसी दूसरे को हस्तातरित नही कर सकता, क्योकि वह स्वय मुझे प्राप्त नही है। मै श्रम नही करता और मुझे अपने श्रम का उपभोग करने का सुख प्राप्त नही है।

रुपया क्या है? ऐसे निराकार प्रश्न का विवेचन करना कुछ अर्थहीन-सा प्रतीत हो सकता है। किंतु इस विवेचन ने, जिसे मैंने केवल विवेचन के अभिप्राय से नही बल्कि अपने दुखो और जीवन के एक प्रश्न को हल करने के लिए आरम्भ किया था, मुझे इस प्रश्न का उत्तर दे दिया कि 'हम क्या करें'?

जैसे ही मेरी समझ मे आया कि धन और रुपया क्या है, वैसे ही मुझे स्पष्ट और असदिग्ध रूप से केवल अपना ही नही बल्कि दूसरो का भी कर्त्तव्य समझ मे आ गया और यह भी मालूम हो गया कि सब लोग अनिवार्यत क्या करेगे। सच तो यह है कि वही बात जो मुझे बहुत पहले से मालूम थी, अब ठीक तरह से समझ में आ गई। यह वही सत्य था जिसका प्रकाश प्राचीन काल में बुद्ध, इसैया,[1] लाओट्जे[2] और सुकरात[3] ने साधारणत समस्त मानव-जाति को दिया था और बाद मे ईसा तथा उनके पूर्ववर्ती सत जॉन-बैपटिस्ट[4] ने अत्यत स्पष्ट

---

१ हज़रत मूसा ने यहूदी लोगों में जिस धर्म का प्रचार किया था उसमे जब शिथिलता आई तो उसे दूर करने के लिए कई सतो का आविर्भाव हुआ जिन्होंने अपनी प्रभावोत्पादक वक्तृत्व-शक्ति तथा धर्मप्रियता द्वारा यहूदियो में फिर से धर्मभाव जागृत किया। इन सतो मे

और असंदिग्ध तौर पर विशेष रूप से हम ईसाइयो को दिखाया था। जनता के इस प्रश्न का कि 'हम क्या करें' जॉन बैपटिस्ट ने मुसकराते हुए सरल भाव से यह संक्षिप्त उत्तर दिया था—"जिसके पास दो कोट है, वह एक कोट उस आदमी को दे दे जिसके पास एक भी नही है, और जिसके पास भोजन है, वह भी ऐसा ही करे।" (ल्यूक, अध्याय

इसैया का विशेष स्थान था। उन्हें लोग बहुत मानते थे। जनता मे तो उनकी प्रतिष्ठा थी ही, राजा लोग भी उनका बडा सम्मान करते थे।

२ ईसा से ५०० वर्ष पूर्व इस महान् ज्ञानी तथा योगी का चीन देश में जन्म हुआ। उनका उपदेश तोओ के सिद्धात के नाम से प्रसिद्ध है। तोओ का अर्थ है ब्रह्म अर्थात प्रकृति मे समाया हुआ गूढ तत्व। इसका एक अर्थ मार्ग भी है।

लाओट्ज़े का कहना था कि जिसने तोओ का साक्षात्कार किया है वह सब प्रकार के विधि-निषेधो को पार करके सदा आत्मतुष्ट की भाति निर्द्वन्द्व और निर्लेप होकर रहता है। यह वेदान्त के निवृत्ति-मार्गी सिद्धात से मिलता जुलता है।

३ यूनान का विश्वविदित दार्शनिक तथा तार्किक (४६९–३९९ ईसा पूर्व)। सुकरात की तर्कशैली बडी प्रभावशाली थी, प्रश्न पर प्रश्न करके वह प्रतिपक्षी से अपने मन की बात कहला लेते थे। इसीलिए लोग कहते थे कि यह तो जादू कर देता है।

सुकरात पर नवयुवको को बहकाने और देवी-देवताओ को गाली देने का आरोप लगाकर एक बडा लम्बा मुकदमा चलाया गया था और उन्हे मृत्यु-दण्ड दिया गया था। किंतु फासी पर लटकाए जाने से पूर्व ही सुकरात ने विष-पान करके अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी थी।

४ ईसा मसीह से कुछ समय पहले इस आचार्य का कार्य-काल था। जिन यहूदियो ने उनके उपदेश को ग्रहण किया उन्हे जॉन ने जोर्डन नदी में स्नान कराके दीक्षा दी, इसीलिए इस दीक्षा (बपतिस्मा) के कारण उनका नाम जान दी बैपटिस्ट प्रसिद्ध हुआ। ईसा के जन्म से २८ वर्ष पूर्व वह फासी पर लटकाकर मार डाले गए।

तीन, पद १०, ११)। यही बात ईसा ने अनेक बार और भी स्पष्ट रूप से कही थी। उनका कहना था—"गरीब धन्य है और उन्हें धिक्कार है जो अमीर है। उन्होने यह भी कहा था—"तुम ब्रह्म और माया दोनो की उपासना नही कर सकते।" ईसा ने अपने शिष्यो को केवल पैसा न लेने के लिए ही नही कहा था बल्कि दो कोट तक न रखने का आदेश दिया था। उन्होने धनी युवको से कहा था कि क्योकि तुम अमीर हो, तुम खुदा के दरबार में नही पहुच सकते। सूई के नकुए में से होकर ऊट का निकल जाना उतना कठिन नही जितना धनवान का ईश्वर के दरबार मे पहुचना। ईसा ने तो घोषणा कर दी थी कि जो लोग उनका अनुसरण करने के लिए, घर-बार बाल-बच्चे, खेती-बारी, सब कुछ त्यागने के लिए तैयार नही होगे उन्हे वह अपना शिष्य नही मानेगे। उन्होने उस धनी का उदाहरण सुनाया जिसने अन्य धनियो के समान शान से खाने-पीने और पहनने के अलावा और कोई पाप नही किया था, किंतु जिसने इन्ही बातो के कारण अपनी आत्मा कलुषित कर ली थी। साथ-ही-साथ ईसा ने लैज़ेरस* नामक कगाल की भी कथा सुनाई थी जिसने कोई अच्छा काम तो नही किया था किंतु जिसका त्राण केवल इसलिए हो गया कि वह कगाल था।

---

* लैंजेरस यह एक गरीब फकीर था, जिसके शरीर मे कुष्ठ के घाव थे। वह एक अमीर आदमी के द्वार पर खडा रहता था। कुत्ते आकर उसके घाव को चाटते। वह अमीर बडी शान से रहता, खूब खाना-पीता और मौज करता। लैज़ेरस उसके जूठे टुकडे खाकर ही किसी तरह गुज़ारा करता था। किंतु जब वह मरा तो हजरत इब्राहीम ने प्रेमपूर्वक उसे अपनी गोद मे लिटा लिया। वह धनी मरने पर कब्र में दफना दिया गया और उसे नरक मिला। जब उसकी आख खुली तब वह असह्य नारकीय पीडा से व्यथित हो उठा और देखा कि वह नाचीज गरीब लैज़ेरस—जो उसके द्वार पर पडा रहता और उसकी जूठन खाकर जीता था—आनन्द से इब्राहीम की गोद मे लेटा हुआ है। उसने चिल्लाकर कहा—"पिता! दया करके ज़रा लैंज़ेरस को भेज दो, ताकि वह मेरे मुह में पानी

इस सत्य से मैं पहले से ही भली-भाति परिचित था, किन्तु ससार की झूठी शिक्षा ने उसे इतना आच्छादित कर दिया था कि वह एक सिद्धांत मात्र रह गया था या, जैसा कि लोग सिद्धात का अर्थ लगाते हैं, वह कोरा शब्दाडम्बर मात्र रह गया था। किंतु जैसे ही मैंने अपने मन पर से सासारिक शिक्षा के आडवरो का अवगुठन हटाया, वैसे ही सिद्धात व्यवहारिकता में घुल-मिल गया और उसके फलस्वरूप मेरे तथा सभी मानवो के जीवन की यथार्थता मेरी आखो के सामने नाच उठी।

मेरी समझ मे आ गया कि मनुष्य को केवल अपने ही कल्याण के लिए नही, वल्कि दूसरो के कल्याण के लिए भी उद्योगशील होना चाहिए और यदि हमे पशु-जीवन से ही दृष्टात लेना हो, जैसा कि वहुत-से लोगो को हिंसा और सघर्ष की सफाई देते समय पशु-समाज के जीवन-सघर्ष का उदाहरण देने का शौक है, तो हमें मधुमक्खी-जैसे सामाजिक जतुओ के जीवन से आदर्श ग्रहण करना चाहिए। मेरी समझ में यह भी आ गया कि विवेक और जन्मजात वधुत्व की वात तो अलग रही, मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा है कि वह दूसरो की सेवा करे और मानव-जाति के सामुदायिक हित के लिए उद्योग करे। यही मनुष्य का प्राकृतिक नियम है और इसका पालन करके ही वह अपने जीवनोद्देश्य को प्राप्त कर सुखी हो सकता है। मेरी यह भी समझ मे

की दो वूदे डाल जाय। मै तो इस आग मे झुलसा जाता हू।" पर इब्राहीम ने कहा—"पुत्र! यह नही हो सकता। तूने अपने जीवन मे आनन्द किया और यह यहा आनन्द कर रहा है। दूसरे, हमारे वीच मे एक वडा खड्डा है, जिसे पार करके कोई आ-जा नही सकता।" उस धनिक ने तव प्रार्थना की कि लैजेरस को दुनिया में उसके वाप के घर भेज दिया जाय, ताकि उसके जो चार भाई है वे सवक सीखें और इस यातना से वचें। इब्राहीम ने उत्तर दिया कि दुनिया मे हजरत मूसा और अन्य पैगम्वर है। जो लोग उनकी वातें नही सुनेगे, वे मरकर फिर जिन्दा हो जानेवाले लैजेरस की वात की भी पर्वाह न करेंगे।

आगया कि इस नियम का उल्लघन हुआ है और अब भी होता है। लुटेरी मधु-मक्खियो की भाति कुछ लोग अपने बल का दुरुपयोग करके स्वय तो काम से बच कर दूसरो के श्रम का शोपण करते है और अपनी चेष्टा सामुहिक हित-साधन में न लगाकर अपनी निरतर बढती हुई वासनाओ को तृप्त करने मे लगाते है और फिर लुटेरी मधुमक्खियो के समान ही उन वासनाओ के फल-स्वरूप मर मिटते है। मै समझ गया कि मनुष्य के दुर्भाग्य का कारण वह दासता है जिसमे कुछ लोग दूसरो को बाधे रहते है। मे यह भी समझ गया कि हमारे युग की दासता के तीन कारण है—सैनिक हिसा, भूमि की जब्ती और रुपए का हडपा जाना। नवीन दासता के इन तीनो शस्त्रो का अर्थ समझ जाने के बाद यह अनिवार्य था कि मै उससे मुक्त रहने की इच्छा करता।

मेरी अधीनता मे बहुत से दास थे। किंतु जब मुझे इस स्थिति की अनैतिकता का ज्ञान हुआ तब मैने प्रकाश मे आये हुए अन्य व्यक्तियो की तरह उसमे से निकलने की चेष्टा की। स्वामित्व के अपने अधिकार को अनैतिक समझकर मैने यह निर्णय किया कि जबतक मै इन अधिकारो का पूर्ण रूप से त्याग न कर लूगा, तबतक इन अधिकारो का कम-से-कम उपभोग करूगा और दूसरो को इस प्रकार जीवन व्यतीत करने दूगा मानो मुझ ये अधिकार प्राप्त ही नही है। साथ-ही-साथ मैने दूसरे स्वामियो के मन मे भी यह धारणा बैठाने की सब तरह से चेष्टा की कि हमारे ये काल्पनिक अधिकार पाप और अमानुषिकता से भरे हुए है। स्वभावत आजकल की दासता के सम्बन्ध मे भी मै यही कह सकता हू। जबतक मै उन समस्त अधिकारो का पूर्ण रूप से परित्याग न कर दू, जो मुझे रुपया और भूमि का स्वत्वाधिकारी होने के नाते मिले है और जो सैनिक बल-प्रयोग के सहारे टिके हुए है, तबतक मेरे लिए एक यही रास्ता है कि मै अपने अधिकारो का कम-से-कम उपभोग करूं और साथ-ही-साथ इन कृत्रिम अधिकारो की अवैधता और अमानुषिकता को यथासम्भव दूसरो को समझाने की चेष्टा करूं। दासो की दासता में स्वामी के भागीदार होने का क्या अर्थ है ?

यही कि वह दूसरो के श्रम का उपभोग करता है, चाहे ऐसा करने का आधार उसके दासता सम्बन्धी अधिकार हो चाहे उसके जमीन और रुपए सम्बन्धी अधिकार ।

इसलिए यदि कोई व्यक्ति वस्तुत दासता को नापसद करता है और उसमें भागीदार होना नही चाहता, तो सबसे पहले उसे यह करना चाहिए कि वह दूसरो के श्रम का किसी प्रकार भी उपभोग न करे—न तो जमीन पर अधिकार करके, न सरकारी नौकरी के द्वारा और न रुपयो के द्वारा। इस प्रकार यदि कोई व्यक्ति दूसरों के श्रम-शोषण की प्रचलित युक्तियो का परित्याग कर दे तो उसके लिए यह अनिवार्य हो जाएगा कि एक ओर तो वह अपनी आवश्यकताए कम करे और दूसरी ओर स्वय उन कामो को करने लगे जो पहले दूसरे लोग उसके लिए किया करते थे ।

यह सरल और अनिवार्य निष्कर्ष मेरे जीवन के एक-एक कार्य मे व्याप्त हो गया और उसने मेरे जीवन मे तत्काल परिवर्तन करके मुझे उन नैतिक यातनाओ से मुक्त कर दिया जिनका अनुभव मुझे लोगो का दु ख और दुराचार देखकर हुआ था। इसके अतिरिक्त उसने तीनो कारणो को, जिन्होने मेरे लिए निर्धनो की सहायता करना असम्भव कर दिया था और जिनका ज्ञान मुझे अपनी असफलता का हेतु ढूढते समय हुआ था, निर्मूल कर दिया ।

पहला कारण यह था कि लोग शहरो मे ही खचाखच भर गए थे और गावो का धन नगरो में खप रहा था। यदि हममें सरकारी नौकरी, जमीदारी या रुपए द्वारा दूसरे के श्रम का शोषण न करने की इच्छा भर उत्पन्न हो जाय और उसके फलस्वरूप यदि हममे अपनी आवश्यकता को अपनी ही पूरी शक्ति और योग्यता से पूर्ण करने की अभिलाषा भर जाग उठे तो कभी हमारे मस्तिष्क मे गावो को छोड़कर—जहा हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति सबसे सरलतापूर्वक हो सकती है—उन शहरो में जाने का विचार ही न उठे जहां प्रत्येक वस्तु किसी दूसरे के श्रम का प्रतिफल होती है और जहा सारे पदार्थ खरीदने पडते हैं। यदि ऐसा हो तो हम गावो मे जरूरतमंदो की सहायता करने में समर्थ हो

सकते है और वहा हमे उस बेबसी की भावना का अनुभव नही करना पड़ेगा जिसका मुझे शहर मे अपने नही बल्कि दूसरो के श्रम से निर्धनो की सहायता करते समय अनुभव हुआ था।

दूसरा कारण था धनवानो का कगालो से अलग होना। यदि हम सरकारी नौकरी, जमीदारी या रुपए द्वारा दूसरो के श्रम का शोषण करने की इच्छा न करे तो इतने से ही हम अपनी आवश्यकताए आप पूर्ण करने के लिए विवश हो जायगे और हमको श्रमजीवियो से विलग करनेवाली दीवाल आप-से-आप हट जायगी। तब हम मजदूरो के साथ घुलमिल कर उनके कधे-से-कधा मिलाकर चलेगे, जिसके फलस्वरूप उसकी सहायता करना हमारे लिए सम्भव हो जायगा।

तीसरा कारण था वह लज्जा-भाव जिसका प्रादुर्भाव मेरी इस चेतना के फलस्वरूप हुआ था कि जिस पैसे से मै दूसरो की सहायता करना चाहता हू उसका अधिपति बनना मेरे लिए पाप है। सरकारी नौकरी, जमीदारी या रुपए द्वारा दूसरो के श्रम-शोपण की इच्छा को त्यागने भर की देर है, फिर देखिएगा कि हमारे पास अलंकार उत्पन्न करनेवाला वह फालतू धन रहेगा ही नही जिसको मेरे पास देखकर बे-पैसेवाले लोग मेरे सामने ऐसी मागें उपस्थित करने लगे थे जिनको पूर्ण करने मे मैं असमर्थ था और जिनके फलस्वरूप मुझमे अपनी भूल की अनुभूति जागृत हुई थी।

: २३ :

दूसरों के श्रम का शोषण क्यों ?

मैंने देखा कि मनुष्य के दु ख और पतन का कारण यही है कि कुछ लोग दूसरो के दासता-पाश मे बधे हुए है। स्वभावत मैं इस सरल निष्कर्ष पर पहुचा कि यदि दूसरो की सहायता करना मुझे अभीष्ट है तो सबसे पहले मुझे चाहिए कि जिन दु खो को मैं दूर करना चाहता हू, भविष्य मे उनकी पुनरावृत्ति का कारण न बनू, अर्थात् मानव को दास बनाने की क्रिया मे भाग न लू। किंतु इस क्रिया की ओर मेरे आकर्षित

होने का कारण यह था कि बचपन से ही मुझे स्वय अपने हाथो से काम न कर दूसरो के श्रम का उपयोग करने का अभ्यास पड गया था और मै ऐसे समाज मे रहता आया था और अब भी रहता हूं जो इस क्रिया का केवल अभ्यस्त ही नही हो गया है बल्कि जो उसको हर प्रकार के धूर्ततापूर्ण और भद्दे मिथ्याडम्बरो द्वारा उचित ठहराता है। अत मैं इस सीधे-सादे नतीजे पर पहुचा कि लोगो का दुख और पतन से त्राण करने के लिए मेरे लिए आवश्यक है कि मै दूसरो के श्रम का कम-से-कम उपभोग करू और स्वयं यथाशक्ति अधिक-से-"धिक कार्य करू। लम्बा चक्कर काटने के बाद मैं अन्तत उसी अनिवार्य निष्कर्ष पर पहुंचा जिसको हजारो वर्ष पहले चीनियो ने इस कहावत में व्यक्त किया था—"यदि इस ससार में कोई एक व्यक्ति आलसी है तो निश्चय ही उसके परिणाम-स्वरूप कोई दूसरा आदमी भूखा मरता होगा।" मैं इस सरल और स्वाभाविक परिणाम पर पहुंचा कि जिस थके हुए घोडे की पीठ पर मैं सवार हू उसके प्रति यदि मुझे सहानुभूति है और उसकी इस दशा के लिए मुझे वस्तुत खेद है तो मेरा सबसे पहला कर्तव्य यह होना चाहिए कि मैं उसकी पीठ पर से उतर पडू और स्वयं अपने पैरो मे चलने लगू।

यह उत्तर—जिससे हमारी नैतिक भावनाओ को पूर्ण सतुष्टि मिलती है—मेरी आखो के सामने स्पष्ट रूप से खडा था। वस्तुत वह प्रत्येक व्यक्ति को बिलकुल साफ दिखाई देता रहता है, किंतु हम उसे देखकर भी नही देखते और इधर-उधर भटकते फिरते है।

अपनी सामाजिक व्याधियो के उपचार के लिए हम चारो ओर दृष्टि दौडाते है, सरकारी, सरकार-विरोधी, वैज्ञानिक और परोपकारी अधविश्वासो की दिशाओ मे देखने है, किंतु जो वस्तु सबकी आखो के सामने है उसे नही देखते।

हम लोग बद कमरो मे मल-त्याग करते है और चाहते है कि दूसरे लोग उन्हे साफ करे। फिर भी हम यह ढोग रचते है कि हमे उनके लिए दुख है और हम उनका काम आसान बनाना चाहते है। इतना ही नही इसके लिए हम नाना प्रकार की युक्तिया भी निकालते है;

किंतु जो सबसे सरल उपाय है उसे नही करते; अर्थात् हम यह नही करते कि यदि हमे घर के भीतर ही मल-त्याग करना है तो हम उसे साफ करके स्वय बाहर पहुचा दे या निवृत्त ही बाहर जाकर हो।

जिसे अपने आस-पास के लोगो को देखकर सचमुच दुःख होता है, उसके लिए एक बडी स्पष्ट, सरल और सीधी युक्ति है, और यही एक-मात्र युक्ति है जिसकी सहायता से वह ससार मे फैले हुए दुःख-दारिद्रय को दूर कर सकता है और मन-ही-मन यह सतुष्टि अनुभव कर सकता है कि वह नैतिक रूप से जीवनयापन कर रहा है। यह वही युक्ति है जो जॉन बैपटिस्ट ने हमें 'हम क्या करे' प्रश्न के उत्तर मे बतलाया था और बाद को ईसा ने भी जिसका समर्थन किया था—एक से अधिक कोट अपने पास मत रखो और रुपए पैसे को तो अपने निकट फटकने तक न दो, अर्थात दूसरो के परिश्रम से लाभ न उठाओ और इसलिए सबसे पहले जितना भी हो सके अपने-आप काम करो।

कितनी सरल और स्पष्ट बात हैं यह! किंतु यह सरल और स्पष्ट तभी है जब हमारी आवश्यकताए भी सरल और स्पष्ट हो, जब हम स्वस्थ हो और सुस्ती तथा काहिली ने भीतर-ही-भीतर हमे बिलकुल चाट न लिया हो। मै गाव मे रहता हू, भाड की छत* पर पड़ा रहता हू और अपने पडोसी को, जिसपर मेरा कुछ कर्ज है, आदेश देता हू—"लकडी काटकर लाओ और भाड मे आग जलाओ।" यह स्पष्ट है कि मै काहिल हू और अपने पडोसी को उसके अपने काम से हटा रहा हू। इसलिए अतत मुझे लज्जा आयगी और इस प्रकार निरतर पड़े-पडे मै उकता जाऊगा और यदि मेरे पुट्ठो मे दम होगा तथा मुझे काम करने की आदत होगी तो मै स्वय जाऊगा और लकडी काट लाऊंगा।

किंतु विविध प्रकार की दासता का प्रलोभन बहुत दिनो से चला आ रहा है और उसके कारण अनेक कृत्रिम आवश्यकताए उठ खड़ी हुई हैं।

---

* रूसी किसानो के झोपडो में ईंट की भाड़ इस तरह बनाई जाती है कि उससे झोपडा भी गरम रहे और वह खाना बनाने का भी काम दे। उसकी चौरस छत पर सोने मे बडा आराम मिलता है।

जो लोग न्यूनाधिक मात्रा में इन आवश्यकताओ के अभ्यस्त है उनका परस्पर सम्बन्ध घनिष्ठ हो गया है और पीढियो से विगडते-विगडते लोग कुठित हो गए है। इसके अतिरिक्त लोगो के सामने बडे जटिल प्रलोभन है और विलासिता तथा आलस्य के पक्ष-समर्थन में बडी-बडी बातें ढूंढ निकाली गई है। इन सब वातो का परिणाम यह हुआ है कि जो मनुष्य आलसी व्यक्तियो से लदी हुई सीढी के सबसे ऊपरवाले डडे पर है उसके लिए अपने पाप को समझना उतना सरल नही जितना कि अपने पडोसी को भाड गरम करने की आज्ञा देनेवाले किसान के लिए है।

जो लोग सबसे ऊपरवाली सीढी पर होते है उनके लिए यह समझना बडा कठिन होता है कि उनका कर्त्तव्य क्या है। आलस्य की इस सीढी पर ऊंचे खडे होकर जब वे नीचे उस स्थान की ओर देखते है जहा जीवनयापन के लिए उन्हे उतरना अनिवार्य है—यह जीवन पूर्णत. अच्छा भले ही न हो, फिर भी वह विलकुल अमानुषिक नही होता—तो ऊचाई के कारण उनका मस्तिष्क चकरा जाता है और इसीलिए यह साधारण तथा स्पप्ट सत्य उनको विचित्र प्रतीत होता है।

जिस आदमी के पास दस नौकर, वर्दीदार चपरासी, साईस, रसोइया, चित्र तथा पियानो है उसे यह वात सचमुच विचित्र ही नही हास्यास्पद भी मालूम होगी कि प्रत्येक मनुष्य का यह सरलतम और सर्वप्रथम कर्त्तव्य है कि वह अपना भोजन बनाने और अपने को गरम रखने के लिए लकडी खुद काटे, अपने जूते और पैतावे, जिन्हे पहने-पहने ही वह लापरवाही के कारण धूल मे चला गया है, स्वय साफ करे; अपनी शारीरिक सफाई के लिए पानी स्वय लाए और सफाई कर चुकने के बाद गदे पानी को स्वय ही फेक भी आए। यहा मनुष्य से मेरा अभिप्राय किसी विशेष सत्पुरुष से नही, वल्कि ऐसे व्यक्ति से है जो मनुष्य भर है और जानवर नही है।

सत्य से दूर रहने के अतिरिक्त एक और भी कारण है जो मनुष्य को यह नही समझने देता कि जो कार्य मानवमात्र का सबसे सरल और सबसे अधिक स्वाभाविक कार्य है, उसे करना उसके लिए अनिवार्य

है। वह कारण है धनी मनुष्य के जीवन की जटिलता और उसके चारों तरफ रहनेवाले लोगो के परस्पर सम्वन्वित स्वार्थ।

आज सवेरे मै उस दालान मे गया जहा अगीठिया जलाई जाती है। एक किसान उस अगीठी को जला रहा था जिससे मेरे लडके का कमरा गरम रहता है। मैं लडके के कमरे में गया; वह तव भी सो रहा था। ग्यारह वज चुके थे और छूट्टी का दिन था। इसलिए वहाना वनाया जा सकता था कि पढाई तो करनी नही है।

अट्ठारह साल का एक मोटे शरीरवाला छोकरा, जिसके डाढी निकल आई थी और जिसने पिछली रात खूव डटकर खाना खाया था, ग्यारह वजे तक पडा सो रहा था। किंतु उसीकी उम्र का एक किसान सवेरे ही उठ वैठा था। अवतक वह वहुत-सा काम निवटा चुका था और इस समय दसवी अगीठी सुलगा रहा था, जवकि मेरा लडका पडा सो रहा था। मेरे मन में विचार आया—"कितना अच्छा हो यदि इस किसान से उस हट्टे-कट्टे काहिल शरीर को गरमी पहुचने के लिए अंगीठी न जलवाई जाय। किंतु तत्काल मुझे याद आया कि इस अगीठी से रसोई वनानेवाली स्त्री का कमरा भी तो गरम होता है। उसकी आयु चालीस वर्ष की थी और रात को मेरे लडके ने जो खाना खाया था उसे तयार करने और फिर तश्तरियो को हटाने आदि मे वह सवेरे तीन वजे तक लगी रही थी। फिर भी वह सवेरे सात वजे उठ वैठी थी। वह अपने लिए अगीठी नही जला सकी थी, क्योंकि उसके पास समय ही नही था। किसान उसके लिए भी अगीठी जला रहा था और उसके कारण उस काहिल लडके को भी गरमी मिल रही थी।

यह सच है कि सव लोगों के हित एक दूसरे से वध होते है, किंतु थोड़े-से प्रयत्न से ही प्रत्येक व्यक्ति का अन्त करण यह वता देता है कि कौन मेहनत करता है और कौन आलसी है। यह वात केवल अन्त करण ही नही वतलाता, इसका सवसे स्पष्ट ज्ञान हमारी वहियो से होता है। मनुष्य जितना अधिक व्यय करता है, उतना ही अधिक वह दूसरो को अपने लिए कार्य करने को विवश करता है। इसके विपरीत, वह जितना कम खर्च करता है उतना ही अधिक वह स्वय अपने हाथ पैर चलाता है।

तो फिर उद्योग, सार्वजनिक हित के कार्यो और इन सबसे भयकर वस्तु, सस्कृति—कला तथा विज्ञान—के विकास का क्या होगा ?

: २४ :

दूसरों के रक्त से सनी हमारी रंगरलियां

पिछले साल* मार्च के महीने मे मै एक दिन सध्या समय कुछ देर से लौट रहा था। जूबोव-सडक से खामोवनोकी गली में मुड़ते हुए मुझे वर्जिन्स मैदान के बर्फ पर कुछ चलती-फिरती काली-काली परिछाइया दिखलाई दी। उस ओर मेरा ध्यान जाता भी नही, यदि गली के किनारे खडे हुए सिपाही ने उन परछाइयो की ओर देखते हुए चिल्लाकर न कहा होता—

"वासिली ! तू उसे लाता क्यो नही ?"

"वह नही आती", उस ओर से एक आवाज आई और इसके बाद काली परछाइया पुलिसवाले की ओर आने लगी।

मैंने रुककर पुलिसवाले से पूछा कि क्या बात है ? उसने उत्तर दिया—रज्हानोफ भवन से बदमाश लडकिया पकडकर लाए है और उन्हें थाने लिये जा रहे है। यह लडकी पीछे रह गई है, देखिए चलने का नाम ही नही लेती।"

भेड़ की खाल का कोट पहने एक चौकीदार उस लडकी को ला रहा था। वह आगे-आगे चल रही थी और चौकीदार उसे पीछे से ढकेल रहा था। हम सब—चौकीदार, पुलिसमैन और मै—गरम कपडे पहने हुए थे, किंतु उस लडकी के शरीर पर एक लम्बा फ्रॉक भर था। अंधेरे मे मै इतना ही मालूम कर सका कि उसका फ्रॉक बादामी रग का था और उसने अपने सिर तथा गर्दन पर एक रूमाल लपेट रखा था। वह नाटी थी, जैसेकि भुक्खड लोग होते है। उसकी

* अर्थात् सन् १८८४।

टागे छोटी थी और उसका शरीर बेडौल तरीके पर चौडा और भद्दा था।

पुलिसमैन ने चिल्लाकर कहा—"अरी, ओ शैतान की बच्ची! तेरे लिए क्या हम यहा रात भर खड़े रहेंगे ? बढ़ती है आगे, या बताऊ तुझे ?

उसकी बात से साफ मालूम पड रहा था कि वह थका हुआ है और उस स्त्री के मट्ठड़पन के कारण अधीर हो उठा है। स्त्री कुछ कदम आगे चली और फिर रुक गई। बूढा चौकीदार, जो एक अच्छा आदमी है और जिसे मै जानता हू, उसकी बाह पकडकर खीचता हुआ बोला—"फिर रुकी तू! अभी बताता हू कि रुकना किसे कहते है। बढ़ आगे!"

उसने क्रोध का-सा भाव दिखलाया, जिसपर वह स्त्री लड़खड़ाई और कर्कश स्वर मे बड़बड़ाने लगी। उसका स्वर बनावटी और फटे बास-जैसा था।

वह बोली—"धक्के क्यो देते हो ? चल तो रही हू।"

"सर्दी से ठिठुरकर मर जायगी," चौकीदार ने कहा।

"हम-जैसो को ठड नही सताती। मेरे अंदर बहुत-सा गरम-गरम खून है।"

उसने यह बात हसी में कही थी; किंतु लगी गाली-सी। हमारे घर के फाटक से थोडी ही दूर लैम्प के खम्भे के पास वह फिर रुकी और आगन की लकडीवाली चहारदीवारी का सहारा लेकर झुकी—झुकी ही क्यो, लगभग गिर पडी—और अपनी गदी ठडी अंगुलियो से जेबो मे कुछ टटोलने लगी। चौकीदार उसपर फिर गुर्राए; किंतु वह थोडी-सी बडबडाई भर और जेबे टटोलती रही। एक हाथ से उसने एक सिगरेट निकाली, जो मेहराब की तरह झुक गई थी और दूसरे हाथ से दियासलाई। मुझे उसके पास जाने मे लज्जा मालूम हुई; इसलिए मै रुक गया। किंतु खडे होकर तमाशा देखते रहने मे भी लज्जा मालूम देती थी। अत मे दृढ निश्चय करके मै उसके पास गया। वह लकड़ी की चहारदीवारी से कधा टेके झुकी खडी थी और

उसपर-रगड़-रगड कर दियासलाई की तीलियो को जलाने की चेष्टा कर रही थी और जब वे नही जलती थी तो उन्हें उठाकर फेंक देती थी। मैंने उसके चेहरे पर दृष्टि डाली। उसे निस्संदेह पेट भर खाना मयस्सर नही होता था; किंतु ऐसा लगता था कि वह जवानी पार कर चुकी है। मेरी आखो मे वह तीस साल की जंची। उसका चेहरा मटमैले रंग का था और उसकी आखें छोटी, धुधली और शराबियो-जैसी थी। उसकी नाक गाठदार और होठ टेढे थे, जिनके कोने से लार बह रही थी। उसके रूमाल से सूखे वालो का एक छोटा गुच्छा लटक रहा था। उसका शरीर लम्बा और चपटा था और उसके हाथ-पैर छोटे थे। मै उसके सामने खडा हो गया। मेरी ओर देखकर वह इस प्रकार मुसकराई मानो कहना चाहती थी—"मुझे पता है कि तुम क्या सोच रहे हो।"

मुझे ऐसा लगा कि मुझे उससे कुछ कहना है और मैंने यह दिखलाना चाहा कि मुझे उसपर दया आती है।

"क्या तुम्हारे मा-बाप जिन्दा है ?" मैंने पूछा।

वह एक कर्कश हसी हंसी, फिर एकाएक रुक गई और अपनी भौहें तानकर मेरी ओर देखने लगी।

"तुम्हारे मा-बाप जिन्दा है ?" मैंने फिर पूछा।

वह कुछ ऐसे भाव से मुसकराई मानो कहना चाहती हो—"आपको भी क्या अजीव सवाल पूछने को मिला है!"

"मेरी मा है, लेकिन तुम्हे इससे क्या ?" वह वोली।

"तुम्हारी उम्र कितनी होगी ?"

"पन्द्रह से कुछ ऊपर," उसने तत्परता से कहा। स्पष्टत: वह इस प्रश्न का उत्तर देने की अभ्यस्त हो गई थी।

"चल, चल; तेरे साथ हम यहा ठंड में अकड जायगे, तेरा नाश हो," पुलिसवाले ने चिल्लाकर कहा और स्त्री चहारदीवारी को छोडकर लडखडाती हुई आगे वढी और झूमती-झामती खामोवनीकी सडक के रास्ते थाने की ओर चल दी। मै फाटक पर से लौट आया और अदर पहुंचकर मैंने पूछा कि मेरी लडकिया बाहर से लौट आई या नही।

पता चला कि वे एक पार्टी मे गई थी और वहा उन्होने छककर मौज उडाई थी। वे वापस आगई थी और सो रही थी।

दूसरे दिन सवेरे मैं कोतवाली जाना चाहता था, ताकि वहा जाकर मालूम करू कि पुलिसवालो ने उस बेचारी औरत के साथ क्या किया। मैं तडके ही तैयार हो गया और जानेवाला ही था कि एक आदमी* मिलने आ गया। वह उच्च वर्ग के उन अभागो मे से था जो अपनी दुर्वलताओ के कारण अच्छी अवस्था से गिरकर गरीबी मे फस जाते है और जिनकी अवस्था कभी सुधरती और कभी बिगडती रहती है। उसे मैं तीन वर्ष से जानता था। इस बीच वह कई बार अपना सब कुछ, यहा तक कि तन के कपडे भी, गिरवी रख चुका था। अभी कुछ ही दिन पहले भी उसको ऐसा करने के लिए बाध्य होना पडा था और उन दिनो वह रात रज्हानोफ भवन की किसी कोठरी मे काटता था और दिन मे मेरे यहा काम करता था। मै बाहर निकला ही था कि वह आ धमका और मेरी बात सुने बिना ही बताने लगा कि पिछली रात रज्हानोफ-भवन में उसके साथ क्या बीती थी। अभी बात आधी भी नही हो पाई थी कि वह बूढा, जो अपने जीवन के सब उतार-चढाव देख चुका था, फूट-फूटकर रोने लगा और दीवाल की ओर मुह करके खडा हो गया। उसने जो बात कही वह बिलकुल सत्य थी। बाद मे मैंने स्वय रज्हानोफ-भवन जाकर इसकी जाच-पडताल की और वहा मुझे कई नई बाते मालूम हुईं, जिनको मैं उसकी बताई हुई गाथा के ही साथ जोड दूगा। उसने जो कहानी सुनाई वह इस प्रकार थी—

"उस सराय के निचले हिस्से के ३२ नम्बर के कमरे मे, जहा मेरा मित्र सोया करता था, बहुत-से स्त्री-पुरुष अस्थायी रूप से रहा करते थे। वे पाच कोपेक पर एक-दूसरे के साथ सो जाया करते थे। उनमे एक धोबिन भी थी जिसकी आयु लगभग ३० वर्ष की थी। उसके बाल

---

* यह आदमी ए पी. इवानोफ था, जो बीच-बीच में कई वर्ष तक टॉलसटॉय के यहा नकलनवीस का काम कर चुका था।

हलके भूरे रग के थे और वह शात तथा अच्छे आचार-व्यवहार की थी, किंतु बीमार मालूम पडती थी। उस कमरे की मालकिन एक मल्लाह की रखैल थी। गरमियो मे उसका प्रेमी नाव चलाया करता था और सर्दियो में वे यात्रियो को रात भर के लिए एक खाट ३ कोपेक में बिना तकिए के और ५ कोपेक में मय तकिए के किराए पर उठाकर अपनी जीविका चलाते थे। धोबिन को वहा रहते कई महीने हो गए थे और वह शात स्वभाव की थी। किंतु पिछले कुछ दिनो से लोग उसे नापसन्द करने लगे थे; क्योंकि उसकी खासी के कारण लोग सो नही पाते थे। विशेष रूप से अस्सी वर्ष की एक सनकी-सी बुढिया को, जो वहा स्थायी रूप से रहा करती थी, उस धोबिन के प्रति बडी अश्रद्धा हो गई थी और वह उससे नीद मे विघ्न डालने तथा रात भर भेड की तरह खासते रहने के लिए बराबर लडती-झगड़ती रहती थी। धोबिन चुप रहती थी। उसपर मकान का किराया चढ गया था और वह अपने को दोषी समझती थी, इसलिए बेचारी को चुप रहना पडता था। वह दिन-पर-दिन कमजोर होती जा रही थी और काम पर कम जा पाती थी, इसीलिए वह मकान-मालकिन का किराया नही दे सकी थी। पिछले सप्ताह वह काम पर बिलकुल नही जा पाई थी और उसकी खासी से सब लोग तग आ गए थे, विशेष रूप से वह बुढिया जो स्वय काम पर नही जाती थी। चार दिन हुए मालकिन ने उससे मकान खाली करने को कह दिया था। ६० कोपेक* उसपर पहले से ही उधार थे, जो उसने अभी नही दिये थे और जिनके मिलने की आशा भी नही रह गई थी। सोने के सारे तख्ते घिरे हुए थे और दूसरे किरायेदार धोबिन की खासी की शिकायत करते थे।

मालकिन ने जब धोबिन से कहा कि या तो बाकी किराया दे दे या यहा से चलती बन, तो बुढिया बडी प्रसन्न हुई और उसने धोबिन को आंगन मे ला खडा किया। धोबिन चली गई, किंतु घटे भर बाद वापस आ गई और मालकिन उसे फिर से निकाल बाहर करने

---

* लगभग १३ आने।

की निर्दयता न दिखा सकी। दो दिन तो धोबिन वही रही और बरावर गिडगिड़ाती रही—"मैं कहा जाऊ ?" लेकिन तीसरे दिन मालकिन का प्रेमी, जो मास्को का रहनेवाला था और शहरो के कायदे-कानून जानता था, पुलिस को बुला लाया। तलवार और लाल डोरी मे वधी पिस्तौल से लैस एक पुलिसवाला सराय मे आया और उसने शाति और सभ्यता के साथ धोबिन को निकाल वाहर किया।

वह मार्च का महीना था। दिन साफ था और सूर्य चमक रहा था, किंतु पाला पड रहा था। वर्फ गल-गलकर नालियो मे वह रहा था और चौकीदार लोग सडको पर जमे हुए वर्फ को तोड रहे थे। वर्फ पर चलनेवाली बिना पहियो की गाडिया कडे वर्फ से टकराकर झटके खाती थी और कभी-कभी नगे पत्थरो से लग जाने के कारण उनमें से उल्लू के बोलने की-सी आवाज होती थी। धोबिन ढाल के उस ओर गई जहां धूप फैली हुई थी और गिरजाघर पहुचकर उसके वरामदे मे धूप में बैठ गई। किंतु जब सूर्य मकान के पीछे डूबने लगा और गडहियो में फिर बर्फ जमने लगा तो वह ठढ के मारे घवराई। वह उठी और मानो अपने शरीर के वोझ को खीचती हुई आगे वढी। परन्तु किस ओर ? घर, उसी एकमात्र घर की ओर जहां वह अभी तक रहा करती थी। ठहर-ठहर कर दम लेते हुए जब वह वहा पहुची तो अधेरा होने लगा था। फाटक मे घुसकर वह अंदर की ओर मुडी ही थी कि उसका पैर फिसल गया और वह चीख मारकर गिर पडी।

पहले एक आदमी उधर से निकला और फिर दूसरा। उन्होंने सोचा—पिये हुए हैं। एक और आदमी निकला और उससे टकरा गया। तब वह दरबान से बोला—"कोई औरत शराब पिये फाटक में पडी है। मैं तो उससे टकरा गया था और मेरा सिर फूटते-फूटते वचा। उसे यहासे हटवाते क्यो नही ?"

दरबान उसको देखने गया, लेकिन धोबिन मर चुकी थी।

यही वह कहानी है जो मेरे मित्र ने मुझे सुनाई। आप सोचेंगे कि शायद मैं उस पन्द्रह वर्षीय वेश्या से अपनी मुलाकात की बात और धोबिन की कहानी छाटकर एक साथ रख रहा हूं; किंतु

आप ऐसा न सोचें। ये दोनो घटनाए बिलकुल इसी तरह एक ही रात में घटी। तारीख तो मुझे ठीक याद नही, लेकिन महीना मार्च सन् १८८४ का था।

अपने मित्र का वृत्तान्त सुनकर मै कोतवाली गया। मेरा विचार वहासे रज्हानोफ भवन जाकर धोविन के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने का था। मौसम अच्छा था, धूप खिली हुई थी, साए मे रात को पडे हुए वर्फ के नीचे पानी फिर से वहता हुआ दिखलाई देने लगा था और खामोवनीके चौक में कडी धूप के कारण वर्फ पिघल-पिघल कर वह रहा था। नदी भी शोर करती हुई वह रही थी। दूसरे पार बाग के वृक्ष नीले-नीले दिखलाई दे रहे थे, भूरी चिडिए जो सर्दियो में दिखलाई भी नही पड़ती, अपने कलरव से सबका ध्यान आकर्षित कर रही थी और ऐसा मालूम पडता था कि मनुष्य भी इस समय आनन्द लूटना चाहता है, किंतु दुर्भाग्यवश उसके सिर पर अनेक चिंताए सवार है। गिरजाघर में घटे वज रहे थे और इन मिश्रित ध्वनियो की पृष्ठ-भूमि मे बैरको से तोपो की आवाज, गोलियो की सरसराहट और उनका निशानो पर पडने का धमाका सुनाई दे रहा था।

मै कोतवाली पहुचा। वहां कई सशस्त्र व्यक्ति थे, जो मुझे अपने मुखिया के पास ले गए। वह भी तलवार तथा पिस्तौल से लैस था और अपने सामने खडे हुए एक फटे-हाल थरथर कापते हुए वूढे के विषय मे कुछ आदेश दे रहा था। वह वूढा इतना दुर्वल था कि अपने से पूछे गए प्रश्नो का ठीक से उत्तर भी नही दे पा रहा था। उधर का काम निवटाकर मुखिया ने मेरी ओर ध्यान दिया। मैंने उससे कलवाली लड़की के बारे मे पूछा। पहले तो वह मेरी वातें ध्यानपूर्वक सुनता रहा, फिर बाद मे यह सोचकर मुसकराया कि मुझे नियमो का कुछ ज्ञान नही और यह तक पता नही कि ऐसी स्त्रिया कोतवाली क्यो ले जाई* जाती है। उसकी मुसकराहट का एक विशेष कारण भी था, और वह था मेरा उस लडकी की अल्पवयस्कता पर आश्चर्यचकित

---

* वेश्याए वहा डाक्टरी परीक्षा के लिए ले जाई जाती है।

की निर्दयता न दिखा सकी। दो दिन तो धोबिन वही रही और बराबर गिडगिडाती रही—"मै कहा जाऊ ?" लेकिन तीसरे दिन मालकिन का प्रेमी, जो मास्को का रहनेवाला था और शहरो के कायदे-कानून जानता था, पुलिस को बुला लाया। तलवार और लाल डोरी मे बधी पिस्तौल से लैस एक पुलिसवाला सराय मे आया और उसने शाति और सभ्यता के साथ धोबिन को निकाल बाहर किया।

वह मार्च का महीना था। दिन साफ था और सूर्य चमक रहा था, किंतु पाला पड रहा था। बर्फ गल-गलकर नालियो मे वह रहा था और चौकीदार लोग सडको पर जमे हुए बर्फ को तोड रहे थे। बर्फ पर चलनेवाली बिना पहियो की गाडिया कडे बर्फ से टकराकर झटके खाती थी और कभी-कभी नगे पत्थरो से लग जाने के कारण उनमें से उल्लू के बोलने की-सी आवाज होती थी। धोबिन ढाल के उस ओर गई जहां धूप फैली हुई थी और गिरजाघर पहुचकर उसके बरामदे मे धूप में बैठ गई। किंतु जब सूर्य मकान के पीछे डूबने लगा और गड़हियो में फिर बर्फ जमने लगा तो वह ठढ के मारे घबराई। वह उठी और मानो अपने शरीर के बोझ को खीचती हुई आगे बढी। परन्तु किस ओर ? घर, उसी एकमात्र घर की ओर जहा वह अभी तक रहा करती थी। ठहर-ठहर कर दम लेते हुए जब वह वहा पहुची तो अंधेरा होने लगा था। फाटक मे घुसकर वह अंदर की ओर मुडी ही थी कि उसका पैर फिसल गया और वह चीख मारकर गिर पडी।

पहले एक आदमी उधर से निकला और फिर दूसरा। उन्होंने सोचा—पिये हुए है। एक और आदमी निकला और उससे टकरा गया। तब वह दरबान से बोला—"कोई औरत शराब पिये फाटक में पडी है। मै तो उससे टकरा गया था और मेरा सिर फूटते-फूटते बचा। उसे यहासे हटवाते क्यो नही ?"

दरबान उसको देखने गया, लेकिन धोबिन मर चुकी थी।

यही वह कहानी है जो मेरे मित्र ने मुझे सुनाई। आप सोचेंगे कि शायद मै उस पन्द्रह वर्षीय वेश्या से अपनी मुलाकात की बात और धोबिन की कहानी छाटकर एक साथ रख रहा हू; किंतु

आप ऐसा न सोचें। ये दोनो घटनाएं बिलकुल इसी तरह एक ही रात में घटी। तारीख तो मुझे ठीक याद नही, लेकिन महीना मार्च सन् १८८४ का था।

अपने मित्र का वृत्तान्त सुनकर मै कोतवाली गया। मेरा विचार वहांसे रज्हानोफ भवन जाकर धोविन के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने का था। मौसम अच्छा था, धूप खिली हुई थी, साए मे रात को पडे हुए वर्फ के नीचे पानी फिर से बहता हुआ दिखलाई देने लगा था और खामोवनीके चौक मे कडी धूप के कारण वर्फ पिघल-पिघल कर वह रहा था। नदी भी शोर करती हुई वह रही थी। दूसरे पार वाग के वृक्ष नीले-नीले दिखलाई दे रहे थे, भूरी चिडिएं जो सर्दियो मे दिखलाई भी नही पड़ती, अपने कलरव से सवका ध्यान आकर्षित कर रही थी और ऐसा मालूम पड़ता था कि मनुष्य भी इस समय आनन्द लूटना चाहता है, किंतु दुर्भाग्यवश उसके सिर पर अनेक चिंताए सवार हैं। गिरजाघर में घटे वज रहे थे और इन मिश्रित ध्वनियो की पृष्ठ-भूमि में वैरको से तोपो की आवाज, गोलियो की सरसराहट और उनका निशानो पर पडने का धमाका सुनाई दे रहा था।

मै कोतवाली पहुचा। वहा कई सशस्त्र व्यक्ति थे, जो मुझे अपने मुखिया के पास ले गए। वह भी तलवार तथा पिस्तौल से लैस था और अपने सामने खड़े हुए एक फटे-हाल थरथर कापते हुए वूढे के विपय में कुछ आदेश दे रहा था। वह वूढा इतना दुर्बल था कि अपने से पूछे गए प्रश्नो का ठीक से उत्तर भी नही दे पा रहा था। उधर का काम निवटाकर मुखिया ने मेरी ओर ध्यान दिया। मैंने उससे कलवाली लड़की के वारे में पूछा। पहले तो वह मेरी वातें ध्यानपूर्वक सुनता रहा, फिर वाद में यह सोचकर मुसकराया कि मुझे नियमो का कुछ ज्ञान नही और यह तक पता नही कि ऐसी स्त्रिया कोतवाली क्यो ले जाई* जाती हैं। उसकी मुसकराहट का एक विशेप कारण भी था, और वह था मेरा उस लड़की की अल्पवयस्कता पर आश्चर्यचकित

---

* वेश्याए वहा डाक्टरी परीक्षा के लिए ले जाई जाती हैं।

होना। "इसमे आश्चर्य की क्या वात है ? यहां तो वारह-वारह साल तक की छोकरिया आती हैं और तेरह तथा चौदह साल की छोकरियो की तो गिनती ही नही है," उसने आह्लादपूर्वक कहा।

कलवाली लड़की के वारे मे मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए उसने वतलाया कि शायद वह कमेटी में भेज दी गई है (जहा तक मुझे याद पड़ता है उसने यही कहा था)। जव मैंने उससे पूछा कि लड़की रात को कहा रही तो उसने कुछ ऐसा ही अनिश्चित-सा उत्तर दे दिया। मै जिस लडकी के सम्वन्ध मे पूछ रहा था उसकी उसे कुछ विशेष याद नही थी। 'वहा तो प्रतिदिन ऐसी ढेरो लडकिया आया करती थी।

रज्हानोफ भवन के ३२ नम्वर के कमरे में पहुंचने पर मैंने देखा कि उस मरी हुई धोविन की आत्मा की गाति के लिए एक पादरी मृत शरीर के पास वैठा हुआ वाइविल के भजन पढ रहा है। वह उठाकर उस तख्ते पर लिटा दी गई थी, जिसपर वह सोया करती थी और वहाके किरायेदारो ने, जो सवके सव विलकुल गरीव थे, आपस में चंदा करके पूजापाठ और क्रिया-कर्म के व्यय के लिए काफी रुपया इकट्ठा कर लिया था और वूढी स्त्रियो ने उसे कपडे पहनाकर कफन के वक्स मे लिटा दिया था। धुंधले प्रकाश मे पादरी कुछ पढ रहा था और लवादा ओढे हुए एक स्त्री मोमवत्ती लिये खड़ी थी। इसी प्रकार की दूसरी मोमवत्ती लिये एक आदमी (मुझे कहना चाहिए गरीफ आदमी) खडा था। वह अच्छे कालरवाला एक ओवरकोट, चमकीले जूते और कलफदार कमीज पहने था। वह उस धोविन का भाई था। सरायवालो ने उसका पता लगाकर उसे वुला लिया था।

मृत स्त्री के पास से होता हुआ मैं मकान की मालकिन के पास गया और उसके विपय मे पूछने लगा। मेरे प्रश्नो से वह डर गई। उसको भय हुआ कि कही उसपर कोई अभियोग न लगा दिया जाय; किंतु थोडी देर वाद वह खुलकर वोलने लगी और उसने मुझे सव कुछ वता दिया। लौटते समय मैंने मृत स्त्री की ओर देखा। वैसे तो सभी मृत शरीरो मे एक सुन्दरता होती है, परन्तु कफन मे लिपटी हुई धोविन तो विशेष रूप से सुन्दर और आकर्षक जान पडती थी। उसका चेहरा

स्वच्छ और पीला था, उसकी वडी-वडी आंखें वद थी, गाल वैठे हुए थे और उसके उन्नत ललाट पर सन के समान मुलायम वाल पडे थे, चेहरा थका हुआ किंतु सदय था और उसपर दु ख नही वल्कि आश्चर्य की रेखा खिंची हुई थी। निश्चय ही जब जीवित प्राणी देखकर भी नही देखते, तो मृतको को आश्चर्य नही तो और क्या हो।

जिस दिन मैंने यह घटना लिखी उसी दिन मास्को मे एक वडा नाच था।

उस दिन शाम को मै घर से ८ वजे के वाद निकला। मेरे घर के चारो ओर कारखाने है और जब मै घर से निकला तो कारखाने की सीटी वज चुकी थी और एक सप्ताह के सतत कार्य के पश्चात् लोगो को एक दिन की छुट्टी मिली थी।

मै मजदूरो में से होकर गुजरा और मेरे पास से होकर वहुत से ऐसे मजदूर निकले जो शराव की भट्टियो और सरायो की तरफ जा रहे थे। वहुत-से तो पहले ही से पीकर धुत्त हो रहे थे और वहुतो ने अपने साथ औरतें ले रखी थी।

मैं कारखानो के बीच रहता हू। प्रति दिन सवेरे पाच वजे पहले एक, फिर दूसरी, फिर तीसरी और इस तरह दसियो सीटियो की दूर-दूर से आवाज आती है, जो इस बात की द्योतक होती है कि स्त्रियो, वच्चो और बूढो का काम शुरू हो गया है। ८ वजे सीटिया फिर वजती है और आध घटे का विश्राम होता है। १२ वजे तीसरी सीटी होती है, जबकि खाने के लिए एक घटे की छुट्टी होती है। चौथी सीटी शाम को ८ वजे बजती है और काम वन्द हो जाता है।

यह एक विचित्र वात है कि मेरे पास के तीनो कारखानो मे विशेष रूप से नाच का सामान ही वनता है। सवसे पासवाले कारखानो मे मोजे तैयार होते है, दूसरे मे रेशमी सामान और तीसरे में इत्र तथा पोमेड।

सम्भव है कि इन सीटियो को सुनकर अधिकाश लोगो के मन मे समय के अतिरिक्त और किसी दूसरी बात का ध्यान न आए और वे कह उठे—"अरे देखो, सीटी वज गई, मेरे टहलने का समय हो गया।" किंतु यह भी सम्भव है कि कुछ व्यक्तियो को ये सीटिया अपने पीछे

छिपी हुई वास्तविकता की अनुभूति कराएं और बताएं कि सवेरे ५ बजेवाली सीटी का अर्थ यह है कि रात भर नीचे की सीली हुई कोठरियो से प्राय. एक साथ सोनेवाले स्त्री-पुरुष मुह-अधेरे ही आकर उन कारखानो की ओर भागे जा रहे है, जहा मशीने आलसियों की तरह पड़ी हुई है और वहा वे अपने-अपने काम की जगह पर बैठ रहे है। उन्हे इन कामो का कोई अत दिखलाई नही पडता, न इनमें उन्हें अपने लिए कोई उपयोगिता ही दृष्टिगत होती। इसी तरह वे काम करते है—अक्सर गरमी, उमस और गन्दगी से भरे हुए कमरो में वे प्रतिदिन बारह-बारह घटे और इससे भी अधिक देर तक काम करते है। इस बीच उन्हे विश्राम का बहुत ही कम अवकाश मिलता है। रात मे वे सोते है और सवेरा होते ही उठ पड़ते है और फिर बार-बार वही काम करते है जिसका उनके लिए कोई अर्थ नही होता और जो उन्हे केवल पेट की ज्वाला बुझाने के लिए करना पड़ता है।

इस तरह सप्ताह-पर-सप्ताह बीत जाते है और बीच मे एकाध दिन की छुट्टी के अलावा मजदूरो का जीवन ऐसे ही चलता रहता है। आज यहा मैंने इसी तरह की एक छुट्टी मनाने के लिए मजदूरो को बाहर निकलते देखा। वे लोग सड़को पर चक्कर लगा रहे है। चारो ओर सराय, शराबघर और स्त्रिया है। नशे मे चूर होकर वे एक दूसरे के साथ धक्का-मुक्की करते-फिरते है और अपने साथ वैसी लडकिया लिये रहते है जैसी कि कल पुलिस थाने मे भेजी गई थी। वे बर्फ पर चलने वाली गाडिया किराए पर लेकर या पैदल ही एक-दूसरे को गालिया देते हुए और न जाने क्या-क्या बकते हुए लडखडाते पैरो से सराय-सराय घूमते है। पहले ऐसे मजदूरो को आते-जाते देखकर मैं उनसे जानबूझकर बचता था और उन्हे बुरा भी समझता था। किंतु जब से मैं कारखानो के भोपू के प्रतिदिन बजने का अर्थ समझ गया हू तबसे उलटा मुझे यह आश्चर्य होने लगा है कि कारखानो मे काम करनवाले ये मर्द वैसे ही मक्कार क्यो नही बन जाते जैसे कि मास्को मे भरे पड़े है और ये स्त्रिया उसी छोकरी जैसी क्यो नही हो जाती जिसे मैंने अपने घर के पास देखा था।

इस तरह मैं घूम-फिरकर इन मजदूरों को लगभग ११ वजे तक सडको पर गुल-गपाडा करते देखता रहा। इसके बाद उनका ऊधम धीमा पडने लगा। सडको पर थोड़े-से शरावी-भर रह गए और इधर-उधर कुछ ऐसे स्त्री-पुरुष भी दिखलाई दिए जो पकडकर कोतवाली ले जाए जा रहे थे। उसके बाद चारो तरफ से गाडिया आती दिखलाई देने लगी।

सवकी सब गाडिया एक ही दिशा में जा रही थी। कोचवक्स पर सुन्दर कपडे पहने हुए और टोपो मे एक विशेष प्रकार का फूल लगाए हुए कोचवान और दरवान वैठे हुए थे। साजवाज से सजे हृष्टपुष्ट घोडे वर्फ पर १४ मील प्रति घटे की गति से दौडे जा रहे थे और गाडियो मे गरम लवादा पहने हुए महिलाए अपने वालो मे लगे हुए फूलो और दूसरी शृंगार-सामग्रियो को सावधानी के साथ सम्हाले वैठी थी। सभी पदार्थ—घोडो की जोतो, गाडियो, रवड-टायरो और कोचवानो के गरम कोटो के कपडे से लेकर मोजो, जूतो, फूलो, मखमल, दस्तानो और इत्र तक—उन्ही लोगो के वनाए हुए थे जिनमे से कुछ शराव पीकर अपनी गदी कोठरियो मे तख्तो पर औंधे पडे थे, कुछ सरायो में वेश्याओ के साथ लेटे थे और कुछ पुलिस चौकियो में वन्द थे। उनके पास से घोड़ो और गाडियो मे चढकर—जो वस्तुत. उन मजदूरो के ही हैं—नाच मे जानेवाले लोग गुजर रहे थे। फिर भी उनकी खोपडी में यह बात नही घुसती थी कि जिस नाच मे वे जा रहे थे उसका उन शराबियो से भी कोई सम्वन्ध है जिनको उनके कोचवान डाटते हुए चलते थे।

ये लोग नाच मे जाकर खूब आनन्द लूटते हैं। उनका अत करण शात होता है और उन्हे पूर्ण विश्वास होता है कि वे जो कुछ कर रहे हैं उसमें कोई वुराई नही वल्कि कुछ अच्छाई ही है।

आनन्द लूटते हैं! हा, रात के ११ वजे से सवेरे ६ वजे तक आनन्द लूटते है, जव कि सरायो में लोग भूखे पेट करवटे वदलते हैं और कुछ लोग उस धोविन की तरह अपनी अतिम घडिया गिनते है।

और यह आनन्द होता कैसा है? विवाहित और कुमारी लडकिया अपनी छातिया खोले और कृत्रिम रूप से नितम्बो को ऊचा किये अपने

शरीर का ऐसा भद्दा प्रदर्शन करती है जैसा सुशील कन्याए या स्त्रिया सारे ससार के राज्य के बदले मे भी पुरुषो के सामने करना पसद नही करेगी। उस अर्द्धनग्न अवस्था मे, खुली व उभरी हुई छातियो और कंधो तक नगी बाहो के साथ, ये कन्याएं और स्त्रिया, जिनकी शोभा सदा से ही लज्जा रही है, पीछे से फूली हुई ऐसी पोशाक पहने जिससे नितम्ब खूब कस जाते है, तीव्रतम प्रकाश में अपरिचित पुरुषो के सामने आती है। ये पुरुष भी ऐसे ही अनुचित ढग से कसे हुए कपडे पहने होते है और स्त्रिया उनका संगीत की तान के साथ आलिगन करती है और घूम-घूम कर नाचती है। बूढी स्त्रिया भी प्राय. युवतियो की ही भाति शरीर खोले बैठी-बैठी तमाशा देखती है और बड़े आनन्द से स्वादिष्ट पदार्थ खाती पीती है। बूडे आदमी भी ऐसा ही करते है। इसमें कोई आश्चर्य नही कि यह सब लीला रात को ही होती है, जब साधारण जनता सोती रहती है और इस काड को नही देखती। किंतु ऐसा आमोद-प्रमोद छिपाने के अभिप्राय से नही किया जाता, आनन्द लूटनेवाले तो समझते है कि इसमे ऐसी कोई बात ही नही है जिसे छिपाने की आवश्यकता हो। वे सोचते है कि जो कुछ वे करते है वह बडा अच्छा है और उनके आमोद-प्रमोद से, जिसमे सहस्रो व्यक्तियो के यत्रणापूर्ण श्रम का खून किया जाता है, न केवल किसीको हानि नही पहुचती, बल्कि उलटे गरीबो को रोटी मिलती है।

मान लिया कि नाच में बडा आनन्द आता है, किंतु यह आनन्द आता कहा से है ? जब हम आपस मे किसी व्यक्ति को क्षुधा-पीड़ित या ठड से ठिठुरते देखते हैं तो हमे आनन्द मनाने में लज्जा आती है और जबतक उसकी ये दोनो पीडाए शात नही कर दी जाती तबतक हम प्रसन्न नही हो पाते और हमारी समझ मे नही आता कि जिन वस्तुओ से दूसरो को कष्ट होता है उनसे लोग अपना मनोरजन कैसे कर लेते है। इसी प्रकार जब हम कुछ निर्दय शैतान लडको को अधचिरी खपच्ची मे कुत्ते की दुम दबाकर प्रसन्न होते देखते है तब हमें यह अच्छा नही लगता और समझ में नही आता कि ऐसी शरारत मे लडको को क्या मजा आता है ?

तब फिर क्या कारण है कि अपने इन आमोद-प्रमोदो में हम अंधे बन जाते है और उस चिरी खपच्ची को नही देख पाते जिससे हम उन लोगो की दुम को दबाते है जो हमारे मनोविनोद के कारण पीडा पाते है ?

डेढ-डेढ सौ रूबल की कीमती पोशाक पहने, शान से गाडी में बैठे हुए नाच में जानेवाली इन स्त्रियो में से एक भी ऐसी नही जिसका जन्म नाचघर या किसी फैशनेबिल पोशाक बनानेवाली के घर में हुआ हो। उनमें से प्रत्येक देहात में रह चुकी है, किसानो से परिचित है और जानती है कि उसकी अपनी धाया अथवा अगरक्षिका के बाप-भाई गरीब है और उनके लम्बे तथा परिश्रमी जीवन की साध ही यह है कि वे किसी तरह डेढ सौ रूबल बचाकर एक झोपडा बनालें। वह इन सब बातो को जानती है। तो फिर वह कैसे आनन्द मना सकती है जब कि उसे पता है कि उसने अपने अर्द्धनग्न शरीर पर वह झोपडा पहन रखा है जो उसकी अच्छी दासी के भाई के जीवन का स्वप्न है ? मानलो कि उसका ध्यान इस बात की ओर गया ही नही। फिर भी, यह तो उसे मालूम ही होना चाहिए कि मखमल, रेशम, मिठाइया, फूल, लैस और पोशाकें अपने-आप पैदा नही होती, बल्कि मनुष्यो द्वारा ही बनाई जाती हैं। साथ-ही-साथ उसे इस बात का भी ज्ञान होना अनिवार्य है कि इन वस्तुओ को कैसे आदमी बनाते हैं, किस स्थिति में बनाते है और क्यों बनाते है। वह इस बात से भी अनभिज्ञ नही हो सकती कि जिस दर्जिन को उसने डाटा था उसने उसके कपडे प्रेमवश नही बल्कि विवश होकर ही सिए है और इसी प्रकार लैस, फूल और मखमल को भी लोगो ने अपनी आवश्यकताओं से बाध्य होने पर ही बनाया है। किंतु कदाचित उसकी आखें इतनी धुधली हो गई है कि वह इतनी स्पष्ट बातें भी नही देख पाती। फिर भी वह यह जाने बिना कैसे रह सकती है कि उसके कारण पांच-छ. आदमियो—बूढे, भले और प्राय दुर्बल दरबानो और नौकरानियो—को नीद नही नसीब हुई है और वे कष्ट उठा रहे है ? उसने उनके क्लान्त, निष्प्रभ चेहरे तो देखे ही है। उसे यह तो मालूम ही है कि रात बड़े जोरो का पाला पड रहा था और उस पाले मे बूढा कोचवान सारी रात कोचबक्स पर बैठा रहा था। किंतु मै जानता

हूं कि रंगरलिया मनानेवाली ये स्त्रिया सचमुच ही इन वातो पर ध्यान नही देती और यदि नाच की मोह-निद्रा के कारण विवाहित युवतिया और कुमारिया यह सब नही देख पाती तो उन्हे दोषी नही समझना चाहिए। वे बेचारी तो वही करती है जो उनके वडे-वूढे उनके लिए ठीक समझते है। किंतु क्या कोई बता सकता है कि इन वडे-वूढो की निर्दयता का रहस्य क्या है ?

वडे-वूढे तो सदा एक ही उत्तर देते है। वे कहते है—"हम किसी को विवश नही करते। हम तो सारी चीजें पैसे देकर खरीदते है और पैसे देकर ही दासियो व कोचवानो से काम कराते है; खरीदने और भाडे पर आदमियो को रखने में कोई बुराई नही; हम किसीको मजबूर नही करते, हम तो उनको भाडे पर रखते है; इसमे वुराई क्या है ?"

कुछ दिन हुए मै अपने एक परिचित से मिलने गया। पहले कमरे से गुजरते समय मै मेज के पास दो स्त्रियो को वैठे देखकर अचम्भे मे रह गया, क्योकि मै जानता था कि वह आदमी अविवाहित है। ३० साल की एक दुवली-पतली पीले रग की वूढी-सी स्त्री सिर पर रूमाल वाधे मेज के नीचे अपने हाथो और अगुलियो से जल्दी-जल्दी कुछ कर रही थी और इस तरह झटके के साथ हिल रही थी जैसे उसे कोई दौरा आ रहा हो। उसके पास ही एक छोटी लडकी वैठी थी। वह भी कुछ काम कर रही और उसी प्रकार हिल रही थी। ऐसा जान पड़ता था कि दोनो-की-दोनो धनुपटकार रोग से पीडित है। मैने उनके पास जाकर देखा कि वे क्या कर रही है ? उन्होने मुझपर दृष्टि डाली और फिर वे उसी तन्मयता के साथ अपने काम में लग गईं। उनके सामने तमाखू और सिगरेट के कागजो का ढेर था। वे सिगरेटे वना रही थी। औरत तमाखू को हाथो से मलकर मशीन से कागज के खोल में दवाती और लडकी की तरफ फेंक देती थी। लडकी सिगरेट पर कागज लपेटती और उसमें एक डाट-सी वस्तु ठूसने के वाद उसे एक तरफ फेंक देती थी और फिर दूसरी सिगरेट ले लेती थी। यह काम इतनी तेजी से और एकाग्रता के साथ हो रहा था कि जिसने स्वयं

अपनी आखो से न देखा हो उसे वर्णन द्वारा समझाना असम्भव है। मैंने उनकी तेजी पर आश्चर्य प्रकट किया, जिसके उत्तर में औरत ने कहा—"चौदह वर्ष से यही करती आ रही हूं।"

"क्या कुछ मुश्किल काम है ?"

"हा, छाती दुखती और दम घुटने लगता है।"

सच पूछिए तो उसे यह कहने की आवश्यकता ही नही थी। यह तो उसपर और उस छोटी लडकी पर दृष्टि डालते ही पता चल जाता था। लडकी दो वर्ष से यह काम कर रही थी और उसको काम करते देखकर कोई भी कह सकता था कि हृष्टपुष्ट होते हुए भी उसका स्वास्थ्य अव गिरने लगा है। मेरा मित्र एक दयालु और उदार-हृदय पुरुष था। उसने उन्हे सिगरेट वनाने के लिए नौकर रख छोडा था और एक हजार सिगरेट वनाने के लिए २ रूवल ५० कोपेक दिया करता था। उसके पास रुपया है, जो वह उन्हे काम कराकर देता है। इसमें क्या वुराई है ? वह लगभग १२ बजे सोकर उठता है, शाम के छ बजे से रात के २ बजे तक ताश खेलता या पियानो वजाता है, स्वादिष्ट भोजन और मिठाइया उडाता है और दूसरे लोग उसके लिए सव काम करते हैं। उसने अव एक नया शौक पैदा कर लिया है—सिगरेट पीना। मुझे याद है कि उसे यह लत कव पडी थी।

हम अपने सामने एक स्त्री और एक लडकी का उदाहरण देखते है, जो अपने को मशीन वनाकर भी कठिनाई से गुजारा भर कर पाती है जो अपना सारा जीवन तमाखू की ही सास लेने में बिता देती है और इस प्रकार अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश कर लेती है। दूसरी ओर हमारे मित्र का उदाहरण है। उसके पास धन है, जो उसने स्वय नही कमाया है और वह अपने हाथो सिगरेट वनाने की अपेक्षा ताश खेलना अधिक पसंद करता है। वह इन स्त्रियो को इसी शर्त पर रुपया देता है कि वे उसके लिए सिगरेटें वनाती रहे और इसी प्रकार सदा दयनीय जीवन बिताती रहें।

मैं सफाई-पसद हूं और अपना रुपया एक धोविन को केवल इस शर्त पर देता हू कि वह मेरे उन कपड़ो को धोया करे जिन्हे मैं दिन में दो

बार बदलता हू । इसी काम में उस बेचारी की सारी शक्ति खप गई और वह मर गई ।

"इसमें बुराई क्या है ? लोग तो खरीदारी और दूसरो को नौकर रखने का काम करते ही रहेगे; मैं चाहे करू या न करू । लोग तो दूसरो से मखमल और मिठाइया बनवाते और खरीदते ही रहेंगे, मैं चाहे ऐसा न भी करूं । तो फिर जब ऐसी ही व्यवस्था है तो मै ही क्यो अपने को मखमल, मिठाई, सिगरेट और सफेद कपडो से वचित रखू ?"—प्राय , या यो कहिए कि करीब-करीब हमेशा, मैं यही तर्क सुना करता हू। यह वैसा ही तर्क है जैसा विनाश करने पर तुली हुई कोई उन्मत्त भीड़ किया करती है। ऐसे ही तर्क से प्रेरित होकर एक कुत्ता दूसरे कुत्ते पर आक्रमण करता है और उसे मार गिराता है और उसके झुड के दूसरे कुत्ते उसपर झपटकर उसके टुकडे-टुकडे कर डालते हैं। "जब एक बार ऐसी व्यवस्था आरम्भ हो गई है और उसके फलस्वरूप दूसरों को कुछ क्षति भी हो चुकी है तो मैं भी उसमे हिस्सा क्यो न लू ? इससे क्या लाभ कि मै गदी कमीज पहनू और अपने लिए स्वय सिगरेटे बनाऊ ? क्या इससे किसीको कुछ लाभ होगा ?" ऐसे प्रश्न लोग अपनी सफाई देते हुए करते है। यदि हम सत्य से इतनी दूर न जा पडे होते तो ऐसे प्रश्न का उत्तर देते हुए भी हमे लज्जा आती, किंतु हम इतने चक्करो मे फसे हुए है कि यह प्रश्न हमको स्वाभाविक जान पडता है और यद्यपि इसका उत्तर देने में लज्जा आती है तथापि उत्तर देना अनिवार्य है।

यदि मै अपने कपडे प्रतिदिन न बदलकर हफ्ते भर बाद बदलू और अपनी सिगरेटे अपने आप बनालू या सिगरेट पीना भी छोड दू तो क्या अतर पडेगा ?

अतर यह पडेगा कि कुछ धोबिनो और कुछ सिगरेट बनानेवालो को अपनी शक्ति का क्षय कम करना पडेगा और जो रुपया मैं पहले धुलाई या सिगरेट बनाई के रूप मे देता वही रुपया अब मैं उस धोबिन या किसी दूसरी धोबिन को और उन मजदूरो को दे सकता हू जो काम करते-करते थक गए है और जो अब अपनी सामर्थ्य से अधिक काम करने की बजाय आराम कर सकते है और चाय पी सकते है। किंतु

अमीर और आरामतलब लोग अपनी स्थिति को समझने के लिए इतने कम इच्छुक हैं कि वे इसका भी उत्तर देते हैं। वे कहते हैं—"यदि मैं गंदे कपड़े पहनूं, सिगरेट पीना बन्द कर दूं और इनपर खर्च होनेवाला रुपया गरीबों को दे दूं तो भी वह रुपया उनके पास रहेगा नहीं, सब कुछ उनसे छीन लिया जायगा और सागर में एक बूंद के समान मेरे रुपए से होगा भी क्या ?"

इस उत्तर का प्रत्युत्तर देते हुए और भी लज्जा आती है, किंतु प्रत्युत्तर तो देना ही होगा। यह तर्क एक बहुत ही प्रचलित तर्क है और इसका उत्तर भी बहुत सीधा है।

यदि मैं जंगलियों के यहां जाऊं और वे लोग मुझे स्वादिष्ट मांस खाने को दें और दूसरे दिन मुझे मालूम हो जाय या कदाचित मैं स्वयं देख लूं कि वह स्वादिष्ट मांस एक कैदी को मारकर तैयार किया गया था तो—यदि मैं मनुष्य का मांस खाना पसंद नहीं करता—मैं उसे फिर से कदापि नहीं खाऊंगा, चाहे वह कितना ही स्वादिष्ट क्यों न हो, चाहे उन लोगों में, जिनके साथ मैं ठहरा हुआ हूं, मनुष्य का मांस खाने की कितनी ही अधिक प्रथा क्यों न हो और चाहे मेरे अस्वीकार करने से खाने के काम में लाए जानेवाले कैदियों को कितना ही कम लाभ क्यों न पहुंचे। सम्भव है कि भूख से लाचार होकर मैं कदाचित मनुष्य का मांस भी खा लूं, किंतु मनुष्य के मांस की दावत मुझे किसी और को नहीं देनी चाहिए, न ऐसी दावतों में हिस्सा लेना चाहिए, न उनके लिए लार टपकानी चाहिए और न उनमें हिस्सा लेने पर गर्व ही प्रकट करना चाहिए।

: २५ :

हम देखते और देखकर समझते क्यों नहीं ?

"तो फिर हम क्या करें ? यह सब हमने तो किया नहीं है।"—लेकिन हमने नहीं तो फिर किसने किया है ? हम कहते हैं कि हमने ऐसा नहीं किया; यह तो अपने-आप हो गया। यह बात तो ऐसी ही है जैसे कोई बच्चा किसी चीज को तोड़कर कहे कि वह तो आप-से-आप टूट गई।

हम कहते हैं कि अब जब कि शहरो का निर्माण हो चुका है हम लोग, जो उनमें रहते हैं, मजदूरो के श्रम को खरीदकर उनका पालन-पोषण करते हैं।

किंतु यह बात सच नही है। समझने के लिए हमे केवल यह सोचने भर की आवश्यकता है कि हम देहात मे किस तरह से रहते हैं और वहा लोगो का भरण-पोषण कैसे होता है ?

सर्दी समाप्त होती है और ईस्टर आता है। शहरो में अमीरो के वे ही राग-रग जारी हैं। घाटो पर, नदियो पर, उपवनो में, पार्कों में, जहा देखो वही गाना-बजाना, थियेटर-तमाशा, घुडदौड, आतिशबाजी और रोशनी का दौरदौरा है। किंतु देहातो मे इससे भी अच्छा है। वहाकी वायु अधिक शुद्ध और वहांके वृक्ष, मैदान और फूल ज्यादा ताजे हैं। जहा कलिया खिल रही हैं और जहा फूल लहलहा रहे हैं वहा अवश्य चलना चाहिए; यह सोचकर बहुत-से धनी-मानी दूसरो के श्रम का उपभोग कर शुद्ध वायु का सेवन करने और हरे-भरे मैदानो तथा जगलो का मजा लूटने देहात आते हैं। वहा वे उन गंवार किसानो के बीच जा बसते हैं जो बाजरे की रोटी और प्याज के टुकडे खाकर जीवन बिताते हैं, जो दिन मे अट्ठारह-अट्ठारह घटे काम करते हैं, जो रात को पूरी नीद नही सो पाते और फटे-चीथड़े लपेटे रहते हैं। कम-से-कम यहा उनके लिए प्रलोभन की कोई वस्तु नही है; न कल-कारखाने हैं और न बेकार लोग, जिनकी शहरो मे बहुलता होती है और जिनके विषय में कहा जाता है कि काम देकर हम उनका भरण-पोषण करते हैं। यहां तो सारी गरमियो लोगो को इतना काम रहता है कि वे उससे पार नही पाते। बेकार रहना तो दूर, यहा तो श्रमिको के अभाव के कारण बहुत-सा माल नष्ट हो जाता है और बहुत-से स्त्री-पुरुष, बहुत-से बच्चे-बूढे, बहुत-सी बच्चोवाली स्त्रिया शक्ति से अधिक काम करने के कारण इस दुनिया से चल बसती हैं।

यहा आकर धनी लोग अपने जीवन की कैसी व्यवस्था करते हैं ? क्यो इसमें पूछने की क्या बात है ? सुनिए, वे अपनी व्यवस्था इस प्रकार करते हैं—वहा यदि दास-प्रथा के दिनो का बना हुआ कोई पुराना

मकान हुआ तो उसे नया रूप-रंग प्रदान किया जाता है और सजाया जाता है और यदि कोई पुराना मकान न हुआ तो दो या तीन मजिलो का एक नया मकान बनवाया जाता है जिसमे लगभग १४ फुट ऊचे १२ से लेकर २० तक या और भी अधिक कमरे होते हैं। अच्छे चिकने फर्श बनवाए जाते है, खिड़कियो में बडे-बडे शीशे लगवाए जाते हैं, बहुमूल्य गलीचे बिछवाए जाते हैं, बढिया फर्नीचर लगवाया जाता है और २०० से लेकर ६०० रूबल तक की आलमारी लाई जाती है। मकान के पास सडक पर ककड पिटवाई जाती है, जमीन बराबर करवाई जाती है, फुलवारिया लगवाई जाती है, कूद-फाद के यत्र खडे किए जाते है, चमकदार लट्टू लटकवाए जाते है और प्राय कोमल वनस्पतियो के रक्षा-गृह, ग्रीष्म भवन और ऊचे-ऊचे अस्तबल बनवाए जाते हैं और वे खूब अच्छी तरह सजवाए जाते है। मकान में चारो ओर तैलरगो के चित्र बनवाए जाते हैं और इन रगो मे वह तेल खर्च किया जाता है जो बूढे किसानो और बच्चो को खाने के साथ मयस्सर नही होता। यदि किसीके पास इतना धन होता है तो वह इस प्रकार का मकान बनवाकर उसमें जा बसता है, किंतु यदि उसकी थैली इतनी भारी नही होती तो वह मकान किराए पर ले लेता है। सक्षेप यह कि हमारे वर्ग का आदमी चाहे कितना ही निर्धन और उदार क्यो न हो, वह जब देहात मे जाकर रहता है तो ऐसे मकान मे रहता है जिसको बनाने और साफ रखने के लिए दर्जनो मजदूर गाव से लेने पडते हैं—उस गाव से, जहा उन्हे अपनी रोजी के लिए अनाज पैदा करने का ही काम इतना रहता है कि वे उसे पूरा नही कर पाते।

कम-से-कम देहात मे कोई यह नही कह सकता कि यहा तो कल-कारखाने पहले से ही है, मैं उनका उपयोग करू या न करू इससे कोई अतर नही पडेगा। यहा कोई यह भी नही कह सकता कि मैं बेकारो का भरण-पोषण करता हू। यहा तो हमें जिस पदार्थ की आवश्यकता होती है उसके उत्पादन की व्यवस्था हम बिना किसी रोकटोक के कर लेते है और अपने आसपास रहनेवालो की आवश्यकताओ से लाभ उठाकर उन्हे उन कामो से अलग कर देते है जो उनके, हमारे और सबके

लिए आवश्यक है । इस तरह कुछ मजदूरो का तो हम मस्तिष्क विकृत कर देते हैं और शेष का जीवन और स्वास्थ्य नष्ट कर डालते है।

मान लीजिए कि किसी उच्च वर्ग या सरकारी कर्मचारियो का एक शिक्षित और प्रतिष्ठित परिवार गाव में रहता है। जून के मध्य मे पढाई और परीक्षाए समाप्त करने के वाद परिवार के सब लोग और उनके मेहमान भी आकर इकट्ठे होते है और वहा सितम्बर मास तक रहते है। दूसरे शब्दो मे यो कहिए कि वे वहा फसल की नराई आरम्भ होने पर आते है और उस फसल के समाप्त होने तथा सर्दियो की फसल वोए जाने के समय तक रहते है। ये सव वहा साल के आवश्यक कार्य के मौसम के आरम्भ होने के समय से लेकर उसका अत होने तक तो नही——क्योकि सितम्बर में सर्दियो की फसल की वुवाई और आलू की खुदाई जारी रहती है——लेकिन हा, काम के हलका पडने तक गाव मे रहते हैं।

ये लोग जवतक गाव मे रहते है तवतक उनके चारो तरफ किसानो का गरम मौसम का काम चलता रहता है। इस काम मे जो परिश्रम करना पड़ता है उसके वारे में हमने चाहे कितना ही सुन और पढ क्यो न रखा हो और चाहे कितना ही देख भी क्यो न रखा हो, उसका वास्तविक अनुमान हम उस समय तक नही लगा सकते जवतक कि हम उसे स्वय अपने हाथो से न करे।

धनाढ्य परिवार के ये लोग, जिनकी सख्या मान लीजिए दस या वारह होती है, यहा शहरो की ही भाति या यदि सम्भव हुआ तो उससे भी वुरे ढग से जीवन विताते है, क्योकि कहा जाता है कि देहात में तो लोग आराम करने आते है। इसीलिए यहा उनके लिए कोई काम-धाम नही होता और न काहिली को छिपाने के लिए किसी वहाने की आवश्यकता होती है ।

पित्रोफ़-उपवास[1] के दिनो मे जवकि किसान लोग केवल क्वास[2],

---

१ यह उपवास ईस्टर के वाद नवे सप्ताह से आरम्भ होकर २९ जून तक चलता है ।

२ एक प्रकार का रूसी पेय ।

राई की रोटी और प्याज लेते हैं, नराने का काम आरम्भ होता है। गाव में रहनेवाले भद्र नागरिक इस काम को देखते हैं। कुछ सीमा तक वे उसके लिए आदेश देते हैं, कुछ सीमा तक वे उसे पसन्द करते हैं और मुरझाई हुई सूखी घास की सुगंध, स्त्रियों के गीतो, हसियों के चलने की आवाज, काटनेवालों की क्तार और स्त्रियो के घास बराबर करने के ढंग से उन्हें प्रसन्नता होती हैं। यह सब आनन्द उन्हें अपने घर के पास ही मिल जाता है और फिर बाद में दिन भर बेकार पड़े रहने के बाद नवयुवक और बालक स्नान के लिए सौ-दो सौ गज की दूरी भी गाड़ी में सवार होकर पार करते हैं।

घास सुखाने का काम दुनिया के सबसे अधिक महत्वपूर्ण कामो में से है। प्रायः प्रति वर्ष मजदूरों और समय की कमी के कारण कटाई पूरी होने से पहले ही वर्षा से मैदानों के भीग जाने का भय रहता है। शेष बची हुई २० प्रतिशत या इससे भी अधिक घास राष्ट्रीय सम्पत्ति का रूप ग्रहण करे या योंही खड़ी-खड़ी सड़कर नष्ट हो जाय, यह बात काम के अधिक या कम होने पर निर्भर करती है। यदि अधिक घास काटी जा सके तो बूढ़ों को अधिक मास और बच्चों को अधिक दूध मिल सकता है। साधारणतः यह बात सभीके लिए होती है। किंतु विशेष रूप से किसानों के लिए तो उन्हीं दिनो इस प्रश्न का निर्णय हो जाता है कि उन्हें तथा उनके बच्चो को रोटी या दूध उपलब्ध होगा या नही। इस बात को प्रत्येक व्यक्ति जानता है; यहां तक कि बच्चो को भी यह पता है कि यह काम बड़ा महत्त्वपूर्ण है और हर आदमी को अपनी पूर्ण सामर्थ्य के साथ काम करना चाहिए। इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर बच्चे-क्वास का बर्तन खेत में पिता के पास ले जाते हैं। उन भारी बर्तन को कभी एक और कभी दूसरे हाथ में लिये हुए बच्चे गाव से डेढ़ मील नंगे पांव तेज-से-तेज भागे चले जाते हैं, ताकि खाने में देर न हो और बाप की झिड़कियां न सुननी पड़ें। हरएक आदमी जानता है कि घास की कटाई के समय से लेकर फसल के घर में पहुंचने तक काम का सिलसिला टूट नही सकता और एक मिनट का भी आराम सम्भव नहीं। काम केवल कटाई का ही नही होता। प्रत्येक व्यक्ति को

इसके अलावा दूसरे काम भी करने पडते है। खेत को जोतने और बराबर करने की आवश्यकता होती है। स्त्रियो को कपडे धोने, रोटी बनाने और बर्तन मांजने का काम करना पड़ता है। पुरुषो को भाग-भागकर कारखाने और नगर में जाना पडता है, ग्राम के साम्प्रदायिक मामलो की देखभाल करनी पडती है, अदालतो में जाना, गाव के पुलिस अफसर से मिलना, गाड़ीं चलाना और रात को घोडो को खिलाना पडता है। बूढे, जवान, बीमार—सभी शक्ति भर काम करते है। किसान लोग इतनी मेहनत करते है कि दिन का काम समाप्त होते-होते दुर्बल, बच्चे, बूढे और जीर्ण-शीर्ण लोग बडी कठिनाई से अन्तिम कतार काट पाते है और इतने थक जाते है कि सुस्ताने के बाद फिर उनका उठना दूभर हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रियां भी काम करती है, यद्यपि वे अक्सर गर्भवती और बच्चेवाली होती है।

काम बडा कठोर होता है और लगातार होता रहता है। सब लोग पूरी सामर्थ्य लगाकर काम करते है और इस बीच उन्हें जो थोडा-बहुत अन्न मिलता है उसे ही नही बल्कि पहले का बचा हुआ अन्न भी खा-पी डालते है। मोटे और तगडे तो वे वैसे भी कभी नही होते; इधर फसल का कार्य समाप्त करते-करते वे और भी दुर्बल हो जाते हैं।

देखिए, एक छोटी-सी टोली कटाई का काम कर रही है। तीन किसान है—एक बूढा है, दूसरा उसका नवयुवक विवाहित भतीजा और तीसरा एक मोची, जिसका हृष्टपुष्ट पुट्ठेदार शरीर है और जो किसीके घर नौकर रह चुका है। सूखी घास की यह कटाई आगामी जाडो के लिए उनके भाग्य का निर्णय करेगी और यह बतायगी कि वे गाय रख सकेंगे या नहीं और कर चुका सकेंगे या नही। निरतर कार्य करते हुए उन्हे दो सप्ताह हो चुके है। बीच में वर्षा के कारण उनके काम में कुछ बाधा पड गई है। वर्षा बंद होने और हवा से घास के सूख जाने पर वे काम को शीघ्र-से-शीघ्र समाप्त करने का निर्णय करते है और उनमें से प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ दो स्त्रियो को भी काम पर लगाने का निश्चय करता है। बूढ़े के साथ उसकी स्त्री आती है जिसकी उम्र पचास वर्ष की है और जो बहुत काम करने और ११ बच्चो को

जन्म देने के कारण शिथिल पड़ गई है। वह वहरी भी है, किंतु अभी काम अच्छा-खासा कर लेती है। उसके साथ उसकी १३ वर्ष की लडकी भी आती है, जो छोटी लेकिन तेज और मजबूत है। भतीजे के साथ उसकी स्त्री आती है, जो किसी भी पुरुष के समान मजबूत और लम्वी है। उसके साथ उसकी साली भी आती है, जो एक सिपाही की स्त्री है और गर्भवती है। मोची के साथ उसकी स्त्री और सास आती है। उसकी स्त्री बहुत अच्छा काम करती है और उसकी सास ८० वर्ष की एक वुढिया है, जो अक्सर भीख मागा करती है। कमर कसकर वे एक साथ काम पर जुट जाते है और जून की जलती हुई धूप मे सवेरे से शाम तक काम करते है। कभी-कभी वादल आते है और वर्षा का भय होने लगता है। काम का हर घटा कीमती है। पानी या क्वास लाने मे जो समय लगता है वह तक उन्हे अखरता है।

एक छोटा लडका, जो वुढिया का पोता है, सवके पीने के लिए पानी लाता है। स्पष्टत वुढिया को इस वात की वडी चिंता है कि काम रुकने न पाए, इसीलिए वह हेंगी को हाथ से नही छोडती, यद्यपि उसका शरीर इतना थक चुका है कि चेष्टा करने पर भी वह कठिनाई से चल-फिर पाती है। कमर तक झुका हुआ वह छोटा लड़का नगे पैरो छोटे-छोटे कदम रखता अपने से भी भारी पानी का वर्तन कभी एक हाथ से और कभी दूसरे हाथ से सम्हालता हुआ लाता है। लडकी भी अपने से भारी घास का गट्ठर सिर पर रखकर ले जाती है। वह दो-चार कदम चलती है, रुक जाती है और वोझ आगे न ले चल सकने के कारण गट्ठर उठाकर फेंक देती है। ८० साल की वह वुढिया लगातार हेंगी से घास इकट्ठा कर रही है, उसके सिर का रूमाल खिसककर एक ओर हो गया है और वह हाफती-लडखडाती हुई घास का गट्ठर खीचकर ले जाती है। ८० वर्ष की वुढिया हेंगी से घास इकट्ठा करने के सिवा और कुछ नही करती, लेकिन यह भी उसकी सामर्थ्य से वाहर है। चटाई के जूते पहने वह धीरे-धीरे पैर को घसीटती चलती है और सिकुडी हुई भौहो से अपने सामने इतनी मलिनता के साथ देखती है मानो किसी भयंकर रोग से पीडित या मरनेवाली है। वूढा

उसे जानबूझकर दूसरो से दूर घास के ढेर के पास काम करने के लिए भेजता है, ताकि उसको उनके बराबर काम न करना पडे। किंतु वह रुकती नही और वही काल-जैसी मलिन मुद्रा बनाए दूसरो के बराबर ही काम करती रहती है।

सूरज वृक्षो के पीछे डूबने लगा है, किंतु अभीतक घास के सारे गट्ठर नही हटाए जा सके है और अभी बहुत काम शेष है। अनुभव तो सब लोग करते है कि काम बद करने का समय हो गया, किंतु बोलता कोई नही; सब एक-दूसरे के काम बंद करने की प्रतीक्षा मे है। अतत' मोची, यह देखकर कि अब उसमें काम करने की शक्ति नही रह गई, बूढे से प्रस्ताव करता है कि बाकी काम कल के लिए छोड़ दिया जाय। बूढा इससे सहमत हो जाता है और स्त्रिया तत्काल कपडे, पानी के बर्तन, काटे आदि उठाने दौडती है और बुढिया जहा खड़ी थी वही धम से बैठ जाती है और फिर उसी मृत्यु-जैसे मलिन चेहरे से ठीक सामने देखती हुई लेट जाती है। किंतु अन्य स्त्रिया जाने लगती है, इसीलिए वह भी कराहती हुई उठती है और उनके पीछे-पीछे घिसटती हुई चलने लगती है।

अब जरा जमीदार के मकान पर दृष्टि दौडाइए। उसी सन्ध्या को जब गाव की ओर से खेतो से लौटते हुए थके-मादे घसियारो के कन्धो पर लटकती हुई सिल्लियो की ठनठनाहट, हसियो के फलको में पडे हुए गड्ढो को सीधा करते हुए हथौडो की चोट और उन स्त्रियो तथा लडकियो के शोर की ध्वनि सुनाई देती है जो अभी-अभी हसिए को पटककर चौपायो को लेने के लिए दौडी जा रही है, ठीक उसी समय जमीदार के मकान से दूसरे प्रकार की आवाजें आ रही है—'द्रिन-द्रिन-द्रिन' पियानो बज रहा है; किसी हगेरियन गाने की तान गूज रही है और बीच-बीच में लकडी की गेंद को लकडी के बल्ले से मारने की आवाज आ रही है। अस्तबल के पास चार हृष्टपुष्ट घोडो की किराए की एक सुन्दर गाडी खडी है।'

इस गाडी में कुछ मेहमान दस रूबल किराया देकर दस मील से आए है। बम मे जुते हुए घोडे गर्दन हिलाहिलाकर अपनी घटिया बजा

रहे हैं। उनके सामने सूखी घास पडी हुई है, जिसे वे खुरो से रौंद-रौंदकर इधर-उधर फैला रहे हैं—यह वही घास है जो खेतो में इतने परिश्रम से इकट्ठी की जाती है। जमीदार के मकान मे चहल-पहल हो रही है—एक स्वस्थ, हृष्टपुष्ट युवक—जो दरवानी के पुरस्कार में मिली हुई लाल कमीज पहने हुए है—कोचवानो को पुकारकर घोडो पर जीन कसने के लिए कह रहा है। दो किसान, जो वहा कोचवानी का काम करते है, अपने कमरे से बाहर आते है और साहबलोगो के लिए मजे-मजे घोडे कसने जाते है।

मकान के और पास जाने पर एक दूसरे पियानो की आवाज सुनाई देती है। सगीतालय की एक नवयुवती विद्यार्थिनी, जो लडको को संगीत सिखाने के लिए वही रहती है, एक प्रसिद्ध राग का अभ्यास कर रही है। दोनो पियानो की स्वर-लहरिया एक दूसरे से टकरा रही है। मकान के पास ही दो नर्से जा रही है—उनमे से एक युवती है और दूसरी वृद्धा। वे बच्चो को सुलाने ले जा रही है—ये बच्चे उतने ही बडे है जितने वे छोकरे जो पानी के बर्तन गाव से खेत दौडते हुए ले गए थे। एक नर्स अग्रेज है और रूसी भाषा नही बोल सकती। वह इग्लैण्ड से विशेष रूप से बुलाई गई है—इसलिए नही कि वह अपनी किसी योग्यता के लिए प्रसिद्ध है, बल्कि इसलिए कि वह रूसी भाषा नही जानती। इनसे थोडी दूर पर एक किसान दो औरतो के साथ मकान के पास की फुलवारी सीच रहा है। वही एक और आदमी कुअर साहब की बन्दूक साफ कर रहा है।

और इधर देखिए, दो स्त्रिया धुले हुए कपडो की एक टोकरी लिये जा रही है। इन्होंने इन बाबूसाहबो और उनके अग्रेज व फ्रासीसी अध्यापको के कपडे धोए है। दो स्त्रियो को चीनी के जूठे बर्तनो को माजने से ही फुर्सत नही मिल पा रही है। सफेद कोट पहने हुए दो किसान नीचे-ऊपर दौड-दौडकर कॉफी, चाय, शराब तथा सेल्जर-पानी*

---

* जर्मनी के सेल्जर नामक स्थान का पानी, जिसमे अनेक प्राकृतिक ओषधि-गुण होते है।

पिला रहे है। मेज पर खाना रखा हुआ है। साहवलोग अभी-अभी खाना खाकर उठे है। अभी थोड़ी देर वाद वे फिर खाने वैठेंगे और आधीरात तक या रात के तीन वजे तक या, जैसा कि प्राय होता है, सवेरे तड़के तक खाते रहेंगे।

इनमें से कुछ लोग वैठे-वैठे सिगरेट पी रहे है और ताश खेल रहे है। कुछ लोग सिगरेट का धुआ उडाते हुए उदारवाद (Liberalism) की चर्चा कर रहे है; दूसरे लोग घूम-फिर रहे है, खा रहे है, सिगरेटे उडा रहे है और जी न लगने पर घोडागाडी पर सवार हो टहलने जाने का निश्चय करते है। इन भद्र स्त्री-पुरुपो की सख्या कुल मिलाकर पन्द्रह के लगभग है। वे सभी स्वस्थ है और उनकी सेवा में तीस हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष लगे हुए हैं।

और यह सव उस देहात में हो रहा है, जहाका एक-एक क्षण और एक-एक व्यक्ति वहुमूल्य है। यही दशा जुलाई में भी रहेगी जवकि किसान लोग जौ को खराव न होने देने के लिए नीद हराम करके रात-रात भर कटाई करेंगे, जव स्त्रिया मुह-अधेरे ही उठकर गट्ठर वाधने के लिए पुआल कूटेंगी, जव फसल के काम से विलकुल थककर वह वुढिया, वह वच्चो की मा और वे छोटे-छोटे लडके खूव कस-कसकर वूते से वाहर काम करेगे और अत्यधिक पानी पीने के कारण वीमार हो जायगे, जव नाज को गोदाम तक उठाकर लाने के लिए आदमियो, घोड़ो और गाडियो की कमी पड़ जायगी—उसी नाज को, जिससे सवका पेट भरता है और जिसकी लाखो मन के परिणाम में प्रतिदिन रूस में आवश्यकता होती है ताकि वहा के लोग भूखो न मरे। उस समय भी इन भद्र लोगो का वही ढर्रा रहेगा, थियेटर-तमाशे, सैर-शिकार, खाने-पीने, पियानो वजाने, नाचने-गाने आदि का वही अनत सिलसिला चलता रहेगा।

यहा हम धनी लोग यह वहाना नही वना सकते कि ऐसा तो सदा ही होता है, किसी वात की पहले से तैयारी थोड़े ही की गई थी ? यहां अत्यधिक भार से झुके हुए किसानो से उनका अनाज और श्रम लेकर स्वय हमलोग वडी चतुराई से इस प्रकार की जीवन-पद्धति की व्यवस्था करते है। हम इस प्रकार जीवनयापन करते है मानो उस मरती हुई

धोबिन, उस पन्द्रह वर्षीया वेश्या, उस सिगरेट बनाते-बनाते थकी हुई स्त्री और अपने आसपास की उन बुढियों और बच्चो से हमारा कोई सम्बन्ध नही, जो कठोर श्रम के कारण क्लात हो गए है और जिन्हे भर पेट रोटी नही मिलती। हमलोग भोग-विलास में कुछ इस प्रकार लिप्त रहते है मानो ऐसी बातो का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध ही न हो। हम आखे खोलकर यह देखना नही चाहते कि यदि हमारा जीवन इतना आलस्यपूर्ण, विलासमय और पतित न होता तो मजदूरो और किसानो को इतना कडा परिश्रम न करना पड़ता। हम यह भी समझने की चेष्टा नही करते कि हम जैसा जीवन बिताना चाहते है वह निर्धनो के कठोर श्रम के बिना असम्भव है। हम लोग सोचते है कि उनकी यन्त्रणाए हमारे जीवन से बिलकुल भिन्न है और हमारा वर्त्तमान जीवन हस की तरह निर्मल और पवित्र है।

हम रोमनो के जीवन-वृत्त पढते है और उन निर्दय धनाढ्यो के अमानुषिक व्यवहार पर आश्चर्य प्रकट करते है जो स्वयं तो बढिया-बढ़िया भोजन करते थे और कीमती-कीमती शराबे पीते थे, जबकि जन-साधारण भूख से तडप-तडप कर मरते थे। इसी तरह हम सिर हिलाकर अनेक दास-दासी रखनेवाले अपने उन पूर्वजो के जगलीपन पर विस्मय करते है जो घरेलू सगीत और नाटक-मडलियो का सगठन किया करते थे और अपने उपवनो की देखभाल के लिए पूरे गांव के गाव लिख देते थे। हमलोग अपनी मानवता के उच्च शिखर पर बैठे हुए उनपर आश्चर्य प्रकट करते है।

इसैया के पाचवे प्रकरण मे हम निम्नलिखित वाक्य पढते है —

८—"धिक्कार है उन लोगो को जो इस भय से कि वे ससार के मध्य अकेले ही न रह जाय, मकान-से-मकान और खेत-से-खेत जोडते चले जाते है और ऐसा उस समय तक करते रहते है जबतक कि कही कोई खाली जगह ही नही रह जाती।"

११—"धिक्कार है उन लोगो को जो तेज शराब पीने के लिए सवेरे ही उठ खडे होते है और रात तक ऐसा ही करते रहते है जबतक कि नशा उनके अदर आग नही पैदा कर देता।"

१२—"और उनके भोजो में वीन, सारगी, ढोलकी, बसी और शराब होते है, किंतु वे न तो ईश्वर की सृष्टि को मानते है, न उसकी कृपाओ पर ध्यान देते हैं।"

१८—"धिक्कार है उन लोगो को जो अहकार और पाप की रस्सी से अन्याय की गाड़ी चला रहे है।"

२०—"धिक्कार है उन लोगो को जो बुरे को अच्छा और अच्छे को बुरा कहते है, जो प्रकाश को अंधकार और अधकार को प्रकाश समझते है और जो कड़ुवे को मीठा और मीठे को कड़ुवा ठहराते है।"

२१—"धिक्कार है उन लोगो को जो अपने-आपको बुद्धिमान और ज्ञानी मानते है।"

२२—"धिक्कार है उन लोगो को जो शराब पीने मे वीर है और जिनकी शक्ति तेज शराब के प्याले बनाने में खर्च होती है।"

२३—"धिक्कार है उन लोगो को जो पुरस्कार के लोभ में दुष्टो का समर्थन करते है और साधु पुरुषो को उनकी साधुता से वचित करते है।"

हम इन शब्दो को पढ़ते है और हमें ऐसा लगता है मानो इनका हमसे कोई सम्बन्ध नही।

बाइविल (मैथ्यू प्रकरण ३ पद १०) में लिखा है —

"और अब भी वृक्षो की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाई जाती है और अच्छा फल न देनेवाला प्रत्येक वृक्ष काटकर आग मे झोक दिया जाता है।"

हम लोगो को पूरा विश्वास है कि हम तो फल देनेवाले अच्छे वृक्ष है और ये शब्द हमारे लिए नही बल्कि दूसरो के लिए कहे गए हैं जो बुरे है।

ईसैया के छठे पद मे कहा गया है—

१०. "इन लोगो के मन को चर्वी से मोटा करदो, इनके कान बहरे करदो और इनकी आखे बद करदो, जिससे वे अपनी आखो से देख न ले, कानो से सुन न ले और हृदय से समझ न लें और अपने जीवन मे परिवर्तन करके अच्छे न बन जाय।"

११. "तब मैंने पूछा—हे नाथ, कबतक ? और उन्होंने उत्तर दिया—जबतक शहर और मकान नष्ट-भ्रष्ट होकर जनशून्य न हो जायं और सारी भूमि पूरी तरह उजाड न हो जाय।"

हम लोग ये बाते पढते है और यह सोचने के लिए बिलकुल तैयार हो जाते है कि यह अद्भुत काम हमारे लिए नही बल्कि किसी और के लिए किया गया है। किंतु हमारे यह सब न देख पाने का एक मात्र कारण यह है कि यह अद्भुत काम वस्तुत हमारे साथ बराबर किया जा रहा है। न तो हम सुनते है, न देखते है और न सच्चे हृदय से किसी बात को समझते ही है। इस सबका क्या कारण है ?

: २६ :

श्रेष्ठता का मिथ्या अहंकार

एक आदमी जो अपने को ईसाई न सही, सभ्य और दयालु भी न सही, केवल एक ऐसा मनुष्य मानता है जिसमें विवेक और मनुष्यता के थोडे-बहुत सकेत मिलते है वह भला कैसे इस प्रकार जीवन बिताना पसन्द कर सकता है कि मानव-समाज के जीवन-संघर्ष मे भाग लिये बिना ही वह सघर्ष मे भाग लेनेवालो के श्रम को हडपता रहे और अपनी मागो से न केवल सघर्ष करनेवालो के सिर का बोझ बढाता रहे बल्कि साथ-ही-साथ सघर्ष करते-करते मर मिटनेवालो की सख्या में भी वृद्धि करता रहे ? फिर भी हमारा कथित ईसाई और सभ्य समाज ऐसे लोगो से भरा पडा है। यही नही, हमारे ईसाई और सभ्य समाज का तो आदर्श ही यह है कि अधिक-से-अधिक सम्पत्ति-सग्रह की जाय, अर्थात् इतना धन एकत्र किया जाय कि उससे सब तरह का आराम मिले और हाथ-पैर हिलाने की आवश्यकता न पडे। दूसरे शब्दो में यो कहिए कि हम स्वयं तो जीवन-सघर्ष से स्वतत्र होना चाहते है और उस संघर्ष में खप जानेवाले अपने भाइयो के श्रम का पूरा शोषण करने का अवसर प्राप्त करना चाहते है।

मनुष्य ऐसी आश्चर्यजनक भूल कैसे कर बैठा ? उसकी यह दशा कैसे हुई कि जो बात इतनी स्पष्ट और असदिग्ध है उसे वह न तो देख पाता, न सुन पाता, न हृदय से समझ ही पाता है ?

इसके उत्तर में यदि हम केवल एक मिनिट के लिए गम्भीरतापूर्वक विचार करे तो हम यह देखकर स्तम्भित रह जायगे कि जो लोग अपने को ईसाई न सही, केवल दयालु और सभ्य कहते है, उनके आचरण और विश्वास मे आश्चर्यजनक अतर है।

चाहे यह विधाता के अच्छे या बुरे विधान के कारण हो, चाहे प्रकृति के उस नियम के कारण जिसके अनुसार समस्त ससार और मानव-समाज का सचालन होता है--सत्य यह है कि हमारी जानकारी के आरम्भ से ही ससार मे मनुष्य की कुछ ऐसी स्थिति रही है और अब भी है कि उसे नगा रहना पडता है, जाडे से बचने के लिए उसे ऊनी कपडा नही मिलता, शरण के लिए गडहे नही मिलते और खाने के लिए अन्न नही मिलता, यद्यपि वह इस अन्न को खेतो मे उसी तरह पा सकता है जिस तरह राबिन्सन क्रूसो ने अपने द्वीप मे पा लिया था। मनुष्य की स्थिति कुछ ऐसी है कि सब लोगो को अपना तन ढकने, अपने लिए कपडे बनवाने, अपने चारो ओर चहारदीवारी खडी करने या ऊपर से बचाव के लिए छप्पर डालने और खाना पैदा करने के लिए प्रकृति मे निरतर सघर्ष करना पडता है, ताकि वे दिन मे दो-तीन बार अपनी और अपने असमर्थ बच्चो व बूढो की क्षुधा शात कर सके।

मनुष्य-जीवन का हम चाहे किसी भी स्थान, काल या परिमाण मे अध्ययन करें--चाहे यूरोप में, चाहे चीन, अमरीका या रूस मे, चाहे सम्पूर्ण मानव-समाज का, चाहे उसके एक छोटे-से भाग का, चाहे प्राचीन काल के खानाबदोशो का, चाहे भाप के इजनो, सीने की मशीनो, बिजली की रोशनियो और कृषि के नवीन साधनो के बीच रहनेवाले वर्तमान मानव-जीवन का--हमे एक ही बात दिखाई देगी, वह यह कि निरतर कठोर काम करने पर भी मनुष्य अपने और अपने बाल-बच्चों व बूढो के लिए पर्याप्त मात्रा मे अन्न, वस्त्र और स्थान प्राप्त नही कर पाता और बहुत-से लोग जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओ के अभाव के कारण

और उनकी प्राप्ति के लिए अतिशय परिश्रम करने के कारण काल-कवलित हो जाते हैं।

हम चाहे कही भी रहे, यदि हम अपने चारो ओर एक लाख, एक हजार, दस या एक ही मील का वृत्त बनालें और उसके अदर के लोगो के जीवन पर दृष्टिपात करे तो उसमें हमे क्षुधा-पीडित बच्चे, बूढे, बुढिए, गर्भिणी स्त्रिया और बीमार व दुर्बल लोग दिखाई देंगे जिनकी पर्याप्त भोजन और आराम न मिलने के कारण अकाल मृत्यु हो जाती है। इनके अलावा वहा ऐसे आदमी भी दिखाई देंगे जो विपदास्पद और हानिकारक कार्य करते रहने के कारण भरी जवानी मे ही चल बसते हैं।

हम देखते है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही लोगो को अपनी साधारण आवश्यकताओ के लिए सघर्ष करना पडा है और बडी-बडी चेष्टाओ, हानियो तथा यातनाओ के बाद भी वे उसपर विजय नही पा सके हैं। हम यह भी जानते है कि हम चाहे कही भी रहे और कैसे भी रहे हममें से प्रत्येक व्यक्ति प्रति दिन और प्रति घटे इच्छापूर्वक या अनिच्छा से मानव-श्रम से उत्पन्न किए हुए पदार्थो का थोडा-बहुत उपभोग करता है। मनुष्य चाहे जहा और जिस तरह रहता हो, यह निश्चित है कि उसका मकान और उसके सिर पर की छत अपने-आप नही बनी। उसकी अगीठी में जो लकडी जल रही है और उसपर जो पानी पक रहा है वे वहा स्वय नही चले आए। इसी तरह पकी-पकाई रोटी, भोजन, कपड़े और जूते आसमान से नही टपक पडे। ये सारे पदार्थ मनुष्य द्वारा बनाए गए है। इन्हे केवल बीते युग के मनुष्यो ने नही बनाया था, जो अब मर-खप गए है, बल्कि सदा इन्हे मनुष्य ही बनाते आए है और आज भी इन्हें हमारे लिए मनुष्य ही बना रहे हैं। इनमें से सैकडो और हजारो व्यक्ति अपने और अपनी सतान के लिए जीवन की अनिवार्य आवश्यकताओ—भोजन, वस्त्र व स्थान—का प्रबन्ध करने और अपने को यत्रणा तथा अकाल मृत्यु से सपरिवार बचाने की निष्फल चेष्टा करते हुए सूख-सूखकर मर जाते हैं। अभाव के साथ वे सब-के-सब सघर्ष करते हैं और इतना प्रबल सघर्ष करते ह कि प्रति क्षण

उनके आसपास उनके भाई, बाप, मा और बच्चे काल-कवलित होते रहते है।

इस संसार के निवासी तूफान में फसे हुए जहाज के उन यात्रियो के समान है जिनके पास भोजन-सामग्री बहुत कम रह गई है। ईश्वर या प्रकृति ने हमे ऐसी स्थिति मे डाल दिया है कि आपदा से बचने के लिए कम-से-कम भोजन करना और निरतर उद्योग करते रहना हमारे लिए अनिवार्य हो गया है। यदि हममें से कोई व्यक्ति ऐसा न करे और दूसरे के उस श्रम का उपभोग कर ले जो सामान्य हित के लिए आवश्यक नही है तो यह हमारे और हमारे सहकारियो दोनो के लिए नाशकारी है।

क्या कारण है कि आजकल के अधिकाश शिक्षित व्यक्ति न केवल स्वय परिश्रम न करके शान्तिपूर्वक दूसरो के उस श्रम का उपभोग कर लेते है जो उनके जीवन के लिए आवश्यक है, बल्कि यह भी समझते है कि उनका ऐसा करना सर्वदा स्वाभाविक एव उचित है ?

अपने-आपको स्वाभाविक और उचित श्रम से मुक्त करके और श्रम का भार दूसरो के कन्धो पर लाद करके भी यदि हम अपने को चोर और धोखेबाज नही समझते तो इस सम्बन्ध में केवल दो ही धारणाए बनाई जा सकती है—(१) हम लोग जो साधारण श्रम में भाग नही लेते, मजदूरो से भिन्न है और समाज में हमारा एक विशेष कार्य है, ठीक उसी तरह जैसे नर-मधुमक्खी या रानी मधुमक्खी का काम परिश्रमी मधुमक्खियो से भिन्न होता है। (२) जीवन-सघर्ष से मुक्त होकर हमलोग दूसरो के लिए जो काम कर रहे है वह इतना उपयोगी है कि उससे निश्चय ही उस क्षति की पूर्ति हो जाती है जो हम उनपर ज्यादा बोझ लादकर उन्हे पहुचाते है।

पुराने जमाने में जो लोग दूसरो के श्रम का शोषण करते थे वे दो बातें कहा करते थे—एक तो यह कि वे एक विशिष्ट कुल के जीव है और दूसरे यह कि उन्हे ईश्वर ने दूसरो के कल्याण की व्यवस्था करने अर्थात दूसरो पर शासन करने और उन्हे शिक्षित बनाने के लिए विशेष रूप से यहा भेजा है। इसी धारणा से प्रेरित होकर वे दूसरो

को आश्वासन देते थे और प्राय स्वयं भी विश्वास करते थे कि जो कुछ वे कर रहे हैं वह उस श्रम की अपेक्षा, जिसका वे उपभोग करते हैं, जनता के लिए अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। जबतक लोगो में यह विश्वास बना रहा कि मानव के विधान में ईश्वर का प्रत्यक्ष हाथ है और कुछ जातिया ऊची व कुछ नीची होती हैं, तबतक यही तर्क चलता रहा। किंतु ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव होने पर और उसके फलस्वरूप समस्त मानव-समाज मे समानता व एकता की भावना जागृत हो जाने पर यह तर्क इस रूप में नही चल सका। अब यह कहना सम्भव नही रह गया कि मनुष्यो के भिन्न-भिन्न कुल होते हैं, उनकी भिन्न-भिन्न विशेषताए होती है और उनके कार्य भी भिन्न-भिन्न होते है। स्वभावत यह तर्क, जिसे कुछ लोग अब भी काम में लाते हैं, क्रमश लुप्त होता गया और अब तो कदाचित् ही कही सुनाई देता है।

मनुष्य के विभिन्न कुलो के भेद की दलील तो अब जाती रही; किंतु यह बात अभी ज्यो-की-त्यो बनी हुई है कि शक्तिशाली व्यक्ति अपने-आपको श्रम से मुक्त रखकर दूसरो के श्रम का उपभोग करते है। इस वर्तमान स्थिति को उचित ठहराने के लिए बराबर बहाने गढ़े जाते रहे हैं, ताकि मानव की वंश-विशेषता को स्वीकार किये बिना ही लोग अपने-आपको श्रम से वंचित रखना उचित समझ सके। इस प्रकार के अनेक तर्क गढे गए हैं। यह बात विचित्र तो मालूम होती है, किंतु है बिलकुल सत्य कि जो कुछ भी विज्ञान के नाम से पुकारा जाता है उसका मुख्य उद्देश्य, उसकी मुख्य प्रवृत्ति ही ऐसे तर्क गढने की रही है और अब भी है। धर्म-विज्ञान, न्याय-विज्ञान और तथाकथित दर्शन-शास्त्र का भी यही उद्देश्य रहा है। इधर कुछ दिनो से वर्तमान भौतिक विज्ञान का भी यही उद्देश्य हो गया है, यद्यपि इस तर्क को प्रयोग में लानेवाले लोगो को यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत होती है।

जिन धार्मिक बारीकियो द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई थी कि एक विशेष सम्प्रदाय ही ईसा मसीह का सच्चा अनुयायी है और इसलिए लोगो की आत्माओ तथा शरीर पर उसीका पूर्ण और असीमित

अधिकार हैं---उन धार्मिक बारीकियो का मुख्य उद्देश्य ऐसा करना ही था। न्याय-विज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाले राजनीतिक, फौजदारी, दीवानी और अतर्राष्ट्रीय कानूनो का भी यही उद्देश्य हैं। इसी तरह अधिकाश दार्शनिक सिद्धान्त भी---विशेषतः हीगेल* का सिद्धान्त जिसकी वहुत दिनो तक मान्यता रही थी---यही बात सिद्ध करना चाहते थे। हीगेल का मत था कि वर्त्तमान स्थिति उचित है और व्यक्तित्व के विकास के लिए राज्यतत्र आवश्यक है।

एक बडी ही निम्न कोटि के अग्रेज लेखक ने, जिसकी दूसरी पुस्तको को लोग बिलकुल भूल गए हैं और तुच्छ-से-तुच्छ पुस्तको से भी तुच्छ समझते है, जन-सख्या पर एक पुस्तक लिखी। उसमें उसने इस कृत्रिम सिद्धांत का आविष्कार किया कि जन-सख्या की वृद्धि जीवनदायी साधनो की वृद्धि के अनुपात से नही होती। उसने अपने इस मिथ्या सिद्धान्त का वर्णन गणित के कुछ निर्मूल सूत्रो के रूप मे किया और उसे संसार के सम्मुख ला उपस्थित किया। वह पुस्तक इतनी तुच्छ थी और उसमे योग्यता का इतना अधिक अभाव था कि उसे देखकर यही आशा की जा सकती थी कि उसकी ओर किसीका ध्यान आकर्षित नही होगा और वह पुस्तक लेखक की बाद की अन्य पुस्तको के समान ही कूडे के ढेर मे डाल दी जायगी। इसके सर्वथा विपरीत, उस पुस्तक के लेखक की गणना तत्काल प्रामाणिक अर्थशास्त्रज्ञो मे होने लगी और लगभग पचास वर्ष तक उसे वही सम्मान प्राप्त रहा। लेखक का नाम था माल्थस और उसका सिद्धान्त यह था कि जन-सख्या मे तो गुणानुसार वृद्धि होती है, (जैसे २, ४, ८, १६) किंतु जीवनोपयोगी साधन साधारण गणित की रीति के बढते है (जैसे १, २, ३, ४)। माल्थस ने जन-सख्या को रोकने की प्राकृतिक और मानुषी विधियो पर भी प्रकाश डाला और उसकी सब बाते एकदम वैज्ञानिक तथा असदिग्ध

---

* जार्ज विलहेल्म फ्रेडरिक हीगेल (१७७०-१८३१) प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक और प्रोफेसर, जिनका यह मत था कि जो सत्य है वही तर्क-संगत है और जो तर्कसगत है वही सत्य है।

सत्य मानी जाने लगी। इन्हें प्रयोग की कसौटी पर कसा नही गया वल्कि सिद्धांत रूप में प्रतिपादित करके भावी निष्कर्षो का आधार मान लिया गया। पडित और शिक्षित लोगो ने इसी प्रकार काम किया और काहिल जनता में तो माल्थस द्वारा प्रतिपादित इस महान नियम के प्रति बड़ा श्रद्धापूर्ण विश्वास उत्पन्न हो गया।

ऐसा क्यो हुआ ? ये वैज्ञानिक निष्कर्प तो ऐसे जान पडते है मानो उनका साधारण जनता की भावना से कोई सम्वन्ध ही न हो।

किंतु ऐसा उसी व्यक्ति को प्रतीत होता है जो समझता है कि अर्थशास्त्र भी गिरजाघर के समान एक स्वय-सिद्ध सस्था है जिससे कभी कोई भूल हो ही नही सकती। उसकी सम्मति मे अर्थशास्त्र उन दुर्वल और भूल कर सकनेवाले व्यक्तियो का विचारमात्र नही है, जो महानता का प्रदर्शन भर करने के लिए अपने विचारो और शव्दो को 'विज्ञान' कहकर पुकारने लगते है।

यह जानने के लिए कि माल्थस का सिद्धान्त एक मनुष्य-कृत सिद्धान्त है और उसके कुछ निश्चित ध्येय है, केवल इस वात की आवश्यकता है कि हम उस सिद्धान्त से व्यावहारिक परिणाम निकालने की चेष्टा करें।

माल्थस के सिद्धान्त से जो - प्रत्यक्ष निष्कर्ष निकले वे इस प्रकार थे—श्रमजीवियो की दुर्दशा का कारण धनी और शक्तिशाली वर्ग का अहकार, निर्दयता और सहानुभूति का अभाव नही है, वल्कि एक ऐसा स्थायी नियम है जिसमें मनुष्य का कोई हाथ नही और जिसका दोप यदि किसी पर है तो स्वयं भूखे मजदूरो पर। जव वे जानते है कि उनको खाने को कुछ नही मिलेगा तो वे जन्म लेने की मूर्खता ही क्यों करते है ? अत धनी और समर्थ लोगो का कोई दोप नही, वे पहले की ही तरह शातिपूर्वक जीवन विताते रह सकते है।

यह निष्कर्प आलसी वर्ग के लिए इतना वहुमूल्य था कि समस्त शिक्षित-समाज मे उसकी प्रामाणिकता की रत्ती भर भी चिंता नही की गई और न उसकी अशुद्धता तथा पूर्णत. अवैध रूप पर भी ही ध्यान दिया गया। शिक्षितो—या यो कहिए कि काहिलो—को जैसे ही इस

सिद्धान्त के भावी फल का पूर्वभास मिला वैसे ही उन्होंने उसकी बड़े उत्साह के साथ सराहना की, उसपर सत्य अर्थात् अर्थशास्त्र की मोहर लगाई और पचास वर्ष तक उसका खूब ढोल पीटा।

काम्टे[1] का साकारवाद (Positivism) और उससे निकला हुआ यह सिद्धान्त कि समाज एक विराट शरीर के समान है; डार्विन[2] का जीवन-सघर्ष का सिद्धान्त, जिसके अनुसार माना जाता है कि यह सघर्ष ही जीवन का सचालन करता है और मानव-समाज की वश-विभिन्नता का प्रतिपादन करता है; इसके अलावा मानस-शास्त्र, जीव-शास्त्र और आजकल के लोगो को बहुत पसन्द आनेवाला समाज-शास्त्र,——इन सबका भी वही ध्येय है। इन सब शास्त्रो के लोकप्रिय होने का कारण यही है कि वे उस विधि को न्यायोचित घोषित करते है जिसके अनुसार लोग अपने को श्रम-विषयक मानवीय कर्त्तव्य से मुक्त कर लेते है और दूसरे लोगो के श्रम के प्रतिफल का छक-छककर उपभोग करते है।

जैसा कि सदा से होता आया है, इन सिद्धान्तो का निर्माण सर्व-प्रथम पुरोहितो की गुप्त गुफाओ में हुआ। उसके बाद ये अनिश्चित और अस्पष्ट रूप मे जन-साधारण में फैल गए और लोगो ने इन्हे इसी रूप में स्वीकार कर लिया। जिस प्रकार पुरातन काल में धर्म-पडितो और राज्य द्वारा की गई हिंसा का समर्थन करनेवाली धार्मिक सूक्ष्मताओ का ज्ञान विशेष रूप से केवल पुरोहितो को होता था और जन-साधारण में केवल यह गढा-गढाया सिद्धात प्रचलित था कि राजाओ, पुरोहितो और कुलीनो की सत्ता एक पवित्र सत्ता है और जनता ने इस सिद्धान्त

---

१ आगस्ट काम्टे (१७९८-१८५७) प्रसिद्ध फ्रासीसी दार्शनिक और साकारवादी जीवन-सिद्धान्त का प्रवर्तक। काम्टे का मत था कि मनुष्य केवल गोचर पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और वह ज्ञान सम्पूर्ण नही बल्कि अपेक्षाकृत होता है।

२ चार्ल्स राबर्ट डार्विन (१८०९-१८८२) जगत्प्रसिद्ध ब्रिटिश विज्ञानवेत्ता, जिनका विकासवादी सिद्धान्त अभी कुछ समय पहले तक मान्य रहा है।

को स्वीकार भी कर लिया था, उसी प्रकार बाद में तथाकथित शास्त्र की दार्शनिक और कानूनी बारीकियो का परिचय केवल शास्त्र-पारगत पुरोहितो को रहा और जन-साधारण में केवल यह सिद्धान्त प्रचलित रहा कि समाज का संगठन वैसा ही होना चाहिए जैसा है और वह इसके विपरीत हो ही नही सकता। जनता ने इस सिद्धान्त को श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर लिया था।

यही दशा आज भी है। मानव-जीवन और शारीरिक विकास के नियमो का विश्लेषण आजकल केवल वैज्ञानिक पुरोहितो की गुफाओ में किया जाता है। जहा तक जनता का प्रश्न है, वह तो विश्वासपूर्वक यह निष्कर्ष स्वीकार कर लेती है कि श्रम-विभाजन का नियम अर्थशास्त्र द्वारा प्रमाणित नियम है, इसलिए व्यवस्था उसीके अनुसार होनी चाहिए, अर्थात कुछ लोग तो काम करते-करते और भूखो तडफ-तडफ कर मर जाय और कुछ लोग सदा आनन्द उडाय। इस प्रकार कुछ लोगो का चक्की मे पिसते रहना और कुछ लोगो का मौज उडाना ही मानव-जीवन का असंदिग्ध नियम है जिसे हम सबको स्वीकार कर लेना चाहिए।

शिक्षित कहे जानेवाले सब लोगो में—रेलवे-कर्मचारियो से लेकर लेखको और कलाकारो तक में—इस काहिली की अब जो सफाई दी जाती है वह इस प्रकार है—

हम लोग, जिन्होने अपने-आपको जीवन-सघर्ष के सामान्य मानवीय कर्त्तव्य से मुक्त कर लिया है, ससार की उन्नति करने मे लगे हुए है; इसलिए हम समस्त मानव-समाज की ऐसी सेवा कर रहे है जिससे उन समस्त क्षतियो की पूर्ति हो जाती है जो हम दूसरो को उनके श्रम का शोषण करके पहुचाते है।

हमारे युग के लोगो को यह तर्क उस तर्क से भिन्न प्रतीत होता है जिसके बल पर पुरातन काल के अकर्मण्य व्यक्ति अपनी अकर्मण्यता का औचित्य सिद्ध किया करते थे। हम लोगो को यह तर्क वैसा ही लगता है जैसा रोमन सम्राटो और नागरिको को अपना यह तर्क कि उनके बिना समस्त सभ्य ससार का विनाश हो जायगा मिस्रियो तथा ईरानियो के तर्क से

सर्वथा भिन्न जान पडता था, या जैसा कि इसी प्रकार का तर्क मध्य-कालीन सामतो और पुरोहितो को रोमनो के तर्क से अन्य मालूम देता था।

किंतु यह भेद केवल ऊपरी है। यदि हम अपने वर्त्तमान तर्क के सार की परीक्षा करे तो हमे यह तत्काल विश्वास हो जायगा कि इस तर्क मे कोई नई बात नही है; इसपर थोड़ा-सा रग चढा हुआ है, किंतु है यह वही वस्तु क्योकि दोनो का आधार एक ही है। अपने-आप काम न कर दूसरों के श्रम के उपभोग को उचित ठहराने का प्रत्येक प्रयत्न —चाहे वह फराऊन और उसके पुरोहितो का हो, चाहे रोमन और मध्य कालीन राजाओ, सामतो, पुरोहितो और पादरियो का—सदा ही दो धारणाओ पर अवलम्बित था — (१) हम लोग जनता के परिश्रम का उपभोग इसलिए करते हैं कि हम विशिष्ट व्यक्ति हैं और ईश्वर ने हम पर सर्वसाधारण पर शासन करने तथा उसे दैवी सत्य सिखाने का उत्तरदायित्व डाला है, (२) सर्वसाधारण में से कोई भी व्यक्ति यह निश्चय करने के योग्य नही कि सर्वसाधारण से कितना काम कराया जाय, क्योकि (जैसा कि फेरीसियो ने पहले ही कहा था) "यह जन-समुदाय जो कानून से अनभिज्ञ है, अभिशापित है" (जॉन, ७-४९)। साधारण जनता यह नही समझ सकती कि उसका हित किस वात मे है, इसलिए वह अपने साथ किये गए उपकारो का भी निर्णायक नही वन सकती।

आजकल जो सफाई दी जाती है वह मुख्यत इन्ही दो मूल धारणाओ पर अवलम्बित है— (१) हम लोग एक विशिष्ट वर्ग के शिक्षित व्यक्ति हैं; हम ससार की सभ्यता और उन्नति मे हाथ वटाकर सर्व-साधारण का महान् उपकार करते है, (२) अशिक्षित जनता अपने ऊपर किये गए उपकारो को नही समझती और इसलिए वह उनका निर्णायक भी नही वन सकती।

श्रम के वोझ से हम अपने-आपको मुक्त कर लेते है, किंतु दूसरो के श्रम का उपभोग कर उनके जीवन का वोझ वढा देते है। फिर भी हम दावा करते है कि इसके वदले हम उनका वड़ा उपकार करते हैं, जिसका वे अपने अज्ञान के कारण मूल्य नही आक सकते।

क्या यह भी वैसा ही तर्क नही है ? अतर केवल इतना है कि प्राचीन काल में दूसरो के श्रम का उपभोग करने का अधिकार रोमन नागरिको, पुरोहितो, वीरो और सामतो को था और आजकल यह अधिकार एक ऐसे वर्ग को है जो अपने को शिक्षित कहता है। इसमें भी वही अशुद्धि है जो पहले में थी। अशुद्धि इस बात में है कि श्रम से मुक्त होनेवाले व्यक्तियो द्वारा जनता के प्रति किये गए उपकारो के सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क करने से पूर्व ही कुछ लोग—उदाहरणत फराऊन, पुरोहित या हम-जैसे शिक्षित व्यक्ति—अपने को कथित उपकार के पद का अधिकारी बना लेते है और उस पदाधिकार को अक्षुण्ण रखते हुए उसकी सफाई देने की युक्ति सोचते है।

इस प्रकार कुछ व्यक्तियो का दूसरे व्यक्तियो के साथ बलात्कार करने की स्थिति में होना ही सारी बातो की जड है। यही स्थिति पहले थी और यही स्थिति अब भी है। तब में और अब में एकमात्र अन्तर यह है कि आजकल का तर्क प्राचीन युग के तर्क से अधिक मिथ्या और कम सुदृढ है।

प्राचीन काल के सम्राट् और धर्माचार्य अपने को ईश्वर का दूत मानते थे और जनता भी उन्हे इसी रूप में स्वीकार करती थी। इसलिए वे सर्वसाधारण को बडी सरलता के साथ समझा सकते थे कि दूसरो के श्रम का उपयोग करने का अधिकार उन्हे ही—सम्राटो और धर्माचार्यो को ही—होना चाहिए। उनका कहना था कि स्वय ईश्वर ने हमें इस काम के लिए नियुक्त किया है और आदेश दिया है कि जिस सत्य का प्रकाश मैंने तुझे दिखाया है उसे तू जनता पर प्रकट कर और उसपर शासन भी कर।

किंतु हमारे युग के शिक्षित लोग, जो मानव के समानाधिकारो को स्वीकार करते हुए भी अपने हाथो से काम नही करते, इस बात का सकारण प्रमाण नही दे सकते कि केवल उन्हे और उनके बच्चो को ही किसी विशेष उपकार को प्रदान करनेवाला विशिष्ट और भाग्यशाली वर्ग क्यो समझा जाय और उन लाखो आदमियो में से किसीको क्यो न चुना जाय जो कुछ थोडे-से व्यक्तियो को शिक्षा प्रदान करते हुए

सैकडो और हजारो की सख्या में मर मिटते हैं ? (ध्यान रहे कि शिक्षा भी केवल रुपए से ही प्राप्त होती है और रुपया शक्ति है) ।

इसका उनके पास एक ही उत्तर है—वह यह कि स्वयं काम न करके और दूसरो के श्रम का उपभोग करके हम उनको जो हानि पहुंचाते हैं उसके बदले हम उनके साथ एक ऐसा उपकार करते हैं जिसे वे समझ नही पाते किंतु जिससे सारी क्षतियो की पूर्ति हो जाती है।

: २७ :

भयंकर भ्रम

जो लोग अपने को परिश्रम से मुक्त कर चुके है वे अपनी सफाई मे जो दलील देते है, उसका सरलतम और बिलकुल ठीक-ठीक रूप यह है—हम लोग अपने-आपको श्रम से बचाकर बलात दूसरो के श्रम का उपभोग करते है और अपनी इसी स्थिति के फलस्वरूप हम उनके साथ उपकार करते है। दूसरे शब्दो में, कुछ लोग जनता के श्रम से बलात् लाभ उठाकर और इस प्रकार प्रकृति के साथ उसके सघर्ष को और भी गम्भीर बनाकर उसे जो प्रत्यक्ष और बोध-गम्य हानि पहुचाते है, उसके बदले वे उसके साथ कुछ ऐसे उपकार करते है जो न तो उसे प्रत्यक्ष दिखलाई ही पडते हैं, न उसकी समझ मे ही आते है। यह बात बडी विचित्र है, किंतु जो लोग पुरातनकालीन व्यक्तियो की तरह आज भी मजदूरो का शोषण करते है, वे इस शोषण मे विश्वास करते है और इसके द्वारा अपनी आत्मा का बोझ हलका कर लेते हैं।

आइए, जरा देखे कि वर्त्तमान काल में जिन विभिन्न वर्गो ने अपने-आपको श्रम से मुक्त कर लिया है वे अपनी सफाई में क्या कहते है ?

वे कहते है—एक राजा, मत्री या पादरी की हैसियत से मैं अपने सरकारी या धार्मिक कार्यो द्वारा जनता की सेवा करता हू। इसी तरह मैं अपनी व्यावसायिक, औद्योगिक, वैज्ञानिक या कलात्मक चेष्टाओ से

भी सवसाधारण को लाभ पहुचाता हूं। हमारी ये समस्त क्रियाए जनता के लिए उतनी ही आवश्यक है जितनी उनकी मजदूरी हमारे लिए है।

अब एक-एक करके उन तर्को की समीक्षा की जाय जिनके आधार पर ये लोग अपने कार्यो की उपयोगिता सिद्ध करते है।

एक व्यक्ति का काम दूसरे के लिए उपयोगी है अथवा नही, इसकी जाच केवल दो ही कसौटियो पर हो सकती है—(१) बाहरी कसौटी अर्थात् जिसका उपकार किया जाता है वह उस उपकार की उपयोगिता को स्वीकार करे, (२) भीतरी कसौटी अर्थात् जो आदमी उपकार करता है उसके इस कार्य के मूल में उपकार की भावना हो।

सरकारी कर्मचारी (जिनमें मै राज्य द्वारा स्थापित गिरजाघरो के पादरियो को भी सम्मिलित करता हू) उन लोगो का उपकार करते है जिनपर वे शासन करते है। सम्राट्, राजा, प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री, न्याय-मन्त्री, युद्ध-मन्त्री, शिक्षा-मन्त्री, बडे पादरी और उनके नीचे काम करनेवाले अन्य सरकारी कर्मचारी अपने-आपको जीवन के सघर्ष से मुक्त कर लेते है। वे कहते है कि अपने विभिन्न पदो पर रहते हुए हम जनता की जो सेवा करते है उससे उपर्युक्त क्षति की पूर्ति हो जाती है।

अब हम उनके इस कथन को पहली कसौटी पर कसकर देखते है। शासक वर्ग के सारे काम प्रत्यक्ष रूप से मजदूरो को ही लक्ष्य करके किये जाते है, किंतु, क्या मजदूर लोग यह स्वीकार करते है कि उन्हें शासको के कार्य से कोई लाभ होता है?

हा, वे इस बात को स्वीकार करते है। अधिकाश लोग राज्यतन्त्र को अपने लिए आवश्यक समझते है और सैद्धातिक दृष्टि से वे उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार करते है। किंतु उसके व्यावहारिक रूप को हम जितना भी देख पाए है और जितनी भी विशिष्ट घटनाओ से हम परिचित है, उन सबमे हमने यही देखा है कि जिन लोगो के उपकार के लिए सरकारी संस्थाए चलाई जाती है और ये काम किये जाते है वे

न केवल यही कहते है कि उन्हें इन सस्थाओ और इन कामो से कोई लाभ नही पहुंचता बल्कि वे इन्हे हानिकारक और विनाशकारी भी बताते है।

राज्य अथवा समाज का एक भी ऐसा कार्य नही जिसे बहुत से लोग हानिकर न समझते हो। इसी तरह एक भी ऐसी सस्था नही जिसे लोग नुकसानदेह न मानते हो; अदालतो, बैको, म्युनिसिपैलिटियो, डिस्ट्रिक्ट बोर्डो , पुलिस, पादरियो, राज्य के बडे-से-बडे अधिकारियो से लेकर नगर तथा ग्राम की पुलिस तक, बडे धर्म-गुरुओ से लेकर कब्र खोदनेवालो तक के कार्य को कुछ लोग लाभदायक और कुछ हानि-कारक मानते है और यह बात केवल रूस में ही नही है बल्कि फ्रांस और अमरीका में भी है।

अमरीका मे रिपब्लिकन दल के सारे काम को डेमोक्रेटिक दल हानिकर समझता है और इसी प्रकार शासन की बागडोर जब डेमोक्रेटिक दल के हाथ मे होती है तब रिपब्लिकन दल* के लोग और दूसरे लोग भी उसके सारे काम को बुरा समझते है।

बात इतनी ही नही है कि सरकारी कामो को साधारणत सभी लोग उपयोगी नही समझते, बल्कि यह भी कि उन्हे व्यावहारिक रूप देने के लिए पाशविक बल का प्रयोग करना पडता है और उनसे लोगो का उपकार करने के लिए हत्याए, फासी, जेल, करो की बलात् वसूली आदि बाते आवश्यक हो जाती है।

इससे दो निष्कर्ष निकलते है, एक तो यह कि सभी लोग सरकारी कार्य की उपयोगिता को स्वीकार नही करते और कुछ लोग उसे सदा अस्वीकार करते है, दूसरे यह कि उस उपयोगिता की विशेषता इस बात मे निहित है कि वह सदा हिंसात्मक प्रयोगो द्वारा ही प्राप्त होती है। अतः राजनीतिक कार्यो की उपयोगिता के प्रमाण मे यह बात नही कही जा सकती कि जिनके लिए ये किये जाते है वे इनकी उप-योगिता को स्वीकार करते है।

---

* ये दोनो दल अमरीका के प्रमुख राजनीतिक दल है।

अब दूसरी कसौटी का भी प्रयोग कर देखिए। राजा से लेकर पुलिसमैन तक, राष्ट्रपति से लेकर आफिस के क्लर्क तक और धर्म-गुरु से लेकर कब्र खोदनेवाले तक सब सरकारी आदमियो से कहिए कि वे यह बात सच्चे हृदय से बतलाय कि पद-ग्रहण करते समय उनके मन में जनता के साथ उपकार करने की भावना होती है या कोई दूसरा उद्देश्य। राजा, राष्ट्रपति, मन्त्री, ग्रामीण, चौकीदार, महापात्र या अध्यापक का पद ग्रहण करने की उनकी इच्छा परोपकार की भावना से प्रेरित होती है या वे निजी लाभ के लिए ही इन पदो को ग्रहण करना चाहते है ?

शुद्ध अन्तःकरणवाले व्यक्ति यही उत्तर देंगे कि उनके सारे कार्य मुख्यत व्यक्तिगत लाभ की भावना से ही प्रेरित होते है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि एक वर्ग के लोग दूसरे वर्ग के काम करते-करते मर मिटनेवाले लोगो के श्रम से लाभ उठाकर जो हानि पहुचाते है उसकी पूर्ति वे ऐसे काम से करते है जिसको बहुत-से लोग लाभदायक नही बल्कि हानिकर समझते है, जिसे लोग स्वेच्छापूर्वक स्वीकार नही करते, बल्कि जिसे कार्यान्वित करने के लिए बल का प्रयोग करना पडता है और जिसका उद्देश्य परोपकार नही बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थ होता है।

तो फिर वह कौन-सी बात है जो राजतत्र को जनता के लिए उपयोगी सिद्ध करती है ?

केवल एक बात; वह यह कि जो लोग राजतत्र का सचालन करते है उन्हे उसकी उपादेयता में पूर्ण विश्वास है और राजतत्र सदा से चला आया है। किंतु सदा से चले आने की बात तो यह है कि दासता, वेश्यावृत्ति और युद्ध आदि भी सदा से चले आते है, किंतु वे न केवल निरर्थक बल्कि हानिकारक भी है। औद्योगिक वर्ग जिसमे व्यापारी, कारखानेदार, रेलो और सडको के सचालक, महाजन और जमीदार भी सम्मिलित है—यह विश्वास करते है कि वे जनता का इतना उपकार करते है कि उससे उनके द्वारा की गई समस्त असदिग्ध हानिया पूर्ण हो जाती है।

उनके इस विश्वास का क्या आधार है ? कौन और किस वर्ग के लोग उनके कार्य की उपादेयता स्वीकार करते है ? इस प्रश्न के उत्तर मे राज्य-कर्मचारी, जिनमे पादरी लोग भी सम्मिलित है, उन हजारो और लाखो मजदूरो की ओर सकेत कर सकते है जो सिद्धातत सरकार तथा गिरजा के कामो की उपादेयता को स्वीकार करते है। किंतु बडे-बडे महाजन, शराब बनानेवाले और मखमल, कासे तथा शीशे का काम करनेवाले—तोप बनानेवालो की तो बात ही छोड दीजिए—किसकी ओर सकेत करेगे ? इसी प्रकार जब व्यापारियो और जमीदारो से पूछा जायगा कि क्या आपके द्वारा लिये जानेवाले लाभो को लोकमत स्वीकार करता है तो वे किसकी ओर इगित करेगे ?

यदि इस ससार मे कुछ ऐसे व्यक्ति है जो छीट, रेल, शराब और ऐसी ही दूसरी वस्तुओ के उत्पादन को लाभदायक समझते है तो उनसे कही अधिक ऐसे व्यक्ति मिलेगे जो इनके उत्पादन को हानिकर मानते है। कीमत बढानेवाले जमीदारो और व्यापारियो के कार्य का भला कौन समर्थन करेगा ? ऐसे कामो से मजदूरो की सदा हानि ही होती है और उनके सचालन मे हिंसा का भी प्रयोग किया जाता है। यह हिंसा राजकीय हिंसा की अपेक्षा कम उग्र होती है किंतु इसके परिणाम उतने ही क्रूर होते है, क्योकि सारे औद्योगिक और व्यापारिक कार्य मजदूरो की आवश्यकताओ से लाभ उठाकर चलाए जाते है। उनकी आवश्यकताओ से लाभ उठाकर एक ओर तो उन्हे कठिन और अप्रिय कार्य करने के लिए बाध्य किया जाता है और दूसरी ओर उनकी चीजे सस्ते दामो पर खरीद ली जाती है और जनता को उनकी आवश्यकता की चीजें ऊचे-से-ऊचे भाव पर दी जाती है। उनकी इन्ही आवश्यकताओ से लाभ उठाकर उधार दिये हुए रुपयो का ब्याज वसूल किया जाता है। उनके कार्यों पर चाहे किसी भी दृष्टिकोण से विचार किया जाय हम इसी निष्कर्ष पर पहुचते है कि औद्योगिक वर्ग द्वारा किये गए उपकार को मजदूर लोग न तो सिद्धात की दृष्टि से और न किसी विशिष्ट मामले मे ही स्वीकार करते है। इतना ही नही बल्कि उनमे से अधिकाश लोग उसे नितात हानिकर मानते है।

यदि हम दूसरी कसौटी का प्रयोग करें और पूछें कि औद्योगिक वर्ग के कार्यो की प्रेरक शक्ति क्या है तो हमे जो उत्तर मिलेगा वह शासको के कार्यो के विषय मे मिले हुए उत्तर से भी अधिक स्पष्ट होगा।

यदि कोई सरकारी कर्मचारी कहता है कि उसे अपने व्यक्तिगत स्वार्थो के साथ लोकहित की चिंता करनी पडती है तो उसका विश्वास करना ही पडता है और ऐसे आदमी को सब लोग जानते हैं। किंतु व्यवसाय के आधारभूत सिद्धान्त के कारण उद्योगपति लोकहित को अपना उद्देश्य नही बना सकते और यदि वे धन की वृद्धि और रक्षा के अतिरिक्त अपने सामने कोई दूसरा उद्देश्य रखे तो अपने साथियो की दृष्टि मे वे हास्यास्पद प्रतीत होगे।

अत मजदूर लोग उद्योगपतियो के कार्य को अपने लिए उपयोगी नही मानते। इनके इस कार्य मे मजदूरो के विरुद्ध बल अथवा हिंसा का प्रयोग किया जाता है और उस कार्य का उद्देश्य मजदूरो का उपकार नही बल्कि व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति होता है। तिसपर भी आश्चर्य की बात है कि उद्योगपतियो को अपने द्वारा किये जानेवाले उपकारो की उपयोगिता का इतना अधिक विश्वास है कि इन कल्पित उपकारो के लिए वे अपने-आपको श्रम से मुक्त करके और श्रमिको के श्रम से उत्पन्न हुए पदार्थो का उपभोग करके उनको स्पष्ट और असंदिग्ध हानि पहुचाते है।

वैज्ञानिको और कलाविदो ने भी अपने-आपको श्रम से मुक्त करके उसका बोझ दूसरो पर डाल दिया है। उनका अन्त करण शात होता है और उनको इस बात का पूर्ण विश्वास होता है कि वे दूसरो के साथ ऐसे उपकार कर रहे है जिनसे उनके द्वारा की गई हानि की पूर्ति हो जाती है।

उनके इस विश्वास का आधार क्या है?

जिस तरह हमने सरकारी कर्मचारियो और उद्योगपतियो से पूछा था, उसी तरह हमें इनसे भी पूछना चाहिए कि क्या सारे मजदूर (या उनमे से कुछ लोग ही सही) विज्ञान-कला से प्राप्त होनेवाले उपकारो को स्वीकार करते है?

इसका हमे वडा ही दु खदाई उत्तर मिलेगा ।

शासको और पादरियो के कार्य को प्राय सभी लोग सैद्धातिक दृष्टि से उपयोगी मानते है और व्यवहार मे भी आधे से अधिक मजदूर उसे ऐसा ही समझते है। उद्योग धधेवालो के कार्य को भी कुछ मजदूर उपयोगी मानते है। किंतु वैज्ञानिको और कलाविदो के कार्य की उपयोगिता एक भी मजदूर स्वीकार नही करता। इसकी उपादेयता केवल वे लोग स्वीकार करते है जो इसे कर रहे है या करते रहना चाहते है। श्रमिक लोग—जिनके कधो पर समस्त मानव-जीवन के श्रम का भार होता है और जो वैज्ञानिक तथा कलाविदो के भोजन-वस्त्र का प्रवध करते है, इस वात को स्वीकार नही कर सकते कि वैज्ञानिको और कलाविदो के कार्य से उनको कोई लाभ होता है, क्योकि वे इस कार्य की, जो उनके लिए इतना उपयोगी कहा जाता है, कल्पना तक नही कर सकते। यह कार्य उनको निरर्थक और आचार को भ्रष्ट करनेवाला मालूम पडता है।

ठीक ऐसा ही वे विश्वविद्यालयो, पुस्तकालयो, सग्रहालयो, चित्रशालाओ, शिल्पशालाओ और नाटकगृहो के विषय में भी सोचते है जो उनके पैसे से वनाए जाते है। विज्ञान और कला सम्वन्धी कार्य को तो वे इतने निश्चित रूप से हानिकर समझते हैं कि अपने वच्चो को स्कूल तक नही भेजते। जनता को इसकी उपयोगिता समझाने के लिए और उसे अपने वच्चो को अनिवार्य रूप मे स्कूल भेजने को विवश करने के लिए हर जगह कानून वनाने की आवश्यकता पडी है। मजदूर इस कार्य को सदा विरोध की दृष्टि से देखते है और ऐसा करना वे तभी वद कर सकते है जव वे स्वयं मजदूर न रह जाय और पहले आर्थिक लाभ तथा वाद मे शिक्षा कही जानेवाली वस्तु की सहायता से वे श्रमिक वर्ग से निकलकर उन लोगो के वर्ग मे आ जाय जो दूसरो की पीठ पर चढे रहते है। फिर भी, यद्यपि मजदूर लोग वैज्ञानिको और कलाविदो के काम की उपादेयता को स्वीकार नही करते—और कर भी नही सकते—तथापि उन्हे इस वात के लिए वाध्य किया जाता है कि वे इस कार्य के लाभार्थ त्याग करे।

शासक-वर्ग के लोग आदमियो को सीधे फासी पर लटकवा देते है या जेल भेज देते है। व्यापारी लोग दूसरो के श्रम का शोपण कर उनकी कौडी-कौडी छीन लेते है और उनके मामने यह समस्या ला खडी करते है कि या तो वे भूखो मरे या घृणित दासता स्वीकार करे। किंतु वैज्ञानिक और कलाविद् किसीको विवश नही करते। वे तो अपनी कृति केवल उन लोगो के सामने रखते है जो उन्हे ग्रहण करते है। फिर भी अपनी उस कृति को जन्म देने के निमित्त, जिसकी मजदूरो को विलकुल आवश्यकता नही होती, वे विद्यापीठो, विश्वविद्यालयो, हाईस्कूलो, प्राथमिक पाठशालाओ, अजायवघरो, पुस्तकालयो और सग्रहालयो के निर्माण एव सचालन तथा वैज्ञानिको और कलाविदो के निर्वाह के लिए सरकारी एजेन्टो द्वारा मजदूरो का अधिकाश श्रम जवरदस्ती छिनवा लेते है।

यदि हम वैज्ञानिको और कलाकारो से पूछे कि आप किस उद्देश्य को दृष्टि मे रखकर अपना काम करते है तो हमे वडे मार्के के उत्तर मिलेगे। सरकार से सम्वन्ध रखनेवाले मनुष्य यह उत्तर दे सकते है कि वे जनता के कल्याण को दृष्टि मे रखकर कार्य करते है। इस उत्तर मे तथ्याश भी होता है, जिसका लोकमत भी समर्थन करता है। उद्योगपति भी सार्वजनिक हित को ही अपना उद्देश्य वतला सकते है किंतु उसमे कल्याण-भावना के विद्यमान होने की कम सम्भावना है, यद्यपि समर्थन उसे भी मिल सकता है।

किंतु वैज्ञानिको और कलाकारो का उत्तर तो आश्चर्यजनक रूप से निराधार और हठपूर्ण है। विना किसी प्रकार का प्रमाण दिये ही वे पुराने युग के पुरोहितो की तरह कहा करते है कि समाज के कल्याण के लिए उनका काम सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है और यदि वे काम न करे तो समस्त मानव-समाज विनष्ट हो जाय। यद्यपि उनके सिवा कोई दूसरा आदमी उनके काम की महत्ता को समझता या स्वीकार नही करता और यद्यपि स्वय उनकी परिभाषा के अनुसार सच्चे विज्ञान और सच्ची कला का उद्देश्य उपादेयता नही है, तथापि वे अपने कार्य का गुण गाए विना नही रहते। इस वात की चिंता किये

बिना ही कि उनके काम से जनता को लाभ होगा या नही, वे अपने प्रिय व्यसनो मे लगे रहते है और उन्हे सदा यह विश्वास रहता है कि वे समाज के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण और आवश्यक कार्य कर रहे है। इस प्रकार जहा एक ईमानदार सरकारी कर्मचारी यह मानता है कि उसके काम का मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत लाभ है और फिर भी वह मजदूरो के लिए यथासाध्य उपयोगी बनने का प्रयत्न करता है और इसी तरह जहा व्यवसायी भी अपने कार्य की स्वार्थ-परायणता को स्वीकार करता हुआ उसको सार्वजनिक उपयोगिता का रूप देने की चेष्टा करता है, वहा वैज्ञानिक और कलाकार को न केवल अपने कार्य की उपयोगिता बल्कि उसकी पवित्रता का भी इतना पक्का विश्वास होता है कि वे अपने को उपयोगी बनाने की चेष्टा करने का दिखावा करना आवश्यक नही समझते और उपयोगितावाद के सिद्धात को अस्वीकार तक कर देते है।

अतएव हम देखते है कि एक तीसरी श्रेणी के लोग अपने को श्रम से मुक्त करके और उसका भार दूसरो पर लादकर ऐसे कामो मे लग रहे है जिनको मजदूर-वर्ग समझ ही नही पाते है और जिनको वे निरर्थक तथा बहुधा हानिकारक मानते है। इन कामो को करते समय उन्हे अपने को जनता के लिए उपयोगी बनाने की रत्ती भर भी चिंता नही होती, वे सब कुछ स्वात सुखाय करते है फिर भी किसी कारणवश उन्हे इस बात का पूर्ण विश्वास होता है कि उनका कार्य मजदूरो के जीवन के लिए सदा नितात आवश्यक है।

लोगो ने अपने-आपको जीवन श्रम से मुक्त कर लिया है और उसका भार उन बेचारो पर लाद दिया है जो चक्की पीसते-पीसते ही दम तोड देते है। वे उनके श्रम का शोषण करते है और कहते है कि उनके काम, जो लोगो की समझ मे नही आते और जिनका उद्देश्य दूसरो की सेवा करना नही है, ऐसे होते है जिनसे उस हानि की पूर्ति हो जाती है जो वे अपने-आपको जीवन-श्रम से मुक्त करके और दूसरो के श्रम का उपयोग करके दूसरो को पहुचाते है।

सरकारी कर्मचारी दूसरो के श्रम का शोषण करके और स्वय अपने-आपको जीवन-सघर्ष से मुक्त करके जो असदिग्ध और स्पष्ट

हानि पहुचाते है उसकी पूर्ति करने की चेष्टा करते समय वे एक दूसरी स्पष्ट और असदिग्ध हानि कर बैठते है और वह हानि है सब प्रकार के बल का प्रयोग।

उद्योगपति दूसरो के श्रम के प्रतिफल को हडपकर उन्हें जो असदिग्ध और स्पष्ट हानि पहुंचाते है उसकी पूर्ति करने के अभिप्राय से वे अपने लिए अधिक-से-अधिक धन इकट्ठा करने की चेष्टा करते है जिसका परिणाम यह होता है कि वे दूसरो का अधिक-से-अधिक श्रम ले लेते है। दूसरे शब्दो मे यो कहिए कि वे दूसरो के अधिक-से-अधिक श्रम का शोषण करते है।

इसी प्रकार वैज्ञानिक और कलाकार भी अपने द्वारा मजदूरो को पहुचाई गई निर्विवाद और स्पष्ट क्षति के बदले ऐसे काम करते है जो मजदूरो के लिए बोधगम्य नही है और जो स्वय उनके ही कथनानुसार सत्य तभी हो सकते है जब वे उपयोगिता को लक्ष्य मानकर न किये जाय, किंतु फिर भी जिनकी ओर वे बरबस आकर्षित हो ही जाते है। इस प्रकार इन सब लोगो का यह अटल विश्वास हो गया है कि दूसरो के श्रम का उपभोग करने का उन्हे असदिग्ध अधिकार है।

अत यह स्पष्ट है कि जिन लोगों ने अपने को जीवन-श्रम से मुक्त कर लिया है उनके ऐसा करने का कोई कारण नही है। किंतु आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्हे अपनी सफलता पर पक्का विश्वास होता है और वे आत्मिक निश्चितता के साथ जीवन व्यतीत करते है।

इस भयंकर भ्रम की तह मे कोई बात, कोई झूठा सिद्धान्त अवश्य है।

: २८ :

श्रम से बचने के बहाने

जो लोग दूसरो के श्रम पर जीवन व्यतीत करते है उनका आधार वस्तुत कोई छोटा-मोटा विश्वास नही बल्कि एक पूरा सिद्धात होता है। एक सिद्धात क्यो, सच पूछिए तो तीन सिद्धात होते है जिनका

एक दूसरे के बाद कई शताब्दियों से विकास होता आया है और जिन्होंने अब समन्वित होकर एक भीषण धोखे अथवा पाखण्ड का रूप धारण कर लिया है। इसी पाखण्ड ने दूसरो के श्रम पर जीवन व्यतीत करने वालो की अनैतिकता पर आवरण डाल रखा है।

जीविकोपार्जन के लिए श्रम करना मनुष्य का मूलभूत कर्त्तव्य है, किंतु इस कर्त्तव्य की अवहेलना का समर्थन इस ससार के जिस सबसे पुराने सिद्धात ने किया वह था ईसाई गिरजा का सिद्धात। इस सिद्धात मे बताया गया था कि जिस प्रकार चन्द्रमा और तारो से सूर्य भिन्न है और स्वय तारो मे भी परस्पर विभिन्नता है, उसी प्रकार ईश्वर के आदेशानुसार मनुष्य-मनुष्य मे भी भिन्नता है। कुछ लोगो को ईश्वर ने सब पर, कुछ को बहुतो पर और कुछ को थोडो पर शासन करने के लिए नियुक्त किया है और शेष आदेश पालने के लिए बनाए गए है।

यद्यपि इस सिद्धात की जडें अब हिल गई है तथापि अकर्मण्यता के कारण लोगो पर इसका प्रभाव अब भी शेप है। फलतः अनेक व्यक्ति इसकी शिक्षा को स्वीकार न करते हुए और बहुधा इसमें अपरिचित तक होते हुए भी इसीका अनुसरण करते है।

वर्ग-भेद का समर्थन करनेवाले दूसरे सिद्धात को मैं राज्य-दर्शन का नाम देना उचित समझता हू। इसकी पूरी व्याख्या हीगेल ने की थी। इसमे तत्कालीन स्थिति को ही उचित ठहराया गया था और बताया गया था कि लोगो ने जिस जीवन-क्रम को स्थापित कर लिया है और जिस जीवन-क्रम पर वे इस समय चल रहे है उसे मानव ने जन्म नही दिया है और न मानव उसका परिपोषण ही करता है, वह तो आत्मा या साधारणत सम्पूर्ण मानव-जीवन के प्रस्फुरण का एकमात्र सम्भावित रूप है। किंतु यह सिद्धात भी आजकल के लोक-नेताओ को स्वीकार्य नही है, वह तो केवल हमारी जडता के कारण ही आज भी कायम है।

तीसरा और आजकल का मुख्य सिद्धात वैज्ञानिक है जिसके आधार पर वैज्ञानिक और कलाकार दोनो ही अपनी-अपनी चेष्टाओ का समर्थन करते है। यहा वैज्ञानिक से तात्पर्य वैज्ञानिक शब्द के साधारण अर्थ से नही

है जिसमे साधारणत 'व्यापक ज्ञान' का बोध होता है, वल्कि यहा उसका तात्पर्य एक विशेष प्रकार के ज्ञान से है जिसका रूप और विषय दोनों ही विशिष्ट होते है।

वैज्ञानिक कहा जानेवाला यही वह नया सिद्धात है जिसकी आड में आजकल के अकर्मण्य लोगो की कर्तव्य-च्युति का अपराध मुख्यत. छिपा रहता है।

यूरोप में इस सिद्धात का प्रादुर्भाव उन वहुसख्यक अमीरो और अकर्मण्यो के प्रादुर्भाव के साथ हुआ जो न गिरजा के कर्मचारी थे न राज के, किंतु जिनको अपने पद को न्यायोचित ठहराने की आवश्यकता थी।

अभी बहुत दिन नही हुए फ्रासीसी क्राति के समय तक यूरोप मे जो लोग शारीरिक श्रम नही करते थे उन्हे दूसरो के श्रम पर अधिकार प्राप्त करने के लिए गिरजा, सरकार, या सेना मे किसी निश्चित पद पर होना नितात आवश्यक था। सरकारी कर्मचारी लोगो पर शासन करते थे, गिरजा के कर्मचारी लोगो को दैवी सत्य की शिक्षा दिया करते थे और सैनिक कर्मचारी जनता की रक्षा करते थे।

वस, इन्ही तीन वर्गों के लोग अपने को दूसरो के श्रम का शोषण करने का अधिकारी समझते थे और उसकी सफाई मे वे अपने द्वारा जनता के साथ किये गए उपकारो का बखान कर सकते थे। दूसरे अमीर लोग, जो इस प्रकार की सफाई नही दे पाते थे, घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे और अपने अपराध से परिचित होने के कारण उन्हे अपने धन और आलस्य पर वडी लज्जा आती थी।

किंतु एक समय आया जब राजकीय, धार्मिक व सैनिक वर्गों की त्रुटियो के कारण उनसे सम्बन्धित धनिको की सख्या वढ गई। इस नए वर्ग के भी पक्ष-समर्थन की आवश्यकता प्रतीत हुई और उसके लिए एक तर्क भी गढ लिया गया।

सौ वर्ष भी नही वीतने पाए थे कि इस नए वर्ग के लोगो ने, जो न तो राज्य और गिरजा की नौकरी करते थे न उनके कामो मे ही भाग लेते थे, न केवल पहले तीन वर्गो के लोगो के समान ही दूसरो के श्रम का शोषण करने का अधिकार प्राप्त कर लिया, वल्कि अपने धन और

आलस्य पर लज्जित होता भी बद कर दिया, और वे अपने स्थान को पूर्णत न्यायोचित भी मानने लगे। आजकल इन लोगो की सख्या बहुत बढ गई है और निरतर बढ रही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे ही लोग, जिनका श्रम से मुक्त होने का अधिकार अभी कुछ ही दिन पहले तक न्यायोचित नही माना गया था, अब समझने लगे है कि केवल उनका ही अधिकार पूर्णत न्यायोचित है। इतना ही नही, वे पहले तीन वर्गो की श्रम-मुक्ति को अन्याययुक्त और उनकी चेष्टाओ को हानिकारक मानते हुए उनपर कटाक्ष भी करने लगे है।

इससे भी बडे आश्चर्य की बात तो यह है कि राज्य, गिरजा अथवा सेना के भूतपूर्व सेवक न तो अब अपने ईश्वर-प्रदत्त पद का सहारा लेते है, न व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक माने गए राज्यतत्र के दार्शनिक महत्व पर ही भरोसा रखते है। अब तो उन्होने अपने को इतने दिनो तक सम्हाले रखनेवाले इन अवलम्बो को छोड दिया है और उसी सिद्धात की शरण मे जा रहे है जिसके बल पर वैज्ञानिको और कलाकारो के नेतृत्व में नए प्रमुख वर्ग ने श्रम से मुक्त होने के अपने औचित्य का समर्थन किया है। आजकल यदि कोई सरकारी कर्मचारी अपने पुराने अभ्यास के फलस्वरूप अपनी उच्च सत्ता का समर्थन इस तर्क के आधार पर करता है कि शासन करने का उसे ईश्वर-प्रदत्त अधिकार है या यह कहता है कि राज्य व्यक्तित्व के ही विकास का एक रूप है तो इसका अर्थ यह है कि वह काल-गति का साथ नही दे पा रहा है और अनुभव करता है कि उसका कोई विश्वास नही करता। अपनी सत्ता का ठीक-ठीक समर्थन करने के लिए उसे अब धार्मिक अथवा दार्शनिक अवलम्ब ढूढने की आवश्यकता नही है, अब तो उसे नए वैज्ञानिक तर्कों की सहायता चाहिए। उसके लिए अब यह आवश्यक हो गया है कि वह राष्ट्रीय या सामाजिक विकास के सिद्धात की शरण ले और आजकल के प्रमुख वर्ग की कृपा प्राप्त करे, जैसे कि मध्य युग मे पादरियो की और १८ वी शताब्दी के अन्त मे दार्शनिको की कृपा प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत होती थी। फ्रेडरिक और केथरीन महान् को भी ऐसा ही करना पडा था।

आज यदि कोई धनी व्यक्ति अपनी पुरानी आदतो के कारण भूले-भटके ईश्वर की दुहाई देने लगे और यह कहे कि परमेश्वर ने उसे विशेप रूप से धनी होने के लिए छाटा है या यह कहे कि राष्ट्रीय हित के लिए अमीर-उमराओ की विद्यमानता वडी महत्वपूर्ण है, तो समझना चाहिए कि वह समय से पीछे है। अपनी सत्ता का यथेप्ट रूप से समर्थन करने के लिए उसे यह वताना चाहिए कि उत्पादन की विधियो मे सुधार करके या उपभोग्य पदार्थो को सस्ता वनाकर या अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क मे उत्तरोत्तर वृद्धि करके वह सभ्यता की उन्नति मे कितना योग दे रहा है। आजकल के अमीरो को विज्ञान की भापा मे वात करनी चाहिए और वर्त्तमान शक्तिशाली वर्ग के लिए त्याग करना चाहिए जैसा कि पुराने जमाने मे धर्म-शास्त्रियो के लिए करना पडता था। उसको समाचारपत्र और पुस्तकें प्रकाशित करनी चाहिए और चित्रशालाओ, सगीत-समितियो, वाल-विद्यालयो तथा टेक्निकल स्कूलो की व्यवस्था करनी चाहिए।

आजकल के शक्तिशाली वर्ग में विशिष्ट प्रवृत्ति के वैज्ञानिक ओर कलाकार हैं। श्रम न करने के औचित्य को सिद्ध करने के लिए उनके पास पूरा-का-पूरा तर्क है और जिस तरह पुराने जमाने मे सव वाते पहले धार्मिक और वाद मे दार्शनिक सिद्धातो पर अवलम्वित होती थी उसी तरह आजकल सारे तर्क इस नए तर्क पर ही आधारित है और अव यह नया वर्ग ही दूसरे लोगो के श्रम से मुक्त होने का प्रमाणपत्र देता है।

आजकल जिस वर्ग को श्रम से मुक्त होने का पूर्ण औचित्य प्राप्त है वह वैज्ञानिको—विशेषत प्रयोगशील, यथार्थवादी, आलोचनात्मक प्रवृत्तिवाले और विकासशील वैज्ञानिको—का वर्ग है। इस वर्ग मे इसी प्रवृत्ति का अनुकरण करनेवाले कलाकार भी हैं।

यदि किसी पुराने सयोग से आज कोई वैज्ञानिक या कलाकार भविष्यवाणी, दैवी आदेश या आत्मा के विकास की चर्चा करता है तो इसका कारण यह है कि वह समय के पग से पग नही मिला पाया है। ऐसी दशा में उसे अपनी सत्ता को न्यायोचित सिद्ध करने मे सफलता

नही मिलती। अपने पैरो को उखडने न देने के लिए यह आवश्यक है कि वह किसी न किसी प्रकार अपनी चेष्टाओ का सम्बन्ध प्रयोगशील साकारवादी और आलोचनात्मक विज्ञान से स्थापित करे और उस विज्ञान को अपने समस्त कार्य-कलाप का आधार मान कर चले। तभी उसका विज्ञान सच्चा विज्ञान या उसकी कला सच्ची कला हो सकेगी, तभी आधुनिक युग मे उसकी नीव दृढ हो सकेगी और तभी उसे यह विश्वास हो सकेगा कि उसकी चेष्टाओ से मानव-समाज का लाभ हो रहा है।

अत अब यह प्रयोगशील, आलोचनात्मक और साकारवादी विज्ञान ही वह आधार है जिसपर श्रम से मुक्त होनेवाले सभी व्यक्तियो के कार्य-औचित्य का प्रमाण अवलम्बित है।

धार्मिक और दार्शनिक तर्क अब पुराने पड गए है, वे अपने-आपको डरते-डरते व लज्जा के साथ व्यक्त करते है और वैज्ञानिक रूप धारण करने की चेष्टा करते है। इसके विपरीत वैज्ञानिक तर्क पुराने सिद्धातो को निर्भीकतापूर्वक उलट-पुलट और नष्ट कर देता है, उन्हे हर जगह से निकाल देता है और पूर्ण अजेयता के विश्वास के साथ गर्व से सिर ऊचा करके चलता है।

धार्मिक तर्क यह था कि मनुष्य को अपने पद के अनुसार काय मिलता है, कुछ पर शासन का भार पडता है और कुछ पर आदेश-पालन का; कुछ के भाग्य मे विलासमय जीवन बदा होता है और कुछ के भाग्य मे दीनता मे दिन काटना। इसलिए जिन्हे दैवी आदेश मे विश्वास था वे यह शका नही कर सकते थे कि ईश्वर ने कुछ लोगो को शासन व ऐश्वर्य का जो पद प्रदान किया है वह न्यायोचित नही है।

राज्य-दर्शनवादियो का कहना यह था कि राज्य अपनी समस्त शाखाओ तथा श्रेणियो सहित—जो स्वत्व तथा अधिकार की दृष्टि से एक-दूसरे से भिन्न होती है—वह ऐतिहासिक रूप है जो मानवीय आत्मा के उचित प्रस्फुटन के लिए आवश्यक है; इसलिए स्वत्व और अधिकार की दृष्टि से राज्य या समाज मे प्रत्येक मनुष्य का वही स्थान होना चाहिए जो उसके यथोचित जीवन मे होता है।

वैज्ञानिक सिद्धात के अनुसार उक्त दोनो सिद्धात मूर्खतापूर्ण और अधविश्वास है, एक तो धार्मिक युग की विचारधारा का प्रतिफल है और दूसरा दार्शनिक युग की विचार-धारा का। मानव-समाज के जीवन-सम्बन्धी नियमो के अध्ययन की केवल एक ही निश्चयात्मक विधि है और वह है साकारवादी प्रयोगात्मक आलोचनात्मक विज्ञान की विधि। प्राणि-शास्त्र अन्य सभी यथार्थवादी विज्ञानो पर अवलम्बित है और इस प्राणि-शास्त्र के आधार पर बना हुआ जो समाज-शास्त्र है, अकेला वही हमे मानव-जीवन के नियमो का ज्ञान करा सकता है। मानवता अथवा मानव-समाज एक शरीर-यत्र है जिसकी रचना या तो हो चुकी है या अभी हो रही है और जिसपर यात्रिक विकास के सभी नियम लागू होते है। इनमे से एक मुख्य नियम शरीर के विभिन्न अगो मे श्रम का विभाजन है। इसलिए यदि कुछ लोग शासन और दूसरे केवल आदेश का पालन करते है, यदि कुछ लोग सोने की गुल्लियो मे खेलते है और कुछ निर्धनता मे पडे सडते है तो इसका यह कारण नही है कि ईश्वर की इच्छा ही ऐसी है या राज्य व्यक्तित्व के प्रस्फुटन का ही एक रूप है, बल्कि इसका कारण यह है कि शरीर की भाति समाज मे भी श्रम का विभाजन होता है जो समस्त समाज के जीवन के लिए आवश्यक होता है, कुछ लोग शारीरिक कार्य करते है और कुछ मानसिक।

हमारे युग मे इसी सिद्धात के आधार पर उस वृहद् ओट का निर्माण हुआ है जिसके पीछे छिपकर लोग अपने श्रम से मुक्त रहने के अधिकार को उचित प्रमाणित करते है।

: २६ :

मानव-समाज की वैज्ञानिक व्याख्या

ईसा ने एक नए सिद्धात का प्रचार किया जोकि बाइबिल में उल्लिखित है। इस सिद्धात का तिरस्कार किया गया और उसे स्वीकार नही किया गया। तब आदम के अध पतन और पहले फरिश्ते

की कहानी गढी गई और उसीको ईसा का उपदेश कहकर प्रचारित किया गया। यह गाथा बिलकुल मूर्खतापूर्ण और निराधार थी, किंतु इससे यह स्वाभाविक निष्कर्ष निकलता था कि मनुष्य अनुचित रूप से जीवनयापन करता हुआ भी अपने को ईसा द्वारा समर्थित मान सकता है। यह निष्कर्ष नैतिक श्रम से घृणा करनेवाले बहुसख्यक दुर्बल मनुष्यो को इतना भाया कि इसे उन्होंने एक साधारण सत्य नही बल्कि ईश्वर द्वारा प्रकट किये गए सत्य के रूप मे ग्रहण कर लिया। लगभग एक हजार वर्ष तक विद्वान् धर्मवेत्ता इसी निष्कर्ष को आधार मानकर अपने सिद्धातो का निर्माण करते रहे।

बाद में ये धर्मशास्त्री भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो मे बट गए, एक दूसरे के मत का विरोध करने लगे और उन्हे स्वय अनुभव होने लगा कि उनकी बुद्धि चकरा गई है और वे अपनी कही हुई बाते समझ नही पा रहे है। किंतु जनता ने उनसे फिर उसी प्रिय सिद्धात की पुष्टि करने की माग की, अत उन्हे यह ढोग रचना पडा कि वे जो कुछ कहते हैं उसे समझते हैं और उसपर विश्वास भी करते है। इस प्रकार उन्होंने अपना उपदेश जारी रखा, किंतु वह भी समय आया जब धर्मशास्त्रियो के ये निष्कर्ष निरर्थक सिद्ध हुए, जनता ने उनकी गुफाओ के भीतर झाका और साश्चर्य देखा कि धर्मशास्त्र के रहस्य उसे जिस पवित्र और असदिग्ध सत्य के रूप में दिखलाई पडते है उसका वहा सकेत भी नही; वहा तो भयानकतम पाखड के अतिरिक्त न कुछ है न कभी रहा है। स्वभावत उसे अपने अधेपन पर बडा विस्मय हुआ।

दर्शन के सम्बन्ध मे भी यही बात हुई। दर्शन से मेरा अभिप्राय कनफ्यूशियस[1], सुकरात या एपिक्टेटस[2] की बताई हुई ज्ञान की बातो से नही है। यहा मेरा सकेत उस पेशेवर दर्शन से है जिसका उद्देश्य अकर्मण्य धनाढ्यो को प्रसन्न करना था।

---

१ चीनी दर्शन-शास्त्र का प्रवंतक, प्रसिद्ध दार्शनिक और सुधारक (५५१–४७८ ई० पूर्व)।

२ स्टोइक दार्शनिक (प्रथम शताब्दी)।

अभी बहुत दिन नही हुए, इस विद्वत्तापूर्ण शिक्षित ससार में आत्मा के विकासवाद का बोलवाला था। इस सिद्धात का कहना था कि जो कुछ है वह उचित है, न कोई वस्तु बुरी है न अच्छी और मनुष्य को बुराई के साथ युद्ध करने की आवश्यकता नही, उसका काम तो केवल आत्मा का विकास करना है—अर्थात जो सेना मे नौकर है वह वहा की नौकरी करके, जो अदालत में है वह वहा का कर्त्तव्य पूरा करके और जो वीन बजाता है वह वीन बजाकर अपनी आत्मा का विकास करे।

मानव-बुद्धि कितने ही विभिन्न रूपो में व्यक्त की गई है। १९ वी शताब्दी के लोग उन सब रूपो से परिचित थे। उन्हे रूसो[१], पास्कल[२], लेसिंग[३] और स्पीनोजा[४] के सिद्धातो का ज्ञान था और साथ-ही-साथ वे प्राचीन काल के बुद्धि-तत्व को भी जानते थे। किंतु जनता के हृदय पर किसी और की वातो का प्रभाव नही पड़ा। यह भी कहना ठीक नही होगा कि हीगेल की लोकप्रियता का कारण केवल हीगेलियन सिद्धातो का सामंजस्य था, क्योकि फिक्टे[५], शोपनहार[६] आदि के सिद्धात कुछ कम सामजस्यपूर्ण न थे। कुछ समय के लिए हीगेल के सिद्धानो पर समस्त ससार को जो विश्वास हो गया था उसका केवल एक कारण था और वह कारण वही था जो मानव के पतन व उद्धार के सिद्धात की सफलता का कारण था, अर्थात्, हीगेलियन सिद्धात से निकलने-वाले निष्कर्ष भी मनुष्य की दुर्बलताओ को ही पोषित करते थे। वे कहते थे—प्रत्येक वस्तु उचित है, प्रत्येक वस्तु अच्छी है, किसीको

---

१ प्रसिद्ध फ़ासीसी दर्शनवेत्ता (१७१२–७८)।

२ फ़ासीसी दार्शनिक और गणित (१६२३–६२)।

३. जर्मन कवि और आलोचक (१७२९–८१)।

४ प्रसिद्ध आस्ट्रियन दर्शनवेत्ता (१६३२–७७)।

५. जर्मन दार्शनिक (१७६२–१८१४)।

६ निराशावादी जर्मन दार्शनिक (१७८८–१८६०) उनकी विचारधारा भगवान बुद्ध की विचारधारा से बहुत कुछ मिलती जुलती है।

किसी बात के लिए दोष नही दिया जा सकता। जिस प्रकार धर्माचारियों ने पुनरुद्धार के सिद्धान्त से लाभ उठाया था, उसी प्रकार दार्शनिको ने हीगेल के सिद्धातो की नीव पर अपना किला खड़ा किया (कुछ पिछड़े हुए लोग तो अभी तक उसीमे बैठे है)। स्वभावतः धर्माचारियो की ही भाति दार्शनिको की उक्तियो मे भी उलझन पैदा हो गई और उन्हें भी यही अनुभूति हुई कि वे जो कुछ कर रहे है उसे वे स्वय नही समझते। फिर भी धर्माचारियो के समान ही वे अपने कलुष की सफाई किये बिना ही जनता पर अपना प्रभुत्व बनाए रखने की अविरल चेष्टा करते रहे। पहले की ही तरह जनता को जो बाते अनुकूल प्रतीत हुई उनकी उसने पुष्टि चाही और उसे यह विश्वास उत्पन्न हो गया कि जो बाते उसे अस्पष्ट तथा विरोधात्मक लगती है वे दर्शन की दृष्टि मे दिन के प्रकाश की भाति स्पष्ट है। किंतु समय आने पर यह सिद्धान्त भी शिथिल पड गया और उसका स्थान एक नए सिद्धात ने ले लिया। पुराना सिद्धात निरर्थक हो गया और जनता ने एक बार फिर पुरोहितो की गुफाओ मे झाक कर देखा कि कुछ अर्थहीन अगम्य शब्दो के अतिरिक्त वहा न कुछ है, न कभी रहा है। यह घटना तो मेरी याद मे ही घटी।

मेरे जीवन के आरम्भ-काल मे हीगेल के सिद्धान्त का बोलबाला था। उन दिनो तो मानो वह समस्त वायुमण्डल मे व्याप्त था। पत्र-पत्रिकाओ मे, उपन्यासो और निबधो मे, कला और इतिहास मे, उपदेश और परस्पर बातचीत मे सब जगह हीगेल के ही सिद्धान्त की धूम थी। जिसने हीगेल को नही पढा था उसे बात करने का अधिकार नही था। जो लोग सत्य का शोध करना चाहते थे, वे हीगेल के ग्रंथ पढते थे। उस समय सब कुछ उसीपर अवलम्बित था। किंतु अब चालीस वर्ष बाद उसका कुछ भी शेष नही रह गया है, अब कोई उसका नाम तक नही लेता, मानो कभी उसका अस्तित्व ही न रहा हो। सबसे बड़े मार्के की बात तो यह है कि झूठे ईसाई धर्म के समान हीगेल के सिद्धांत का पतन भी किसीके विरोध के कारण नही हुआ, बल्कि इसलिए हुआ कि एकाएक यह स्पष्ट हो गया कि हमारे

विद्वत्तापूर्ण शिक्षित ससार को दोनो मे से एक की भी आवश्यकता नही है।

यदि हम आजकल के किसी शिक्षित व्यक्ति से फरिश्ते और आदम के अध पतन या पुनरुद्धार की बातें करे तो वह न तो आपसे तर्क-वितर्क करने की चेष्टा करेगा, न आपकी बात को झूठा ठहराने का प्रयत्न करेगा। वह तो केवल उलझन के साथ पूछेगा—"कौन-सा फरिश्ता ? आदम क्यो ? मुक्ति कैसी ? इससे मुझे क्या लाभ ?" यही बात हीगेल के सिद्धात के बारे मे भी है। आजकल का कोई व्यक्ति उसपर तर्क-वितर्क नही करेगा। वह केवल अचम्भे के साथ पूछेगा — "कौन-सी आत्मा ? उसका प्रादुर्भाव कहासे होता है ? और उसका विकास क्यो होता है ? मुझे उससे क्या लाभ ?"

आजकल के वैज्ञानिक इसके उत्तर में कहेगे—"हा, ये सब बाते धार्मिक और दार्शनिक काल की चीखपुकार के कारण हुई थी, किंतु अब हमारे पास आलोचनात्मक और प्रमाणित विज्ञान है जोकि प्रयोग तथा सामान्य निर्णय पर आधारित होने के कारण कभी धोखा नही देता। हमारा ज्ञान अब लचर नही है जैसाकि पहले था और अब हमारे ही मार्ग पर चलने से मनुष्य-जाति के सब प्रश्नो का उत्तर मिल सकेगा।

किंतु ठीक ऐसी ही बाते तो पुराने धर्माचार्य भी कहा करते थे और निश्चय ही वे मूर्ख नही थे, क्योकि हम जानते है कि उनमे से कितने ही प्रकाड बुद्धि के थे। हमारी याद में हीगेल के अनुयायी भी ऐसी बाते कुछ कम विश्वास के साथ नही किया करते थे। तथाकथित शिक्षित समाज ने उनके मतो को कुछ कम स्वीकार नही किया था। और वे हर्जेन, स्टैंकविच, बेलिस्की आदि भी मूर्ख थोडे ही थे। तो फिर, इस आश्चर्यजनक घटना का क्या कारण था कि बडे-बडे बुद्धिमान लोगो ने जनता को ऐसी बेसिर-पैर की खोखली बातो का उपदेश दिया और जनता ने उन्हे आदर सहित स्वीकार भी किया ? कारण यही था कि इन सिद्धातो के बल पर लोग अपने दोषपूर्ण जीवन को उचित ठहराते थे।

साकारवादी, आलोचनात्मक और प्रयोगशील वैज्ञानिको को अपने अदर जो विश्वास है और जनता उनके सिद्धातो को जिस आदर की दृष्टि से देखती है, उसका कारण क्या अव भी वही है जो पहले था ? यह वात वडी विचित्र मालूम होती है कि विकासवाद के सिद्धात से लोगो के अन्यायपूर्ण कार्यों को उचित ठहराया जा सकता है और ऐसा प्रतीत होता है मानो विज्ञान का सम्वन्ध केवल वस्तु से है और वह उसीका अध्ययन करता है।

किंतु यह वात केवल देखने मे ऐसी मालूम पडती है। ऐसा ही धार्मिक सिद्धातो के विषय में भी थी। ऐसा जान पडता था कि धर्म का सम्वन्ध केवल सिद्धातो से है, मनुष्य के जीवन से नही। दर्शन के विपय मे भी ऐसी ही भ्राति थी। ऐसा लगता था कि उसका सम्वन्ध केवल पारलौकिक तर्कों से है।

किंतु ये सव वाते केवल देखने मे ऐसी लगती थी। यही वात व्यापक रूप से हीगेल के सिद्धातो और विशेप रूप से माल्थस की विचारधारा के विषय मे भी थी।

हीगेल का दर्शन-शास्त्र केवल तार्किक निप्कर्पो से सम्वन्धित जान पडता था, लोगो के जीवन से नही। ऐसी ही प्रतीति माल्थस की विचारधारा के विपय मे भी होती थी। उसका एक मात्र सम्वन्ध वस्तु सम्वन्धी आकडो से जान पडता था, किंतु वह भी केवल प्रतीत ही होता था।

आधुनिक विज्ञान वस्तुस्थिति की जाच करता है। किंतु कौन-सी वस्तुस्थिति ? क्या कारण है कि कुछ विशेप वस्तुस्थितियो का ही अध्ययन किया जाता है, दूसरियो का नही ?

आजकल के विज्ञान-वेत्ताओ को वडी गम्भीरता और विश्वास के साथ यह कहने का शौक है—"हम केवल वस्तुस्थिति का अध्ययन करते है," मानो इन शव्दो का कोई अर्थ हो।

केवल वस्तुस्थिति की जाच करना सम्भव नही है, क्योंकि जाच के लिए उपलव्ध पदार्थों की सख्या वस्तुत. अपरिमित है। वस्तुस्थिति की परीक्षा करने से पहले एक ऐसे सिद्धात का होना आवश्यक है

जिसके आधार पर असख्य बातो में कुछ विशेष बातें परीक्षण के लिए चुनी जा सकें। ऐसा सिद्धात मौजूद है और बडे ही स्पष्ट रूप से व्यक्त भी किया जा चुका है। फिर भी आजकल के अनेक वैज्ञानिक या तो इसकी अवहेलना करते हुए इसे जानना नही चाहते या सचमुच इसे जानते ही नही या इसे न जानने का बहाना करते है। यही बात समस्त महत्वपूर्ण और निर्देशक सिद्धातो के साथ रही है, चाहे वे धार्मिक रहे हो चाहे दार्शनिक।

प्रत्येक मत की नीव सदा उसके सिद्धात मे होती है और विद्वान् कहे जानेवाले लोग केवल उपलब्ध जानकारी के आधार पर कभी-कभी अनजाने ही नए निष्कर्ष निकाला करते हैं। किंतु उन सबके पीछे सदा एक मूलभूत सिद्धात होता है। यही कारण है कि आधुनिक विज्ञान अपनी जाच के लिए वस्तुस्थित का चयन सुनिश्चित सिद्धात के आधार पर करता है, जिसका कभी तो उसको ज्ञान होता है और कभी नही होता और कभी-कभी उसके विद्यमान रहने पर भी वह उसे जानना नही चाहता।

वह सिद्धात यह है—समस्त मनुष्य-समाज एक शरीर-यत्र है; व्यक्ति उस यत्र का एक अग है और समस्त यत्र के परिचालन के लिए प्रत्येक व्यक्ति का एक विशिष्ट कर्त्तव्य होता है।

शरीर-यत्र को अपने अस्तित्व की अक्षुण्णता के लिए जो-जो क्रियाए करनी पडती है, उन्हे उसके विभिन्न ततु आपस मे बाट लेते है, किसी इद्रिय को वे पुष्ट करते है और किसीको दुर्बल बनाते है और किसी एकके साथ अधिक सहयोग करके समष्टि रूप में सारे शरीर-यत्र की आवश्यकताओ की सतोषजनक पूर्ति के लिए उद्योग करते है। सामाजिक जतु—चीटिया और मधुमक्खिया भी—आपस मे अलग-अलग काम बाट लेते है—रानी अडा देती है, नर गर्भाधान करते हैं और शेष मधु-मक्खिया अपनी समस्त जाति के जीवन के लिए श्रम करती है। ठीक इसी प्रकार मानव-समाज मे भी उसके विभिन्न अग अपना अलग-अलग कार्य करते है और फिर समस्त की उन्नति के लिए समन्वित भी हो जाते है।

अत· मनुष्य-जीवन के नियमो का अनुसधान करने के लिए शरीर-यत्रो के विकास और जीवन-सम्बन्धी नियमो का अध्ययन करना आवश्यक है। शरीर-यत्रो के जीवन और विकास मे हमें भिन्न-भिन्न नियम दिखाई देते है—(१) प्रत्येक घटना के तात्कालिक परिणाम के अतिरिक्त उसके अन्य परिणाम भी होते है, (२) जिन अंगो पर कार्य-विभाजन का सिद्धात लागू नही होता वे प्राय दुर्वल होते है, (३) विषमता और समता का नियम। ये सब देखने मे वडे निर्दोष मालूम होते है, किंतु यदि हम इन प्रेक्षित तथ्यो से निष्कर्ष निकाले तो हमें यह तत्काल पता चल जायगा कि इनकी प्रवृत्ति किस ओर है। इन सबका झुकाव एक ही वात की ओर होता है और वह है मानवता या मानव-समाज को एक शरीर-यत्र मानना और उसके परिणामस्वरूप मानव-समाज मे रचित कार्य-विभाजन को आवश्यक समझना। चूकि मानव-समाज मे वहुत-सी क्रूरता और घृणा भरी हुई है, इन क्रियाओ को क्रूर या घृणास्पद नही समझना चाहिए, वल्कि यह समझना चाहिए कि ये श्रम-विभाजन के व्यापक नियम को सिद्ध करनेवाले असदिग्ध प्रमाण है।

आध्यात्मिक दर्शन-शास्त्र भी हर प्रकार की क्रूरता और घृणा को उचित ठहराया करता था, किन्तु उसका यह कार्य दार्शनिक सिद्धातो पर अवलम्वित होने के कारण असदिग्ध नही समझा जाता। विज्ञान मे यह वैज्ञानिक रूप ग्रहण कर लेता है और इसलिए असदिग्ध मान लिया जाता है।

ऐसे सुन्दर सिद्धात को भला कौन स्वीकार नही करेगा ? मानव-समाज को अवलोकन का विषय भर मानने की आवश्यकता है; फिर तो हम नष्ट होते हुए मनुष्यो की कमाई शातिपूर्वक हडप सकते है और अपनी आत्मा को यह सोचकर सान्त्वना दे सकते है कि एक नृतक, वकील, डाक्टर, दार्शनिक, अभिनेता या परमाणुओ के विभिन्न रूपो की जाच करनेवाले या किसी वस्तु के माध्यम की परीक्षा करनेवाले व्यक्ति की हैसियत से हम जो काम करते है वह मानव-शरीर-यत्र के अगो की आवश्यक क्रियाए है। जिस तरह यह प्रश्न नही उठ सकता

कि मस्तिष्क के ततु का पुट्ठो के ततुओ के श्रम से लाभ उठाना अन्याय-पूर्ण है या नही, उसी तरह यह प्रश्न भी नही उठ सकता कि दूसरो के श्रम का उपभोग करना मेरे लिए उचित है या नही। मै तो वही करता हू जो मुझे भाता है।

तो भला हम एक ऐसे व्यावहारिक सिद्धात को कैसे अस्वीकार कर सकते है जो हमे इस योग्य बना देता है कि हम अपनी आत्मा को सदा के लिए जेब मे रखकर शाति के साथ निरकुश पशु-जीवन व्यतीत करे और साथ ही यह भी अनुभव करते रहे कि हमे आधुनिक विज्ञान का अटल समर्थन प्राप्त है ? यही वह नया मत है जिसके आधार पर आजकल मनुष्यो की अकर्मण्यता और क्रूरता को उचित ठहराया जाता है।

: ३० :

कॉम्टे की साकारवादी विचारधारा

इस मत को प्रचलित हुए अभी थोडे ही दिन हुए है—यही कोई ५० वर्ष। इसका मुख्य सस्थापक फ्रासीसी दार्शनिक आगस्ट कॉम्टे था। वह सुव्यवस्थित जीवन में विश्वास करनेवाला एक धार्मिक व्यक्ति था। विशाट* के शरीर सम्बन्धी अभिनव अन्वेषणो से प्रभावित होने के कारण कॉम्टे पर मेनेनियस एग्रोप द्वारा बहुत पहले व्यक्त किये गए इस पुराने विचार का गहरा असर पडा कि समस्त मानव-समाज, यहा तक कि समस्त मानवता को एक समष्टि, एक शरीर-यत्र माना जा सकता है और मनुष्य विभिन्न इन्द्रियो के सजीव ततु माने जा सकते है, जिनमे से प्रत्येक का समष्टि शरीर के प्रति एक निश्चित कर्त्तव्य होता है। यह विचार कॉम्टे को इतना पसद आया कि उसने इसके आधार पर एक दर्शन-सिद्धात की रचना कर दी। इस सिद्धात के

---

* प्रसिद्ध फ्रासीसी शरीर-शास्त्रज्ञ (१७७१–१८०२)।

प्रवाह में वह इस प्रकार वह गया कि उसे इतना भी स्मरण न रहा कि जिस उपमा के आधार पर उसने अपने सिद्धात की नीव डाली है वह कथा-कहानियो के लिए तो उपयुक्त हो सकता है किंतु विज्ञान का उपयुक्त आधार नही वन सकता। जैसा कि वहुधा होता है, उसने अपनी इस प्रिय मान्यता को एक स्वयंसिद्ध सूत्र मान लिया और सोचा कि उसके सिद्धात की भित्ति अकाट्यतम वैज्ञानिक प्रयोगो पर खडी है। उसके सिद्धात के अनुसार मानव-समाज एक शारीरिक यत्र के समान था, अतएव इस वात का ज्ञान कि मनुष्य क्या है और विश्व के साथ उसका कैसा सम्बन्ध होना चाहिए केवल उस यत्र के गुणो का अध्ययन करने से प्राप्त हो सकता है। इन गुणो के समझने के लिए मनुष्य अन्य--अर्थात् छोटे-छोटे--शारीरिक यत्रो का अध्ययन कर सकता था और उनसे परीक्षण के आधार पर निष्कर्ष निकाल सकता था। इसलिए कॉम्टे के मतानुसार सवसे पहली वात तो यह है कि विशेष परीक्षणो के आधार पर निष्कर्ष निकालने की रीति ही सच्ची और वैज्ञानिक रीति है और सच्चा विज्ञान वही है जिसका आधार प्रयोग हो। दूसरी वात यह है कि विज्ञान का उद्देश्य तथा अतिम लक्ष्य वह नया विज्ञान है जिसमें मनुष्य की कल्पना एक शरीर-यत्र के रूप में की जाती है। इस नए काल्पनिक विज्ञान का नाम समाज-शास्त्र है। विज्ञान को इस दृष्टिकोण से देखने से साधारणत ऐसा लगता है मानो मनुष्य का पूर्व ज्ञान गलत था और मानवीय ज्ञान का इतिहास तीन या वस्तुत दो ही युगो मे वटा हुआ है--(१) दार्शनिक तथा धार्मिक युग--सृष्टि के आरम्भ से लेकर कॉम्टे के अवतरण तक, और (२) सत्य विज्ञान, यानी स्वाभाविक अथवा आधारभूत विज्ञान का वर्त्तमान युग, जिसका आरम्भ कॉम्टे से होता है।

देखने में यह वडा सुन्दर लगता है। त्रुटि केवल एक है--वह यह कि सारा भवन रेत पर वना हुआ है, इस निराधार विश्वास पर कि मानव-समाज एक शरीर-यत्र है।

यह मान्यता एक जवरदस्ती की मान्यता थी क्योकि हमें मनुष्य-समाज को एक अदृश्य शरीर-यत्र के रूप में स्वीकार करने का उसी

प्रकार अविकार नही है जैसे त्रिदेव की विद्यमानता या अन्य दार्शनिक सिद्धातो को स्वीकार करने का।

यह मान्यता इसलिए भी अशुद्ध थी कि मनुष्य-समाज मे शरीर-यत्र के अनिवार्य लक्षण—अर्थात अनुभूति और ज्ञान-केन्द्र—के विद्यमान न होते हुए भी उसकी परिभाषा गलत तौर पर शरीर-यत्र के रूप में की गई है। हाथी अथवा कीटाणु को शरीर-यत्र कहने का एक मात्र कारण यह है कि हम समझते है कि उसमे भी ज्ञान-शक्ति और अनुभूति का वैसा ही एकीकरण है जैसा हम स्वय अपने में अनुभव करते है। किंतु मानव-समाज मे इस आवश्यक लक्षण का अभाव है। इसलिए मानव-समाज और शरीर में हमें चाहे कितनी ही दूसरी समानताए दिखाई दें, उक्त अनिवार्य सकेत के अभाव मे मानव-समाज को शरीर-यत्र मानना बिलकुल अशुद्ध है।

किंतु साकारवाद के मूल सूत्र के निराधार और अशुद्ध होने पर भी शिक्षित समुदाय ने उसे बड़े प्रेम से अपनाया। इसका कारण यह था कि उस समय मनुष्य-समाज में प्रचलित हिंसात्मक नियमो को न्याय-युक्त सिद्ध करके इस साकारवाद ने अपने आपको उनके लिए बडा महत्वपूर्ण बना लिया था। इस सम्बन्ध मे सबसे बडे मार्के की बात यह है कि कॉम्टे की दो कृतियो—साकारवादी दर्शन तथा साकारवादी राजनीति—मे से हमारे शिक्षित समाज ने केवल दर्शन को ही स्वीकार किया—अर्थात् उसने कॉम्टे की बात के केवल उस भाग को माना जो नए अनुभवात्मक सिद्धातो के आधार पर मनुष्य-समाज की तत्कालीन बुराइयो को उचित बताता था। दूसरा भाग, जिसमें समस्त मानवता को एक शरीर-यत्र मानने के कारण उत्पन्न होनेवाले धार्मिक और नैतिक कर्तव्यो की चर्चा की गई थी, न केवल महत्वहीन बल्कि नगण्य और अवैज्ञानिक भी माना गया।

जो बात कैन्ट* के दर्शन-शास्त्र के दो भागो के साथ हुई थी वही

---

* इमैन्यूयेल कैन्ट—लब्धप्रतिष्ठ जर्मन दार्शनिक और विज्ञानवेत्ता (१७२४–१८०४)।

कॉम्टे की कृतियो के साथ भी हुई। शुद्ध वुद्धिवाद की आलोचना को तो विद्वद् मडली ने स्वीकार कर लिया, किंतु व्यावहारिक बुद्धिवाद की आलोचना को जिसमें कैन्ट के नैतिक शिक्षण का सार भरा था, अस्वीकार कर दिया। कॉम्टे द्वारा प्रचारित सिद्धातो में से उन्होने उस भाग को वैज्ञानिक माना जिसमे तत्कालीन वुराइयो का समर्थन किया गया था, किंतु जनसमुदाय द्वारा स्वीकृत यह दर्शन मिथ्या और अपरिपक्व आधार पर अवलम्बित होने के कारण इतना डावाडोल था कि स्वय अपने वल पर टिके रहना उसके लिए असम्भव था। और तव, तथाकथित विज्ञान की अनेक कपोल-कल्पित धारणाओ मे से एक ऐसे सिद्धात की उत्पति हुई जिसमे न तो कोई नवीनता थी और न सत्य। यह सिद्धात यह था कि प्राणी अर्थात् शरीर-यत्र न केवल एक दूसरे से उत्पन्न होता हैं वल्कि एक शरीर-यंत्र अनेक शरीर-यत्रो से उद्भूत होता हैं; उदाहरण के लिए यह अनिवार्य नही है कि कोई मछली या वत्तख वहुत लम्वे अर्से से (मान लीजिए १,००,००० वर्ष से) किसी एक ही योनि से उत्पन्न होती चली आई हो। यह भी सम्भव है कि एक ही जीव की सृष्टि विभिन्न जीवो से हुई हो। उदाहरण के लिए मधुमक्खियो के एक झुड से अकेले किसी एक पशु की उत्पत्ति हो सकती हैं।

यह अशुद्ध और निराधार सिद्धात शिक्षित समुदाय द्वारा और भी अधिक उत्साह के साथ अपनाया गया। इस सिद्धात को निराधार कहने का कारण यह हैं कि आजतक किसीने यह नही देखा हैं कि एक विशिष्ट प्रकार का जीव दूसरे जीवो से किस प्रकार आविर्भूत होता हैं। अत. जीव-योनियो की उत्पत्ति की कल्पना कल्पनामात्र रह जाती है और कभी अनुभव-सिद्ध नही होती। इस धारणा के अशुद्ध होने का एक दूसरा कारण यह है कि योनि-उत्पत्ति के प्रश्न का यह कहकर समाधान करना कि जीव-योनिया पैतृक वश-परम्परा के नियमो के अनुसार अत्यन्त दीर्घ काल में उत्पन्न हुई है कोई समाधान नही है; वल्कि उसी प्रश्न की एक नए रूप मे पुनरावृत्ति मात्र हैं। इस समस्या का जो हल हजरत मूसा ने वतलाया था उसके अनुसार योनियो की

विभिन्नता का कारण ईश्वर की इच्छा और उसकी अनन्त शक्ति है, किन्तु जीव-विकास के सिद्धात से सिद्ध होता है कि योनियो की विभिन्नता स्वय अपने आपमे से, दीर्घकालीन पैतृक वश-परम्परा और परिस्थिति की कभी समाप्त न होनेवाली विभिन्न स्थितियो के अनुसार उत्पन्न हुई है। सीधे-सादे शब्दो मे जीव-विकास के सिद्धात से केवल इतना सिद्ध होता है कि दीर्घ काल मे एक वस्तु दूसरी वस्तु से हमारे इच्छानुसार उत्पन्न हो सकती है।

वस्तुत. यह प्रश्न का उत्तर नही वल्कि उसका रूपातर मात्र है। ईश्वरेच्छा का स्थान घटना-चक्र को दे दिया गया है और अनन्त को शक्ति से हटाकर काल के साथ जोड दिया गया है। किंतु इस नए सिद्धात से—जिसे डार्विन के अनुयायियो ने और भी अधिक निराधार और मिथ्या वना दिया—कॉम्टे के पहले सिद्धात का समर्थन हुआ और इसलिए वह हमारे युग का दैवी प्रकाश और समस्त शास्त्रो—यहा तक कि इतिहास, भाषा-विज्ञान और धर्म तक—का आधार वन गया। इससे भी वडी वात यह हुई कि इस सिद्धात के सस्थापक स्वय डार्विन ने स्वीकार किया कि उनके मन में इस सिद्धात का प्रादुर्भाव माल्थस के सिद्धात के अध्ययन के परिणामस्वरूप हुआ था और उसीसे प्रभावित होकर डार्विन ने यह सिद्धात निकाला कि जीवन का आधारभूत नियम यह है कि प्राणीमात्र को—जिसमे मनुष्य भी सम्मिलित है—जीवन के साथ सघर्ष करना पडता है। हम देखते हैं कि काहिल लोगो को अपनी स्थिति को औचित्यपूर्ण ठहराने के लिए विलकुल ऐसी ही वस्तु की आवश्यकता थी।

इस प्रकार दो निर्वल सिद्धात, जो पृथक-पृथक अपने पैरो पर खडे होने मे असमर्थ थे, एक-दूसरे का समर्थन करने लगे और स्थायी सिद्धात-से दिखाई देने लगे। दोनो सिद्धातो मे वही अर्थ निहित था जो जनता को इतना प्रिय लगता था—अर्थात् यह कि मानव-समाज मे जो वुराइया फैली हुई हैं उनके लिए मनुष्य दोषी नही ठहराया जा सकता, वर्तमान स्थिति वैसी ही है जैसी होनी चाहिए। वस इस नए सिद्धात को लोगो ने अपने आवश्यकतानुकूल अर्थ मे पूर्ण विश्वास और अभूतपूर्व उत्साह के

साथ अपना लिया और ये ही दो निराधार तथा अशुद्ध धारणाए, जो लोगो के लिए अधविश्वास बन गईं, नए विज्ञानवाद का आधार बनी।

विषय और रूप दोनो ही मे यह सिद्धात ईसाई सिद्धातो से अत्यधिक मिलता-जुलता है। जहा तक विषय का प्रश्न है, दोनो मे सादृश्य यह है कि दोनो ही मे एक वास्तविक वस्तु को एक विचित्र मिथ्या अर्थ दे दिया जाता है और फिर इसी कृत्रिमता को शोध का विषय बना लिया जाता है।

यह एक विचित्र बात है कि ईसाई धर्म मे ईसा को स्वय ईश्वर माना गया है, यद्यपि वह इस ससार के ही एक प्राणी थे। इसी प्रकार साकारवादी सिद्धात के अनुसार सदेह मानव को एक यत्र माना गया है। बाह्य रूप से इन दोनो सिद्धातो में उल्लेखनीय सादृश्य है क्योकि दोनो ही मे कुछ थोडे-से व्यक्तियो द्वारा प्रतिपादित विचारधारा को एक मात्र नितान्त सत्य विचारधारा स्वीकार कर लिया गया है। ईसाई धर्म मे यह मान लिया गया है कि जो लोग अपने को ईसा के अनुयायी कहते है उन्हे ईश्वर का दर्शन होना पुनीत और एकात सत्य है। इसी प्रकार साकारवादियो का विश्वास है कि जो लोग अपने को विज्ञानवेत्ता कहते है उन्हे विज्ञान का ज्ञान होना असदिग्ध और सत्य है। जिस प्रकार ईसाई लोग यह स्वीकार करते है कि प्रभु के सच्चे ज्ञान का प्रादुर्भाव गिरजा से ही होता है और अपने से पहले के आस्तिको को वे केवल शिष्टतावश ईसाई धर्म का अवलम्बी मान लेते है, उसी प्रकार वैज्ञानिको का दावा है कि साकारवादी विज्ञान का सूत्रपात कॉम्टे से ही हुआ था और यह तो उनकी भद्रतामात्र है कि वे स्वीकार कर लेते हैं कि उनसे पहले भी कभी विज्ञान का अस्तित्व था और वह भी अरस्तु आदि जैसे कुछ इनेगिने व्यक्तियो मे। ईसाई धर्म के अवलम्बियो की ही भाति साकारवादी विज्ञानवेत्ता भी शेष मानव-समाज में ज्ञान के अस्तित्व को स्वीकार नही करते और अपने क्षेत्र से बाहरवालो के ज्ञान को एक भूल मात्र मानते हैं।

यह साम्यता आगे भी दिखाई देती है। जिस प्रकार ईसा और त्रिदेव के देवत्व का समर्थन करने के लिए इस पुराने सिद्धात का आश्रय

लिया गया कि मानव का पतन होने पर ईसा ने अपने शरीर का त्याग कर उसको मुक्ति दी और जिस प्रकार इसी सिद्धात को एक नया अर्थ देकर दोनो के मेल से लोकप्रिय ईसाई धर्म का निर्माण हुआ, उसी प्रकार हमारे युग मे कॉम्टे के शरीर-यत्र सम्बन्धी मूलभूत सिद्धात को प्रेरणा देने के लिए विकासवाद के पुराने सिद्धात का सहारा लिया गया और उसे एक नया अर्थ प्रदान कर दोनो के सयोग से लोकप्रिय वैज्ञानिक मत का आविर्भाव किया गया।

दोनो ही क्षेत्रो में पुरानी नीति के समर्थन के लिए नई नीति आवश्यक थी और वह वही तक समझ में आती है जहा तक कि उसका आधारभूत नीति से सम्बन्ध है। यदि ईसा के देवत्व में विश्वास करने वाले व्यक्ति को यह समझ मे नही आता कि ईश्वर इस पृथ्वी पर अवतरित क्यो हुआ, तो उस अवस्था मे मुक्ति का सिद्धात इसकी व्याख्या करने के लिए आ उपस्थित होता है। इसी प्रकार मनुष्य-समाज को यत्र माननेवाले व्यक्ति को यदि यह स्पष्ट नही होता कि व्यक्तियो के समूह को शरीर-यत्र क्यो माना जाता है तो विकासवाद का सिद्धात इसका स्पष्टीकरण कर देता है।

पहले मत और वास्तविकता के बीच विरोध की जो खाई है उसे पाटने के लिए मुक्ति के सिद्धात की आवश्यकता पडती है। ईश्वर पृथ्वी पर मानव की रक्षा के लिए आया, किंतु मानव की रक्षा नही हुई, इस विरोध का निराकरण कैसे हो? मुक्ति का सिद्धात इसका उत्तर देता है—"ईश्वर ने उन व्यक्तियो की मुक्ति की है जो मुक्ति मे विश्वास रखते है, यदि आपको इसमे आस्था है तो आपकी भी मुक्ति होगी।"

इसी प्रकार पहले सिद्धात और वास्तविकता के विरोधाभास को दूर करने के लिए विकासवाद का सिद्धात प्रयोजनीय है। मानव-समाज एक यत्र है, फिर भी हम देखते है कि उसमें यत्र का प्रमुख लक्षण नही है—इस विरोध को कैसे दूर किया जाय? इसका उत्तर हमे विकासवाद के सिद्धात से मिलता है—"मानव एक ऐसा यत्र है जो अभी विकास की अवस्था में है। यदि आप इससे सहमत है तो आप मानव को एक यत्र मान सकते है।"

जिस प्रकार त्रिदेव और ईसा के देवत्व सम्वन्धी धार्मिक विश्वासो को न माननेवाले लोगो के लिए मुक्ति के सिद्धात के अर्थ तक को समझ सकना असम्भव है और जिस प्रकार इस अर्थ की व्याख्या केवल इस आधारभूत मत को मानकर ही की जा सकती है कि ईसा स्वय ईश्वर है—उसी तरह साकारवादी अधविश्वासो से मुक्त मानव के लिए यह समझना तक असम्भव है कि मानव (Species) के आविर्भाव के सम्वन्ध मे जो वाते सिखाई जाती है उनका वास्तविक मूल किस वस्तु मे निहित है और इसका स्पष्टीकरण तभी होता है जव मनुष्य इस आधारभूत सिद्धात को ग्रहण कर लेता है कि मानव-समाज एक शारीरिक यत्र है।

और जिस प्रकार धार्मिक सिद्धातो की सारी वारीकिया केवल मौलिक सिद्धातो में विश्वास करनेवाले व्यक्तियो को ही समझ में आती है, उसी प्रकार समाज-शास्त्र की समस्त सूक्ष्मताए—जिनपर आज नए-से-नए और धुरंधर-से-धुरधर विज्ञानवेता अपना मस्तिष्क खपा रहे हैं—केवल उनमे विश्वास करनेवाले लोगो की समझ में आती है।

दोनो सिद्धातो की सदृशता एक और वात मे भी दिखाई देती है और वह यह कि जो वाते आस्थापूर्वक स्वीकार की जाती है और जिनमे आगे छिद्रान्वेषण करने का कोई प्रश्न ही शेष नही रहता वे विचित्र-से-विचित्र सिद्धातो का आधार वन जाती है। इतना ही नही वल्कि इन सिद्धातो के प्रचारक, जिन्हे अपने को धार्मिक वातो मे पुनीत और वैज्ञानिक वातो मे वुद्धिमान मानने अर्थात् अपने को अचूक समझने के अधिकार पर जोर देने की आदत पड गई है, वे वहुत ही मनमाने, अव्यावहारिक और पूर्णत निराधार निष्कर्ष निकालते है और इन्हे दूसरो के सामने वडी गम्भीरता और पवित्रता के साथ व्यक्त करते है। किंतु जो लोग आधारभूत सिद्धातो को स्वीकार करते हुए भी विस्तार की वातो पर मतभेद रखते है वे इन निष्कर्षो के विचार पर उतनी ही गम्भीरता और पवित्रता के साथ वादविवाद करते है।

उदाहरण के लिए इस सिद्धात के महान् पोषक हरवर्ट स्पेन्सर* ने अपनी एक प्रारम्भिक पुस्तक मे लिखा है—समाज और शरीर-यत्र का निम्नलिखित वातो में एक-दूसरे से सादृश्य है—

(क) छोटे आकार में आरम्भ होकर वे अदृश्य रूप में वढते रहते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी वे अपने मूल्य आकार से दस हजार गुना वड़े हो जाते हैं।

(ख) आरम्भ मे उनकी रूपरेखा इतनी सरल होती है कि कहा जा सकता है कि उनकी कोई रूपरेखा ही नही है, किंतु जैसे-जैसे उनका विकास होता जाता है वैसे-वैसे उनकी जटिलता में वृद्धि होती जाती है।

(ग) प्रारम्भिक और अविकसित काल मे इनके विभिन्न भागो मे परस्पर निर्भरता नही के वरावर होती है, किंतु क्रमश ये एक-दूसरे पर अधिक आश्रित होते हैं और अत में यह निर्भरता इतनी प्रवल हो उठती है कि प्रत्येक भाग की क्रिया और जीवन शेष भागो की क्रिया और जीवन द्वारा ही सम्भव हो पाता है।

(घ) समाज का जीवन और विकास उसकी विभिन्न इकाइयो के जीवन और विकास से स्वतत्र और अधिक दीर्घजीवी होता है। इकाइयो का जन्म, विकास, कार्य, पुनर्जन्म और मरण तो निरतर चलता ही रहता है, जवकि उनसे वना हुआ समुदाय पीढी-दर-पीढी तक जीवित रहता है और अपने ढाचे की सम्पूर्णता और क्रियाशीलता के कारण आकार में निरन्तर वृद्धि पाता रहता है।

इसके वाद हरवर्ट स्पेन्सर शरीर-यत्र और समाज के विभेदो की चर्चा करते हुए यह वताने की चेष्टा करते है कि ये भेद देखने भर को हैं और वास्तव मे शरीर और समाज विलकुल एक जैसे होते है।

एक नए व्यक्ति के हृदय में स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि आखिर आप कह क्या रहे हैं ? समाज एक शारीरिक यत्र क्योकर है ? इनमें समानता कहा से आई ? आप कहते हैं कि ऊपर लिखे चार

---

* प्रसिद्ध व्रिटिश दार्शनिक (१८२०–१९०३)—संश्लेषात्मक दर्शन के समर्थक।

लक्षणो के कारण ही समाज शरीर-यत्र से मिलता-जुलता है, लेकिन इसमे तो लेशमात्र भी सचाई नही। आप तो शरीर-यत्र के कुछ इने-गिने लक्षणो को ही लेते है और उन्हीके अतर्गत मानव-समाज की भी गणना कर लेते है। पहले तो आप समानता के चार लक्षण दिखाते है और फिर भेदो की चर्चा करते है। लेकिन आपकी राय मे ये भेद सिर्फ दिखावटी है, इसलिए आप इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि मानव-समाज को शरीर-यत्र माना जा सकता है। लेकिन यह तो केवल एक वाक्-पटुता हुई, इस आधार पर तो आप जिस वस्तु की भी चाहे शरीर-यत्र के लक्षणो के अतर्गत गणना कर सकते है।"

उदाहरण के लिए एक जगल को ले लीजिए जो मैदान मे लगाया जाता है और धीरे-धीरे बढता जाता है।

(क) स्पेन्सर ने पहली बात यह कही है कि छोटे आकार मे आरम्भ होकर ये अदृश्य रूप से बढते रहते है···आदि आदि। यही तो खेतो के साथ भी होता है। बीज धीरे-धीरे मैदान मे जड जमा लेते है और मैदान वृक्षो से भर जाता है।

(ख) स्पेन्सर की दूसरी बात यह है कि प्रारम्भ मे ढाचा बिलकुल सरल होता है किंतु बाद मे बढता जाता है। ठीक यही तो जगल के साथ भी होता है। सबसे पहले केवल कोमल तरु होते है और उसके बाद झाड-झखाड। पहले ये सभी सीधे उगते है, परन्तु बाद मे इनकी शाखाए एक-दूसरे से लिपट जाती है।

(ग) स्पेन्सर ने तीसरी बात यह कही है कि विभिन्न भागो की परस्पर निर्भरता बढती जाती है, यहा तक कि प्रत्येक भाग का जीवन शेष भागो के जीवन और क्रिया पर आश्रित हो जाता है.. । यही वृक्षो के साथ भी होता है। झाडियो से वृक्षो के तनो को गर्मी पहुचती है। इसी प्रकार यदि उन्हे काट डाला जाय तो दूसरे वृक्षो को जाडे मे पाला मार जाय। सीमावर्ती पेडो से जगल की हवा से रक्षा होती है और बीजवाले पेडो का उत्पादन-कार्य जारी रहता है। लम्बे और पत्तीदार वृक्ष छाया प्रदान करते है और एक वृक्ष का जीवन दूसरे वृक्ष के जीवन पर आश्रित होता है।

(घ) स्पेन्सर की चौथी मान्यता यह है कि भिन्न-भिन्न भ.गों का नाश हो सकता है किंतु उनसे बनी हुई सम्पूर्णता अमर रहती है...। यही बात जगल के लिए भी कही जा सकती है। कहावत भी है कि जगल किसी एक वृक्ष के लिए रुदन नही करता।

शरीर-यत्र के सिद्धात के समर्थक साधारणत जो उदाहरण देते है उसकी भी यही बात है। वे कहते है कि शरीर से यदि आप भुजा को काट डाले तो वह भुजा नष्ट हो जाती है। हम कहते है कि किसी वृक्ष को जगल की छाया और भूमि से हटा दीजिए और वह नष्ट हो जायगा।

इस सिद्धात मे और ईसाई सिद्धात व विश्वास के आधार पर सस्थापित सभी दूसरे सिद्धातो मे एक मार्के की समानता है। वह यह कि ये सिद्धात तर्क द्वारा खडित नही किये जा सकते। सैद्धातिक रूप से यह प्रमाणित करके कि हमे एक जगल को भी शरीर-यत्र मानने का अधिकार है हम समझते है कि हमने वैज्ञानिको के सामने उनकी परिभाषा की अशुद्धता प्रकट कर दी है, किंतु यह बात लेश मात्र भी सत्य नही है। वैज्ञानिक लोग शरीर-यत्र की जो परिभाषा करते है वह इतनी अनिश्चित और लचीली होती है कि वे उसके अतर्गत जो चाहे वही सम्मिलित कर सकते है। वे जगल को भी एक यत्र मान सकते है। जगल भी तो एक दूसरे को क्षति न पहुचानेवाले भिन्न-भिन्न अगो की शान्तिपूर्ण क्रिया-प्रतिक्रिया ही है, वह भी तो एक ऐसी समाविष्ट वस्तु है जिसके पृथक-पृथक अगो का एक-दूसरे से घनिष्ठ सयोग हो सकता है और जो मधुमक्खियो के झुड की तरह एक बन सकते है।

इसके उत्तर मे आप कह सकते है कि तब तो उस जगल के पक्षी और कीडे-मकोडे भी—जिनकी एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है किंतु जो एक-दूसरे को नष्ट नही करते—यहा तक कि उस जगल के वृक्ष भी शरीर-यत्र माने जा सकते है।

वैज्ञानिक लोग आपकी इस मान्यता को भी स्वीकार कर लेंगे। उनके सिद्धात के अनुसार जीवित पदार्थो का हर वह समन्वय जिसके

पृथक-पृथक अगो की आपस में प्रतिक्रिया होती रहती है किंतु जो एक दूसरे को नष्ट नही करते, एक शरीर-यत्र माना जा सकता है। आप जिन पदार्थो मे भी चाहे, पारस्परिक सम्बन्ध और सहयोग की मान्यता कर सकते है और कह सकते है कि जिस चीज को भी चाहे उसीके विकास से दीर्घ काल में मनचाही वस्तु की उत्पत्ति हो सकती है।

प्रभु के त्रिदेव रूप में विश्वास करनेवाले लोगो के सामने यह सिद्ध करना असम्भव है कि भगवान के तीन रूप नही है, फिर भी यह बताना तो सम्भव है ही कि उनका मत ज्ञान पर नही बल्कि धार्मिक विश्वास पर आधारित है और यदि वे यह कहते हैं कि भगवान तीन है तो हम यह भी साधिकार कह सकते हैं कि भगवान १७$\frac{1}{2}$ है।

इतने ही विश्वास के साथ बल्कि और भी अधिक विश्वास के साथ साकारवादी और विकासवादी विज्ञान के समर्थको को भी यही उत्तर दिया जा सकता है। उस विज्ञान के आधार पर तो कोई कुछ भी प्रमाणित कर सकता है। लेकिन सबसे बडे मार्के की बात तो यह है कि यही साकारवादी विज्ञान वैज्ञानिक प्रणाली को सत्य ज्ञान का सकेत मानता है और जिसे वह वैज्ञानिक प्रणाली कहता है उसकी उसने स्वय परिभाषा भी कर दी है। वास्तव मे जिसे वह वैज्ञानिक प्रणाली कहकर पुकारता है वह और कुछ नही बल्कि साधारण बुद्धि है और यही साधारण बुद्धि पद-पद पर उसकी त्रुटिया दिखाती है।

जो लोग साधु-सतो के पद पर आसीन थे उन लोगो ने जैसे ही यह अनुभव किया कि उनमे अब साधुत्व की कोई बात शेष नही रह गई है और वे अब अभिशापित हो गए है वैसे ही उन्होने अपने को (पोप और धर्मसभा की भाति) पुनीत ही नही बल्कि महापुनीत कहना आरम्भ कर दिया। वैसे ही, जैसे ही विज्ञान ने देखा कि अब उसमें कोई तर्कसगत बात नही रह गई है वैसे ही उसने अपने को तर्कसगत अथवा 'वैज्ञानिक' या 'शास्त्रीय' विज्ञान कहना आरम्भ कर दिया।

: ३१ :

श्रम-विभाजन की भ्रामक धारणा

कहा जाता है कि श्रम-विभाजन का नियम तो ससार के सभी पदार्थों में पाया जाता है, इसलिए उसका मानव-समाज में भी होना अनिवार्य है। बहुत सम्भव है कि बात ऐसी हो; किंतु इसके बावजूद यह प्रश्न तो बना रहता है कि क्या श्रम-विभाजन ठीक वैसा ही होना चाहिए जैसा कि वह आज के मानव-समाज में पाया जाता है? यदि श्रम-विभाजन की कोई एक प्रणाली लोगो को अनुचित और अन्याय-पूर्ण प्रतीत हो तो फिर किसी भी विज्ञान के लिए यह प्रमाणित करना सम्भव नही कि यही प्रणाली—जिसे लोग अनुचित और अन्यायपूर्ण समझते है—जारी रहनी चाहिए।

ईसाई धर्म ने यह सिद्धात प्रतिपादित किया था कि शक्ति ईश्वर-प्रदत्त है। बहुत सम्भव है कि ऐसा ही हो भी; किंतु यह प्रश्न तो शेष रह ही गया था—"ईश्वर ने यह शक्ति किसको दी है—कैथरीन [1] को या भूगोश्योफ [2] को?" निस्सदेह धर्म की कोई भी व्याख्या इस शका का समाधान नही कर सकती।

इसी प्रकार आत्मा के विकास मे विश्वास करनेवाले दर्शन-शास्त्र ने बताया था कि राज्य और कुछ नही, व्यक्तित्व के ही विकास का

---

१ रूस की महारानी कैथरीन द्वितीय (महान्), राज्यकाल—१७६१ से १७९६।

२ भूगोश्योफ ने १७७२ से १७७५ तक एक बडे ही भयकर किसान-विद्रोह का नेतृत्व किया था। इसने कितने ही नगरो पर अधिकार कर लिया था।

एक रूप है। किंतु इससे इस प्रश्न का उत्तर नही मिला—"क्या नीरो [1] और चगेज़खा [2] के राज्य को व्यक्तित्व के विकास का प्रतिरूपक माना जा सकता है ? निस्सदेह उच्च-से-उच्च दर्शन-वाणी भी इस शका को नही मिटा सकती।

यही वात विज्ञान पर भी लागू होती है। वैज्ञानिको के मतानुसार श्रम-विभाजन शरीर-यत्रो अर्थात मानव-समाज के जीवन का एक अनिवार्य आधार है। किंतु मानव-समाज मे हम किस वस्तु को इद्रियो का श्रम-विभाजन माने ? कृमि-ततुओ के श्रम-विभाजन का अध्ययन विज्ञान चाहे जितना भी करे उसका यह कार्य मनुष्य को यह वात मानने के लिए प्रेरित नही कर सकता कि जिस श्रम-विभाजन को उसकी वुद्धि और आत्मा अगीकार नही करती वह न्यायपूर्ण है।

शरीर के जिन ततुओ की हम खोज-बीन करते है उनमे श्रम-विभाजन का हमे चाहे कितना भी अकाट्य प्रमाण क्यो न मिले, यदि हमारी वुद्धि विलकुल मारी नही गई है तो हम यही कहेगे कि किसी मनुष्य को जन्म भर सूती कपडा ही वुनते रहना अर्थात एक ही प्रकार के कार्य मे जुटे रहना प्रयोजनीय नही है, इस प्रकार की व्यवस्था श्रम-विभाजन नही वल्कि मनुष्य पर अत्याचार है।

स्पेसर [3] और दूसरे लोग कहते है कि जुलाहो का एक पूरा-का-पूरा वर्ग है, इसलिए उनकी क्रियाए अवश्य ही इद्रियो के श्रम-विभाजन पर आधारित होगी। किंतु यह तो ठीक वही वात हुई जो धार्मिक आचार्य कहा करते थे। धर्मवेत्ताओ के कथनानुसार इस संसार मे एक

---

१ रोम के कुविख्यात सम्राट् क्लाडियस सीज़र नीरो (ईसा पूर्व ३७–६८) का १४ वर्ष का शासन-काल विश्व के इतिहास मे क्रूरता और व्यभिचार के लिए प्रसिद्ध है।

२ मगोलिया का प्रसिद्ध वर्वर शासक, जिसने दो वार चीन पर आधिपत्य जमाया और तुर्को को यूरोपीय सीमा से वाहर निकलने पर वाध्य किया—(११६२–१२२७)।

३ प्रसिद्ध मनोविज्ञानवेत्ता हर्वर्ट स्पेसर (१८२०–१९०३)।

शक्ति है, इसलिए वह ईश्वरप्रदत्त है चाहे वह कैसी भी क्यो न हो। इसी प्रकार स्पेसर आदि के कहने का अर्थ यह हुआ कि चूकि इस ससार मे जुलाहे है इसीलिए श्रम-विभाजन का भी यही उचित रूप है। इस तर्क मे कुछ तथ्य हो सकता था यदि उपर्युक्त शक्ति और जुलाहो की उत्पत्ति स्वय हुई होती। किंतु हम जानते है कि वे स्वय उत्पन्न नही हुए है बल्कि हमने उन्हे जन्म दिया है। इसलिए हमे यह देखना होगा कि हमने उस शक्ति को ईश्वर के इच्छानुसार उत्पन्न किया है या स्वय अपनी इच्छा से। और इसी प्रकार यह भी देखना होगा कि हमने इन जुलाहो को इद्रिय सम्बन्धी नियम के अनुसार जन्म दिया है या किसी और वस्तु के आधार पर।

लोग खेतीबारी करके अपना जीवन-निर्वाह करते है, जैसा कि सब लोगो के लिए करना उचित है। मान लीजिए कि इनमें से एक आदमी लुहार की धौकनी लगा लेता है और अपने हल की मरम्मत आप कर लेता है। उसे ऐसा करते देख उसका पडोसी उसके पास आता है और कहता है कि मेरे हल की भी मरम्मत कर दो, इसके बदले में मै तुम्हे काम या रुपया दूगा। इसी तरह फिर कोई तीसरा आदमी आता है, फिर चौथा और सिलसिला आगे चल पडता है। अब इन लोगो मे आपसे आप श्रम-विभाजन की स्थापना हो जाती है और एक आदमी लुहार का काम ले बैठता है। इसी तरह मान लीजिए कि कोई दूसरा आदमी अपने बच्चो को अच्छी तरह से पढा-लिखा लेता है, जिसे देख कर और लोग भी उसके पास अपने बच्चे लाकर पढाने को कहते है। अब वह आदमी अध्यापक बन बैठता है। लेकिन स्मरण रखिए कि ये लुहार और अध्यापक दोनो ही अस्तित्व मे केवल इसलिए आए कि समाज ने उन्हे लुहारी और अध्यापन का कार्य करने को कहा और वे लुहार और अध्यापक उसी समय तक रह सकते है जबतक कि समाज उन्हे लुहारी और अध्यापन का कार्य करने के लिए कहता रहे। अब यदि ऐसा हो जाय कि बहुत-से लुहार और अध्यापक पैदा हो जायं और उनके काम की दूसरो को आवश्यकता न रह जाय तो ऐसी दशा में साधारण बुद्धि यही कहती है कि वे लोग फौरन इस पेशे को छोडकर

फिर से खेतीबारी करने लग जायगे । जहा कही भी उचित श्रम-विभाजन की व्यवस्था के भग होने का कोई कारण नही होता वहा सदा ऐसा ही होता भी है ।

जो लोग ऐसा करते है वे अपनी वुद्धि और अन्तरात्मा की प्रेरणा ही से करते है । अतएव हम लोग, जिन्हे भगवान् ने वुद्धि और अन्तरात्मा प्रदान की है, इस प्रकार के श्रम-विभाजन को उचित मानते है । किंतु यदि स्थिति ऐसी हो जाय कि लुहार दूसरो को अपना काम करने के लिए विवश कर सके और घोडे की नाल वनाने का काम उस समय भी जारी रखे जव नालो की किसीको आवश्यकता ही न हो और इसी प्रकार यदि अध्यापक अपने अध्यापन का कार्य उस समय भी चलाते रहे जव कोई पढनेवाला ही न हो तो वुद्धि और अन्तरात्मा से विभूपित प्रत्येक दर्शक को यही लगेगा कि यह तो श्रम-विभाजन नही वल्कि दूसरे लोगो के श्रम का शोपण है, क्योकि इस प्रकार के कार्य उस कसौटी पर खरे नहीं उतरते जो श्रम-विभाजन के औचित्य को परखने का एकमात्र साधन है । कसौटी यह है कि लोग जो काम करते है उसकी माग दूसरे आदमियो मे भी हो और लोग उसके लिए स्वेच्छा से पारिश्रमिक देने को तैयार हो । फिर भी वैज्ञानिक लोग इसी शोपण को श्रम-विभाजन कहते है ।

लोग ऐसी चीजे वनाते है जिनकी दूसरो को आवश्यकता नही होती, फिर भी वे चाहते है कि उनके इस कार्य के वदले उनका भरण-पोपण किया जाय। इतना ही नही वे तो यह भी कहते है कि श्रम-विभाजन के नियमो के अनुकूल होने के कारण उनका यह कार्य उचित है ।

हमारे ही देश मे नही, वल्कि सभी स्थानो मे जिस सवसे वडे दूपण का जनता को दुख उठाना पडता है वह है उस देश की सरकार और उसके अंतर्गत कार्य करनेवाले अनगिनत अधिकारी । अग्रेजो के कथनानुसार हमारे आज के आर्थिक कष्ट का कारण 'आवश्यकता से अधिक उत्पादन' है । अर्थात्, उनका कहना है कि ऐसे पदार्थो का अत्यधिक परिमाण मे उत्पादन होता है जिन्हे कोई चाहता नही या

जिनके सम्बन्ध में लोगो को यह समझ मे नही आता कि इनका क्या किया जाय। यह सब उस विचित्र भावना का परिणाम है जो हमारे मस्तिष्क में श्रम-विभाजन के सम्बन्ध मे वैठी हुई है।

यदि कोई मोची लगातार ऐसे जूते बनाता रहे जिनकी बहुत दिनो से किसीको आवश्यकता ही नही रह गई है और यदि वह यह सोचे कि उसके इस कार्य के बदले उसका भरण-पोषण करना लोगो का कर्त्तव्य है तो हमे वडा आश्चर्य होगा। किन्तु जो लोग शासन-व्यवस्था, गिरजा, विज्ञान और कला से सम्बन्धित है उनके लिए क्या कहा जाय? वे तो जनता के लिए कोई भी ग्राह्य या उपयोगी वस्तु नही बनाते। उनकी बनाई हुई चीजो की किसीको आवश्यकता नही, फिर भी वे श्रम-विभाजन की दुहाई देते हुए बडी निर्भीकता के साथ कहते है कि हमें अच्छा खाना और कपडा मिले।

ऐसे जादूगर तो हो सकते है जिनके खेलो को जनता पसद करे और उन्हें खूब खिलए-पिलाए; लेकिन ऐसे जादूगरो की तो कल्पना तक नही की जा सकती जिनके तमाशे किसीको पसद न हो और फिर भी वे अपनी करामातो के बदले निर्भीकतापूर्वक वढिया खाने-पीने की माग करें। किंतु आज सरकारी लोग, गिरजा मे काम करनेवाले और विज्ञान या कला के विशेपज्ञ, संसार के सभी लोग यही तो कर रहे है और यह सब श्रम-विभाजन की मिथ्या कल्पना का ही तो परिणाम है—एक ऐसी कल्पना जो मनुष्य की अन्तरात्मा से उद्भूत नही हुई है वल्कि उन निष्कर्षो पर अवलम्बित है जिन्हे वैज्ञानिक लोगो ने एक स्वर से स्वीकार कर लिया।

श्रम-विभाजन तो सदा रहा है और अब भी है, किंतु वह उचित तभी होता है जव उसकी रूपरेखा का निर्णय मनुष्य की वुद्धि और अन्तरात्मा करती है, न कि केवल उसके प्रचलन को देखकर ही उसे स्वीकार कर लिया जाता है। सभी मनुष्यो की बुद्धि और अन्तरात्मा इस रूपरेखा का निर्णय वडे ही सरल और असदिग्ध रूप मे एक स्वर के साथ करती है—वह यह कि श्रम-विभाजन उचित तभी होता है जब किसी एक व्यक्ति की विशेष क्रिया की दूसरे लोगो को इतनी आवश्यकता होती है कि वे न केवल उससे उस कार्य को करने को कहते

है वल्कि उसकी सेवाओ के वदले स्वेच्छापूर्वक उसका भरण-पोपण भी करने को तत्पर हो जाते हैं। किंतु यदि कोई व्यक्ति अपने वचपन से लेकर तीस वर्ष की आयु तक दूसरो के सहारे जीवनयापन करता हुआ यह वचन देता रह सकता है कि पढ-लिखकर मैं आपके लिए कोई उपयोगी काम करूगा---ऐसा कार्य जो कोई उससे करने के लिए नही कहता---और यदि तीस वर्ष की आयु के वाद से मृत्यु पर्यन्त भी वह इसी प्रकार जीवन विताता रह सकता है और ऐसे कार्यो के करते रहने का वचन देता रह सकता है जिसे लोग उसे करने को नही कहते, तो यह श्रम-विभाजन नही माना जा सकता और वास्तव मे यह श्रम-विभाजन है भी नही। यह तो शक्तिशालियो द्वारा निर्वलो के श्रम का शोषण मात्र है। यह तो वही डकैती है जिसे धर्माचार्य 'ईश्वरीय विधान' कहकर पुकारते थे, जिसे वाद मे दार्शनिको ने 'जीवन का आवश्यक रूप' कहकर पुकारा और जिसे आज वैज्ञानिक लोग इद्रियो का श्रम-विभाजन कहते हैं। यही वह एकमात्र तथ्य है जिसमे आज के सत्ताधारी विज्ञान का सारा महत्व निहित है।

आज का विज्ञान हमारी अकर्मण्यता के लिए प्रमाण-पत्र देने लगा है, क्योकि अकेले उसीको अपनी शोधशाला मे वैठकर इस वात का निर्णय करने का अधिकार है कि समाज-रूपी शरीर-यत्र मे कौन-सा कार्य इद्रिय सम्वन्धी नियमो के अनुसार हो रहा है और कौनसा उसके विरुद्ध। इसका आशय तो यह हुआ कि इस वात का निर्णय हर आदमी स्वय अपनी वुद्धि और अन्तरात्मा से पूछकर नही कर सकता, यद्यपि सत्य यह है कि उसकी वुद्धि और अन्तरात्मा का निर्णय कही अधिक सच्चा और तात्कालिक होता है।

जिस प्रकार पहले धर्माचार्यो के सम्वन्ध मे और वाद मे सरकारी अधिकारियो के वारे में यह सदेह नही किया जा सकता था कि समाज के लिए वे ही सवसे अधिक आवश्यक है उसी प्रकार आज वैज्ञानिको के सम्वन्ध मे ऐसा लगता है कि उनकी क्रियाए शरीर-यत्र के नियमो के विलकुल अनुकूल है अर्थात् वैज्ञानिक और कलाकार ही शरीर-यत्र के सवसे वहुमूल्य मेधा-तन्तु है। लेकिन भगवान् इनका भला करे!

इसमे तो कोई बुराई नही कि ये लोग भी पुराने जमाने के पुरोहितों और दार्शनिको की तरह लोगो पर शासन करें और खाय पियें, मौज उड़ाय, किंतु शर्त यह है कि वे उनकी तरह जनता को कुमार्ग पर न ले जायं।

चूकि मनुष्य तर्कशील व्यक्ति है इसलिए वह सदा अच्छे और बुरे में अन्तर करता आया है और इस दिशा में अपने पूर्वजो के अनुभव से भी लाभ उठाता रहा है। मनुष्य बुद्धि मे सघर्ष करता रहा है, सत्य और सर्वोत्तम मार्ग को ढूढता रहा है और धीरे-धीरे किंतु दृढता के साथ उस मार्ग पर बढता रहा है। उसके इस मार्ग में बाधा डालने के लिए बहुत-से भ्रम खडे किये जाते रहे है ताकि उसे बहकाया जा सके कि वह जो कुछ भी कर रहा है ठीक नही है और उसे पुराने लोगों की तरह से ही जीवन बिताते रहना चाहिए। सबसे पहले तो ईसाई धर्म के वे पुराने भयकर भ्रम सामने आए जिनसे मनुष्य ने बडे ही सघर्ष और श्रम के पश्चात अपने को धीरे-धीरे मुक्त किया, किंतु उनसे पूरी तरह से पिंड छूटने से पहले ही एक नया धोखा आ खडा हुआ और वह था राज्य-दर्शन का धोखा। मनुष्य ने इस जाल को भी भग किया किंतु अब एक नया तथा और भी अधिक भयकर छल उसके मार्ग मे बाधा देने के लिए आ खड़ा हुआ है और वह है विज्ञान का छल।

यह नया छल भी वैसा ही है जैसे कि पुराने थे, बस इतनी विशेषता अवश्य है कि हमारी अपनी और पूर्वजो की बुद्धि और अन्तरात्मा के स्थान पर एक बाह्य वस्तु का प्रयोग होने लगा है। इस बाह्य वस्तु को धर्मशास्त्रो में 'दैवी ज्ञान' कहा जाता था और इसीको अब विज्ञान में 'निरीक्षण' कहा जाता है। विज्ञान की चाल यह है कि मानवीय बुद्धि और अन्तरात्मा की भयकरतम कर्त्तव्यच्युतियो की तरफ ध्यान आकर्षित करके वह बुद्धि और अन्तरात्मा के प्रति मनुष्य के विश्वास को नष्ट कर देना चाहता है और अपने इस भ्रम-जाल को एक वैज्ञानिक सिद्धात का बाना पहनाकर यह विश्वास दिलाना चाहता है कि बाह्य-तत्व का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य उन

असदिग्ध तथ्यो की जानकारी प्राप्त कर लेता है जो उसके समक्ष मनुष्य-जीवन के नियमो को स्पष्ट कर देते है। इसके फलस्वरूप मनुष्य का मानसिक अध पतन हो जाता है। चूकि उसे यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है कि प्रत्येक वस्तु का निर्णय निरीक्षण के आधार पर ही होना उचित है—यद्यपि वास्तव मे यह निर्णय बुद्धि और अन्तरात्मा द्वारा होना चाहिए—इसलिए उसकी अच्छे और बुरे को समझने की चेतना नष्ट हो जाती है और वह अच्छाई और बुराई की उस व्याख्या को समझने मे असमर्थ हो जाता है जो उससे पहले का समाज करता आया था। उसकी धारणा यह हो जाती है कि ये सब बातें व्यक्तिगत और अन्य बातो पर आश्रित हैं, इसलिए इनका परित्याग कर देना चाहिए; सत्य का ज्ञान किसी एक व्यक्ति की बुद्धि या तर्कशक्ति से नही होता क्योकि मनुष्य से भूल हो सकती है। उसके कथनानुसार सत्य को समझने का एक दूसरा मार्ग है जो कि अचूक और बिलकुल यत्रवत है। यह मार्ग है तथ्य का अध्ययन करना। तथ्य का अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर होना चाहिए अर्थात् साकारवाद और विकासवाद के उन दो सिद्धान्तो के आधार पर, जो निराधार हैं किंतु हमारे समक्ष असदिग्ध सत्य कहकर प्रस्तुत किये जाते हैं।

आज का विज्ञान, जिसका इतना बोलबाला है और जिसकी गम्भीरता गिरजा-धर्म से कम भ्रामक नही है, यह घोषणा करता है कि जीवन सम्बन्धी सभी प्रश्नो का एकमात्र हल प्रकृति—विशेषत. शरीर-यत्रो—के तथ्यो का अध्ययन करना है। इस घोषणा का न तो अब तक प्रतिकार ही हुआ है और न सच पूछिए तो उसकी आलोचना करने की ही चेष्टा की गई है। उसकी नवीनता से प्रभावित होकर कुछ खिलवाडी नवयुवक प्राकृतिक विज्ञान के इन तथ्यो का अध्ययन करने दौड पडते है और उस मार्ग का अनुसरण करने लगते है जो प्रचलित सिद्धात के अनुसार हमे जीवन सम्बन्धी प्रश्नो के स्पष्टीकरण की ओर ले जानेवाला एकमात्र मार्ग है। किंतु ये विद्यार्थी जितना ही इसका अध्ययन करते है उतना ही वे जीवन की समस्याओ को हल करने की न केवल सम्भावना से बल्कि कल्पना तक से दूर हटते चले

जाते हैं। और जितना ही वे अपने निरीक्षण पर अवलम्बित न रहकर दूसरों के निरीक्षण के आधार पर बताई गई बातो को विश्वासपूर्वक ग्रहण करने के आदी बनते जाते है उतना ही आन्तरिक सत्य उनकी आखो से ओझल होता चला जाता है और उतना ही वे अच्छे और बुरे को समझने की अपनी चेतना को खोते चले जाते है तथा अपने पूर्ववर्त्ती मानव-समाज द्वारा निर्धारित अच्छाई-बुराई की व्याख्या को समझ सकने की उनकी शक्ति लुप्त होती चली जाती है। इसी प्रकार जितना ही वे विज्ञान के अनर्गल सिद्धात का अनुकरण करते जाते है—जिसका कि मनुष्य के लिए कोई महत्त्व नही होता—उतना ही वे बिलकुल अंधकारपूर्ण निरीक्षण के टूटे-फूटे खडहरो मे खोए फिरते है और उतना ही वे स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने की अपनी शक्ति को ही नहीं खो बैठते बल्कि अपने सिद्धात की सीमा से बाहर दूसरे लोगो के नवीन विचारो को समझने की क्षमता से भी हाथ धो बैठते हैं। सबसे बडे महत्त्व की बात तो यह है कि अपनी आयु के सर्वोत्कृष्ट वर्ष वे जीवन अर्थात श्रम के प्रति अनभ्यस्त बनने मे बिता देते है और अपनी स्थिति को न्यायसगत मानने के आदी हो जाते है, जब कि शरीर से वे बिलकुल निरर्थक पंगु बन जाते है। दार्शनिको और तालमद* के अनुयाइयो की तरह उनकी मेधा-शक्ति का लोप हो जाता है, वे मानसिक जनखे बन जाते है और जैसे-जैसे उनकी बुद्धि मन्द होती जाती है वैसे-वैसे उनके मन मे एक प्रकार की आत्मविश्वास की भावना उदित होती है जो उन्हे सरल, स्पष्ट और मानवीय विचार-शैली को पुन अपना सकने की सम्भावना से सदा के लिए वचित कर देती है।

---

* यहूदी कानूनो और पौराणिक कथाओ के सग्रह का नाम तालमद है।

: ३२ :

बुद्धिजीवियों के थोथे वचन

श्रम-विभाजन मानव-समाज मे सदा रहा है और कदाचित सदा रहेगा; किंतु प्रश्न श्रम-विभाजन की विद्यमानता का नही बल्कि उस कसौटी का है जिसपर कसकर हम श्रम-विभाजन को खरा मान सकते है। यदि हम निरीक्षण को कसौटी माने तो इसका अर्थ यह है कि हमे अन्य सभी कसौटिया अस्वीकार्य है और समाज मे प्रचलित जो कोई भी श्रम-विभाजन हमें उचित दिखाई देगा उसीको हम ठीक मानने को तैयार हो जायगे। वास्तव मे यही वह दिशा है जिधर आज का सत्ताधारी विज्ञान हमे ले जा रहा है।

"श्रम-विभाजन! कुछ लोग मानसिक और आत्मिक श्रम मे सलग्न है, तो कुछ शारीरिक श्रम मे"—यह बात लोग कितने विश्वास के साथ कहते है। वास्तव मे वे ऐसा ही विश्वास भी करना चाहते है और समझते है कि इस ससार मे सभी लोगो की सेवाओ का एक-दूसरे से बिलकुल ठीक विनिमय हो रहा है। किंतु आज जो श्रम-विभाजन प्रचलित है वह वास्तव मे बलात्कार और शोषण का ही सरल और अत्यत पुराना रूप है।

लोग कहते है—"तू या तुम लोग (क्योकि एक आदमी को खिलाने के लिए प्राय अनेक आदमियो की आवश्यकता होती है) मुझे खाना खिलाओ, कपडे दो, मेरे लिए वे सभी कठोर कार्य करो जो मै तुमसे करने के लिए कहू और जिनको तुम मेरे लिए बचपन से ही करते आए हो। अगर तुम ऐसा करोगे तो इसके बदले मै तुम्हारे लिए वह मानसिक कार्य करूगा जिसके करने मे मै समर्थ हू

और जिसका मुझे अभ्यास है। तुम मुझे शारीरिक भोजन दो और मैं तुम्हे आत्मिक भोजन दूंगा।" यह लेखा-जोखा मालूम तो बिल्कुल ठीक होता है और वास्तव में ठीक है भी, बशर्ते कि सेवाओ का यह विनिमय स्वेच्छापूर्वक हो और जो लोग शारीरिक भोजन देते है उन्हे आत्मिक भोजन प्राप्त करने से पहले उसे देने के लिए विवश न होना पडे। आत्मिक भोजन का उत्पादक कहता है—"मैं तुम्हे आत्मिक भोजन दे सकू, इसके लिए तुम मुझे खाना कपडा दो और मैं जो गदगी करू उसे साफ करो। किंतु शारीरिक भोजन के उत्पादक को यह सब काम कोई माग उपस्थित किये बिना ही करना पडता है और यदि उसे आत्मिक भोजन न भी मिले तो भी उसे शारीरिक भोजन देना ही होता है। यदि सेवाओ का विनिमय स्वेच्छापूर्वक होता तो दोनो की स्थिति एक समान होती।

हम मानते है कि मनुष्य के लिए आत्मिक भोजन भी उतना ही आवश्यक है जितना कि शारीरिक भोजन, किंतु विद्वान् और कलाकार कहते है—"इसके पहले कि हम जनसाधारण को आत्मिक भोजन दे हम चाहते है कि वे हमे शारीरिक भोजन दे।" यदि वे ऐसा कह सकते है तो क्या शारीरिक भोजन के उत्पादक यह नही कह सकते कि इसके पहले कि हम शारीरिक भोजन दे हमे आत्मिक भोजन की आवश्यकता है और जबतक वह नही मिलेगा तबतक हम कार्य नही कर सकते?

वैज्ञानिक और कलाकार कहते है—"इसके लिए कि मैं आत्मिक भोजन तैयार कर सकू मुझे एक हल चलानेवाले लुहार, मोची, बढई, ईंट पाथनेवाले, भंगी और दूसरे लोगो की सेवाओ की आवश्यकता है।" इसी तरह हर मजदूर को यह कहने का अधिकार है—"इसके पहले कि मैं तुम्हारे लिए शारीरिक भोजन तैयार करने के लिए कार्य आरम्भ करू मुझे तुम्हारे आत्मिक कार्य का लाभ मिल जाना चाहिए। मुझे अपने कार्य के लिए शक्ति प्राप्त करने के निमित्त धार्मिक शिक्षा, सुव्यवस्थित सामाजिक जीवन, वैज्ञानिक प्रयोगो के लाभ और कला से उत्पन्न आनन्द और सतोष की आवश्यकता है। मेरे पास इतना समय नही कि जीवन के अर्थ की मैं स्वय व्याख्या करू—यह व्याख्या

तुम स्वय करके दो। मेरे पास इसके लिए भी समय नही कि मैं सामाजिक जीवन के लिए उन नियमो का निर्माण करू जिनसे न्याय का उल्लघन रोका जा सकता है––उन्हे तुम स्वय मुझे बनाकर दो। इसी प्रकार मेरे पास यत्रशास्त्र, पदार्थ-विज्ञान, रसायनशास्त्र और शिल्पविद्या के अध्ययन मे लगाने के लिए समय नही है—मुझे तो ऐसी पुस्तके दे दो जो मेरे औजारो, मेरी कार्यप्रणाली, मेरे निवासस्थान और गरमी तथा प्रकाश प्राप्त करने के साधनो को सुधारने की युक्ति वता सके। काव्य, सगीत और शिल्पकला मे व्यस्त रहने के लिए भी मेरे पास समय नही, मुझे तो कला से उद्भूत होनेवाली वे प्रेरणाए और सतोप प्रदान कर दो जिनकी जीवन को आवश्यकता है।" कलाविद और विज्ञानवेत्ता कहते है––"मजदूर लोग हमारे लिए जो काम कर देते है उसे वे न करें तो हम अपनी आवश्यक और महत्वपूर्ण समस्याओ पर ध्यान नही दे सकेगे।" किंतु मजदूर कहता है कि यदि मुझे मेरी वुद्धि और अन्तरात्मा की माग के अनुसार धार्मिक शिक्षा नही मिलती, मेरे श्रम को सुरक्षित रखने के लिए उचित राज्य-व्यवस्था प्राप्त नही होती, मेरे कार्य को सुविधा प्रदान करनेवाला ज्ञान और मेरे श्रम को सुख देनेवाला कला का आनन्द प्राप्त नही होता तो मै हल चलाने, खाद ढोने और गदगी की सफाई करने के उन कामो को नही कर सकता जो कम महत्त्वपूर्ण और आवश्यक नही है। मजदूर यह भी कहता है कि आत्मिक भोजन के रूप मे तुमने अवतक मुझे जो कुछ भी दिया है वह मुझे अनुकूल नही पडता मै तो समझ तक नही सकता कि इससे किसीका क्या भला हो सकता है। इसलिए जवतक मुझे अपने लिए उपयोगी भोजन नही मिलता––जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए––तवतक मै तुमको वह शारीरिक भोजन नही दे सकता जोकि मै उत्पन्न करता हू।

अगर सभी मजदूर लोग ऐसा कहने लगे तो कैसा रहे ? आप अच्छी तरह से जानते है कि ये वातें कोरी मजाक की नही वल्कि सीधी-सादी न्याय की वाते होगी। यदि मजदूर ऐसा कहे तो उनकी यह वात मानसिक कार्यकर्त्ताओ से कही अधिक न्यायसगत होगी, क्योकि श्रम-

जीवियों का काम बुद्धिजीवियों के काम की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य होता है और जहां बुद्धिजीवियों को अपने वचन के अनुसार श्रमजीवियों को आत्मिक भोजन देने में कोई अड़चन नहीं पड़ती वहां श्रमजीवियों को शारीरिक भोजन देने में कठिनाई पड़ती है क्योंकि वह भोजन स्वयं उनके लिए पर्याप्त नहीं होता।

यदि हम-जैसे बुद्धिजीवियों के समक्ष इस प्रकार की सरल और न्याय-संगत मांगें रखी जायं तो हम उनका क्या उत्तर देंगे ? हम उन्हें किस प्रकार संतुष्ट करेंगे ? क्या हम उन्हें इधर-उधर की धार्मिक पुस्तकें और भिन्न-भिन्न मठों और गिरजाघरों से प्रकाशित परचे देकर उनकी धार्मिक शिक्षा की मांग को पूरा कर देंगे ? क्या हम कानूनी पुस्तकों, आदालतों के विभिन्न निर्णयों और अनेकानेक कमेटियों और कमीशनों के नियमों को उपस्थित करके उनकी सामाजिक न्याय की भूख मिटा सकेंगे ? इसी प्रकार क्या हम उनकी ज्ञान की पिपासा को नक्षत्रों और ग्रहों की बनावट, आकाशगंगा की नापतोल, शुष्क रेखागणित, सूक्ष्म यंत्रों द्वारा किये गए शोधों, आत्म-अनात्मवाद के झगड़ों और वैज्ञानिक विद्यालय की कार्रवाइयों द्वारा संतुष्ट कर सकेंगे ? और फिर हम उनकी कलात्मक मांगों की पूर्ति कैसे करेंगे ? पुश्किन,[1] डोस्टोवस्की,[2] तुर्गनेव[3] और टालस्टाय से ? फ्रांस के या अपने देश के ही चित्रकारों के उन चित्रों से जिनमें नंगी औरतों, साटन, मखमल, प्राकृतिक दृश्य आदि के चित्रण किये गए हैं ? वैगनर[4] या अपने ही यहां के किसी संगीतज्ञ के संगीत से ?--इनमें से कोई भी वस्तु न उनके अनुकूल पड़ती, न पड़ सकती है, क्योंकि चूंकि हमें दूसरों के श्रम का प्रयोग करने का अधिकार मिल गया है और आत्मिक भोजन के उत्पादन का हम पर कोई अनिवार्य उत्तरदायित्व नहीं है इसलिए वह उद्देश्य जो

---

१ प्रख्यात रूसी कवि और साहित्यकार (१७९९–१८३०)

२ रूस के महानतम उपन्यासकारों में से एक (१८२१–८१)

३ प्रसिद्ध रूसी उपन्यासकार और कहानीकार (१८१८–८३)

४ यूरोप का क्रांतिकारी संगीतज्ञ (१८१३–८३)

हमारे कार्यों का होना चाहिए हमारी आखों से बिलकुल ओझल हो गया है। हम यह जानते तक नही कि श्रमजीवियो की आवश्यकता क्या है ? हम उनके जीवनयापन के ढग को, उनके दृष्टिकोण को और उनके बोलने के तरीको को भूल गए है। हम खुद मजदूर तक को भूल गए है और हम उनका ठीक उसी तरह से अध्ययन करते है जैसे कोई किसी दुर्लभ जाति या नवज्ञात अमरीका का अध्ययन करता है।

इस प्रकार अपने लिए शारीरिक भोजन की माग करते हुए हमने अपने ऊपर आत्मिक भोजन प्रदान करने का उत्तरदायित्व ग्रहण कर लिया है।

किंतु एक काल्पनिक श्रम-विभाजन के फलस्वरूप—जिसने हमें न केवल कार्य करने से पहले भोजन करने की अनुमति दे रखी है बल्कि जिसके अनुसार हम पीढियो तक बिना कुछ उत्पादन किये ही खूब मौज उड़ा सकते है—हमने अपने भरण-पोषण के बदले मे देने के लिए ऐसी चीजें तैयार की है जो कि केवल विज्ञान और कला के लिए उपयोगी प्रतीत होती है, किंतु जो उन लोगो के लिए बिल्कुल निरर्थक, अग्राह्य और घृणास्पद है जिनके श्रम का शोषण हमने बदले मे आत्मिक भोजन देने का बहाना करके कर लिया है। अपने कधो पर हमने जो उत्तर-दायित्व ग्रहण किया है उसे अंधतावश हमने अपनी आंखो से इतना ओझल कर दिया है कि हम यह भी भूल गए है कि हम जो कार्य कर रहे है उसका उद्देश्य क्या है; यहांतक कि जिन लोगो की सेवा करने का भार हमने लिया था उन्हीको अपनी वैज्ञानिक और कलात्मक क्रिया का विषय बना लिया है। हम उनका अध्ययन करते है और अपने विनोद और मनोरंजन के लिए उनके जीवन का चित्रण करते है। इस बात को हम बिलकुल भूल गए है कि हमे उनका अध्ययन और चित्रण नही बल्कि उनकी सेवा करनी चाहिए।

अपने कधो पर ग्रहण किये हुए उत्तरदायित्वो को हमने इतना अधिक भुला दिया है कि हम यह नही देख पाते कि विज्ञान और कला के क्षेत्रों में हमने जो कुछ भी करने की जिम्मेदारी ली थी उसे हमने नही दूसरो ने किया है और हमारा अपना स्थान भरा हुआ है। ऐसा

मालूम होता है कि जिस समय हम कभी शरीर-यन्त्रो की आकस्मिक उत्पत्ति, कभी अध्यात्मवाद, कभी परमाणुओ के रूप, कभी विभिन्न अगो की स्वयभू पुनरुत्पत्ति और कभी वनस्पतियो व प्राणियो के जीवन सम्बन्धी आधार-तत्वो आदि के सम्बन्ध मे तर्क-वितर्क कर रहे थे—ठीक वैसे ही जैसे कि दार्शनिक लोग वर्जिन मेरी के निर्दोष, मूलभूत पाप-कर्म से अछूते जन्म के सम्बन्ध में वादविवाद करते थे—जन-साधारण को आध्यात्मिक भोजन की आवश्यकता हुई और जो लोग विज्ञान तथा कला के क्षेत्र मे असफल होकर तिरस्कृत हो चुके थे उन्होने एकमात्र आर्थिक लाभ के लिए चिन्तित रहनेवाले व्यापारियो के आदेश पर जनता को आत्मिक भोजन देना आरम्भ कर दिया और तवसे वे निरतर ऐसा करते आ रहे है। यूरोप के अन्य भागो मे प्राय चालीस वर्षो मे और रूस मे भी पिछले लगभग दस वर्षों मे करोडो पुस्तके, चित्र और गानो की किताबें जन-साधारण में छापकर बाटी गई है और लोगो के सामने प्रदर्शन किये गए है। जन-साधारण इन्हे देखते है, गाते है और अपना आत्मिक भोजन प्राप्त करते है। इस भोजन को देने का उत्तरदायित्व तो हमने लिया था, किंतु उन्हें यह मिलता है किसी और से, और हम जो इस आत्मिक भोजन को प्रदान करने के नाम पर अपनी अकर्मण्यता को उचित ठहराते है, चुपचाप बैठे-बैठे आखे फाडे देखते रहते है। किंतु हमे इस तरह आखें फाडकर नही देखना चाहिए क्योकि हमारे पक्ष की अतिम दलील भी अदृश्य होती जा रही है। हम सोचते है कि हमने किसी एक विषय मे विशेषता प्राप्त की है, इसलिए हमारा कार्य भी एक विशेष प्रकार का है। हम सोचते है कि हम जनता के मस्तिष्क है, जनता हमें भोजन देती है, हमने उसे शिक्षित बनाने का उत्तरदायित्व अपने कधो पर लिया है और यही एकमात्र कारण है कि हमने अपने को श्रम से मुक्त कर लिया है—लेकिन प्रश्न तो यह है कि हमने श्रमजीवियो को क्या सिखाया है और क्या सिखा रहे है? वे एक वर्ष, दस वर्ष, सैकडो वर्षो से प्रतीक्षा करते आ रहे है और अब भी हम वादविवाद ही कर रहे है और उन लोगो को भुलाकर स्वयं अपने को सिखा और एक-

दूसरे का मनोरंजन कर रहे हैं। हम उन्हे इतना अधिक भूल गए हैं कि दूसरे लोगो ने उन्हे सिखाना और उनका मनोरजन करना आरम्भ कर दिया है। मजे की बात तो यह है कि हमें इस बात का पता भी नही चला। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमलोग जनता का परोपकार करने की जो बड़ी-बड़ी बातें बनाते है वह केवल एक निर्लज्ज बहाना मात्र है।

: ३३ :

पथभ्रष्ट वैज्ञानिक और कलाकार

एक समय था जब हमारे समाज के जीवन की बागडोर धर्माचार्यो के हाथो मे थी। गिरजा-धर्म ने लोगो के कल्याण का वचन दिया और इसके बहाने मे अपने को मानव-समाज के जीवन-संघर्ष में योग देने मे मुक्त कर लिया। किंतु ज्योंही ऐसा हुआ धर्म के ठेकेदार अपने कर्त्तव्य-पथ मे विचलित हो गए और जनता भी उस धर्म की ओर से विमुख हो गई। गिरजा-धर्म के विनाश का कारण स्वयं उसकी त्रुटियां या भूले नही थी, बल्कि यह कि उसके अनुयाइयो ने कॉन्सटैन्टाइन* के राज्यकाल में सरकारी अधिकारियो का योग पाकर श्रम के नियमो का परित्याग कर दिया था और उसके फलस्वरूप उनमे जो अकर्मण्यता और विलासिता घुसी उसीने ईसाई धर्म मे त्रुटियो को जन्म दिया। ज्योंही गिरजा के धर्माचार्यो को श्रम से मुक्ति मिली त्योंही उन्होंने उस मानव-समाज के हित का ध्यान छोड दिया जिसकी सेवा का भार उन्होंने अपने कंधो पर लिया था और स्वयं अपनी चिन्ता मे संलग्न हो गए। इसीके फलस्वरूप वे अकर्मण्यता और विलासिता के शिकार बने। इसके बाद राज्यतंत्र ने लोकजीवन के नेतृत्व का भार ग्रहण किया। उसने जनता को न्याय, शांति, सुरक्षा, सुव्यवस्था और उनकी आत्मिक तथा भौतिक आवश्यकताओ की पूर्ति का वचन दिया और

* रोम का सम्राट् कौन्सटैन्टाइन महान् (२७२–३३७)

इसके बदले जिन लोगो ने राज्य की सेवा की उन्हे जीवन के संघर्ष से मुक्ति मिल गई। और जैसे ही सरकारी कर्मचारी दूसरो के श्रम का शोषण करने मे समर्थ बने वैसे ही उन्होने भी वही करना आरम्भ कर दिया जो गिरजा के कर्मचारियो ने किया था। उनके कार्य का लक्ष्य लोक-कल्याण नही वल्कि राज्य का कल्याण वन गया और रोम, फ्रास, इंगलैंड, रूस और अमरीका मे सभी राज्य-कर्मचारियो ने—शासक से लेकर के छोटे-से-छोटे अफसर और कार्यकर्ता तक ने—अपने को अकर्मण्यता और आलस्य में डुवो दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य पर से लोगो का विश्वास उठ गया और आज हम सभी जगह अराजकता को जानवूझकर एक आदर्श के रूप मे उपस्थित किये जाते देख रहे है। जनता की आखो मे राज्य के लिए आकर्षण न रह जाने का एकमात्र कारण यह था कि उसके कर्मचारियो ने दूसरे के श्रम का शोषण करना अपना अधिकार समझा।

यही वात वैज्ञानिको और कलाकारो ने भी राज्य कर्मचारियो की सहायता से की है। उन्होंने भी अकर्मण्य वनने और दूसरो के श्रम का शोषण करने का अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा की और अव वे भी अपने कर्त्तव्य के च्युत हो गए है। वास्तव मे इनसे भी भूल केवल इसलिए हुई कि श्रम-विभाजन के अशुद्ध सिद्धान्त को स्वीकार करने के पश्चात् उन्होने दूसरो के श्रम का शोषण करना अपना अधिकार मान लिया और वे स्वय अपने कर्त्तव्य के अर्थ को भूल गए। उन्होने लोकहित को अपने कार्यो का लक्ष्य न मानकर विज्ञान और कला के रहस्यमय कल्याण को अपना ध्येय माना। अपने पूर्वजो की भांति उन्होंने भी अकर्मण्यता और विलासिता के समक्ष सिर झुका दिया यद्यपि वह विलासिता उतनी शारीरिक नही जितनी बौद्धिक थी।

कहा जाता है कि विज्ञान और कला ने मानव-समाज के लिए वहुत कुछ किया है। यह विलकुल ठीक भी है। ईसाई धर्म और राज्यतंत्र ने भी मानव-समाज को वहुत कुछ दिया था किंतु इसका कारण यह नहीं था कि उन्होंने अपनी शक्ति का दुरुपयोग किया और उनके कर्मचारियो ने जीवन-यापन के लिए निरंतर श्रम करते रहने के

उस मानवीय कर्त्तव्य को भुला दिया जो सभी मनुष्यो के लिए एक समान है, वलिक ऐसा इन सब वातो के बावजूद हुआ था।

इसी प्रकार विज्ञान और कला ने भी मानव-समाज को वहुत कुछ दिया है किंतु इसका कारण यह नही था कि श्रम-विभाजन का वहाना लेकर वैज्ञानिको और कलाकारो ने श्रमजीवियो की पीठ पर सवारी की, वल्कि असलियत यह थी कि उनके ऐसा करने के बावजूद मानव-समाज को लाभ पहुचा। रोम का जनतत्र शक्तिशाली था, इसलिए नही कि उसके नागरिक विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने में समर्थ थे वल्कि इसलिए कि वहा के कुछ नागरिक वडे ही योग्य थे।

और यही वात कला और विज्ञान की भी है। इसमे सन्देह नही कि कला और विज्ञान ने मानव-समाज को वहुत कुछ प्रदान किया है किंतु इसका कारण यह नही है कि उनसे सम्वन्धित व्यक्तियो को पहले कभी-कभी और आज सदा अपने को श्रम से मुक्त रखने का अवसर प्राप्त है; वलिक इसका कारण यह है कि ये लोग वडे ही प्रतिभाशाली व्यक्ति थे और उन्होने श्रम से मुक्त होने के अवसर से लाभ न उठा करके मानव-समाज को आगे वढाया। जो विद्वान और कलाविद् झूठे श्रम-विभाजन के आधार पर दूसरो के श्रम से लाभ उठाने का अधिकार मागते है वे सच्चे विज्ञान और सच्ची कला की सफलता मे योग नही दे सकते क्योंकि झूठ सत्य को जन्म नही दे सकता।

हम लोग वुद्धिजीवियो को खा-पीकर मस्त, मोटे या दुर्वल देखने के इतने आदी हो गए है कि हमे किसी विद्वान् या कलाकार का हल जोतना या खाद ढोना वर्वरतापूर्ण मालूम होता है। हमें ऐसा लगता है कि उसकी सारी विद्वत्ता नप्ट हो जायगी या खाद की गाडी मे ही छिन्न-भिन्न हो जायगी और उसके हृदय मे जो महान कलात्मक मूर्त्तिया विद्यमान है वे खाद से गदी हो जायगी। किंतु जब हम यह देखते है कि एक वैज्ञानिक अर्थात् सत्य को सिखानेवाला जनसेवक जिस कार्य को स्वय कर सकता है उसे करने के लिए वह दूसरो को विवश कर रहा है और अपना आधा समय स्वादिप्ट भोजन को खाने, धूम्रपान करने, गप्पाष्टक लड़ाने, वाक्विनोद करने, अखवारो और उपन्यासो को

पढने और थियेटर जाने मे विता देता है तो हमें बिलकुल आश्चर्य नही होता, क्योकि हम उसे ऐसा करते देखने के बिलकुल अभ्यस्त हो गए हैं। हम किसी दार्शनिक को किसी जलपानशाला, थियेटर या नाच में देखकर चकित नही होते और न हमे यही जानकर ताज्जुब होता है कि हमारी आत्मा को सुख पहुचानेवाले और ऊचे उठानेवाले कलाकार यदि अधिक बुरा काम नही करते तो कम-से-कम शराब पीने, ताश खेलने और दुश्चरित्र स्त्रियों की सगति मे अपना जीवन अवश्य व्यतीत करते हैं।

विज्ञान और कला बडे सुन्दर पदार्थ हैं और यही तो कारण है उन्हें विलासिता के ससर्ग से दूषित नही होने देना चाहिए अर्थात् वैज्ञानिको और कलाकारो को अपने को इस मानवीय कर्त्तव्य से मुक्त नही करना चाहिए कि उन्हे स्वय अपने और दूसरो के जीवन के लिए श्रम करना आवश्यक है। कला और विज्ञान ने मानव-समाज को उन्नति के पथ पर बढाया है। यह बिलकुल ठीक है, किंतु इसका कारण यह नही है कि वैज्ञानिको और कलाकारो ने श्रम-विभाजन की दुहाई देकर अपने वचन और कर्म से लोगो को बलात्कार का प्रयोग करना सिखाया है और उन्हें दूसरो की निर्धनता और यातना से लाभ उठाने की शिक्षा दी है या प्रकृति के साथ होनेवाले उस सघर्ष मे, जिसका सभी मनुष्यो को सामना करना पडता है, स्वय अपने हाथ से कार्य करने के सर्व-प्रथम और अत्यन्त असदिग्ध मानवीय कर्त्तव्य से मुक्त रहने का पाठ पढाया है।

: ३४ :

क्या विज्ञान और कला जनता के लिए नहीं हैं?

"लेकिन आज के दिन हम विज्ञान की जो असाधारण उन्नति देखते है वह केवल इस श्रम-विभाजन का ही तो फल है और उसका यही तो कारण है कि विज्ञानवेत्ता और कलाकार अपना भोजन आप उत्पन्न

करने की आवश्यकता से मुक्त कर दिए गए हैं"—यह है वह उत्तर जो बुद्धिजीवी देते हैं। वे कहते हैं—'यदि हरएक व्यक्ति के लिए हल जोतना अनिवार्य होता तो हमे इतनी अद्भुत सफलता न मिल पाती जितनी कि आज मिली है; आज न तो वह उल्लेखनीय उन्नति दिखाई देती जिसके कारण प्रकृति पर मनुष्य के अधिकार में इतनी वृद्धि हुई है और न नक्षत्र सम्बन्धी अन्वेषण ही हो पाते जिन्होंने मनुष्य के मस्तिष्क पर इतना शक्तिशाली प्रभाव डाला है और हजारों का आना-जाना सुरक्षित बना दिया है—और न हमे आज के स्टीमर, रेल, आश्चर्य-जनक पुल, सुरंगें, भाप से चलनेवाले एंजिन, तार, फोटो, टेलीफोन, सीने की मशीनें, फोनोग्राफ, बिजली, दूरदर्शी यंत्र, रश्मि-विश्लेषणयंत्र, सूक्ष्मदर्शी यन्त्र, क्लोरोफार्म, विषनाशक ओषधियां और कारबोलिक एसिड ही दिखाई देते। इस प्रकार के जिन पदार्थों पर आज हमारे युग को गर्व है, उन्हें मैं यहां गिनाने की चेष्टा नहीं करूंगा। यह काम तो आज प्रायः सभी समाचारपत्रों और लोकप्रिय पुस्तकों मे हो रहा है और उनमें आज के युग की सफलताओं के खूब प्रशंसा के पुल बांधे जा रहे है। हम अपनी ये प्रशंसाएं इतनी अधिक करते हैं और हम अपनी सफलताओं पर इतने अधिक आह्लादित होते हैं कि हमें जूल्स वर्न* की तरह इस बात का पक्का विश्वास हो गया है कि विज्ञान और कला ने जितनी उन्नति हमारे काल में की है उतनी कभी नहीं की और चूंकि यह आश्चर्यजनक सफलता श्रम-विभाजन के फलस्वरूप मिली है इसी लिए यह कैसे सम्भव है कि हम उसकी सराहना न करें।

मान लिया कि वर्तमान युग मे हमने जो उन्नति की है वह वास्तव में अत्यन्त उल्लेखनीय, आश्चर्यजनक और असाधारण है। यह भी मान लिया कि हमारे लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि हम ऐसे असा-धारण युग में रह रहे है। लेकिन हमें इन सफलताओं के मूल्य को आत्म-संतुष्टि की तुला पर नहीं आंकना चाहिए, बल्कि श्रम-विभाजन

* विस्मयकारी कहानियां लिखनेवाला यूरोप का एक अत्यन्त लोकप्रिय कहानीकार (१८२८-१९०५)

के उसी सिद्धात की कसौटी पर कसना चाहिए जिसके समर्थन मे ये बाते वखानी जाती है . दूसरे शब्दो मे हमे आज की सफलताओ का मूल्य इस आधार पर आकना चाहिए कि वैज्ञानिको के बौद्धिक श्रम से उन लोगो को कितना लाभ पहुचा है, जिन्हे वैज्ञानिको और कलाकारो को श्रम से मुक्त करने के लिए स्वय श्रम करना पडता है। निस्सदेह ये सारी सफलताए अत्यन्त अद्भुत है, किंतु किसी दुर्भाग्य के कारण—जिसे वैज्ञानिक लोग स्वयं स्वीकार करते है—इन सफलताओ से अभी तक श्रमजीवियो की स्थिति सुधरी नही है बल्कि हीनतर ही बनी हुई है। यह ठीक है कि आज का मजदूर पैदल चलने के बजाय रेलगाडी से आ-जा सकता है, किंतु इन रेलो के ही कारण तो उसके जगल जला दिए गए है, उसकी रोटी उसकी आखो से दूर हटा दी गई है और वह ऐसी स्थिति मे पहुचा दिया गया है कि एक प्रकार से रेल के मालिको का दास बन गया है।

इसी तरह यह तो सत्य है कि भाप के इजिनो और मशीनो की कृपा से आज मजदूर लोग छपे हुए रद्दी सूती कपडे खरीद सकते है किंतु इन इजिनो और मशीनो ने उनकी घर बैठी रोजी छीन ली है और उन्हे मिल-मालिको का पूरी तरह से दास बना दिया है। ऐसे ही यदि यह सत्य है कि आज मजदूरो को टेलीफोन का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता है—यद्यपि उनकी आर्थिक स्थिति उन्हे ऐसा करने की अनुमति नही देती—तो यह भी तो छिपा नही कि इस टेलीफोन की ही महिमा से उसकी फसल कीमत के बढते ही—और बेचारे को यह मालूम हुए बिना ही कि उसकी फसल की कही माग है—फौरन पूजीपतियो द्वारा खरीद ली जाती है। यही बात टेलीफोन, दूरदर्शी यन्त्रो, काव्य-पुस्तको, उपन्यासो, थियेटरो, नाचो, सगीतो, चित्र-प्रदर्शनियो आदि की भी है। ये सब चीजे आज विद्यमान तो है किंतु इनसे श्रमजीवियो के जीवन मे रत्तीभर भी सुधार नही हुआ है, क्योकि दुर्भाग्यवश ये सभी उसकी पहुच से बाहर है।

इस प्रकार हम देखते है कि इन आश्चर्यजनक आविष्कारो और कलामय कृतियो ने यदि अभी तक श्रमजीवियो के जीवन को क्षति

नही पहुचाई है तो कम-से-कम उनके जीवन मे सुधार करने में वे बिलकुल असफल अवश्य रही है—और इस बात से वैज्ञानिक भी सहमत है।

अत यदि हम विज्ञान और कला की सफलता की वास्तविकता को अपनी खुशियो के आधार पर नही बल्कि उसी मापदड से नापे जिससे श्रम-विभाजन का समर्थन किया जाता है अर्थात यदि हम यह देखे कि इन सफलताओ से मजदूरो को वास्तव मे कितना लाभ हुआ है तो हम देखेगे कि हम इतनी तत्परता के साथ जो हर्ष और सतोष प्रदर्शित करते है उसके लिए कोई दृढ आधार नही है। माना कि एक किसान रेल की सवारी करता है, उसकी स्त्री छपा हुआ सूती वस्त्र खरीदती है, उनके झोपडे में लकडी के दीवट के बजाय लैम्प जलता है और किसान अपनी सिगरेट दियासलाइ से जलाता है। माना कि यह सब है तो सुविधाजनक, किंतु इतने ही मे हमें यह कहने का अधिकार कहा मिल जाता है कि रेलो और कारखानो से जनता का कल्याण हुआ है? यदि किसान रेल मे यात्रा करता है और लैम्प, छपे हुए सूती कपडे और दियासलाइया खरीदता है तो इसका कारण यह है कि उसे ऐसा करने से रोकना असम्भव है। यह बात तो हम सभी लोग जानते है कि रेलो और कल-कारखानो का निर्माण मजदूर जनता के कल्याण के लिए नही किया गया है। ऐसी दशा मे इन आकस्मिक सुविधाओ को, जिनसे कि किसान सयोगवश लाभ उठा लेते है, रेलो आदि की उपयोगिता के प्रमाणस्वरूप क्यो उपस्थित किया जाय? हम सभी लोग जानते है कि यदि रेलो और कारखानो का निर्माण करनेवाले विशेषज्ञो और पूजीपतियो को मजदूरो का कुछ ध्यान आया भी होगा तो केवल यह सोचने के लिए कि उनसे किस प्रकार अधिक-से-अधिक मेहनत कराई जाय और—जैसा कि हम स्वय रूस मे और यूरोप तथा अमरीका में भी देख चुके है—उन्हे अपने इस कार्य मे पूर्ण सफलता मिली है।

यो तो हर बुरी चीज मे कोई-न-कोई अच्छाई होती है। किसी अग्नि-दुर्घटना के बाद हम सुलगते हुए कोयलो से अपना शीत भगा सकते है और अपनी सिगरेटे भी जला सकते है, लेकिन हम यह कैसे कह सकते है कि आग लगाना उपयोगी है। हमे कम-से-कम अपने को

धोखे मे नही रखना चाहिए। रेलो और फैक्टरियों के निर्माण और मिट्टी के तेल और दियासलाइयो के उत्पादन के पीछे जो उद्देश्य छिपा हुआ है उसे हम अच्छी तरह से जानते हैं। इजीनियर लोग रेलो को या तो सरकार के लिए सैनिक कार्यो के निमित्त बनाते हैं या पूजीपतियो के लिए आर्थिक उद्देश्यो की परिपूर्त्ति की दृष्टि से। इसी तरह वे मशीन मिल-मालिक के लिए या स्वय अपने लाभार्थ या पूजीपति के लाभ की दृष्टि से बनाते हैं। वे जो कुछ भी बनाते या सोचते है, सरकार या पूजीपति और धनाढ्य व्यक्तियो के लाभ के लिए करते है। उनके आविष्कारो में से जो सबसे अधिक चातुर्यपूर्ण होते हैं—जैसे तोप, टारपीडो एकान्त कारावास की कोठरिया, तार आदि—उनका उद्देश्य या तो प्रत्यक्ष रूप से जनता को क्षति पहुचाना होता है या ऐसे पदार्थो का उत्पादन करना जो न केवल अनुपयोगी होते है बल्कि जनता की पहुंच से भी बाहर होते है, जैसे कि बिजली की रोशनी, टेलीफोन और विलासिता बढानेवाले अन्य असख्यक यत्र। उनका उद्देश्य ऐसी वस्तुओ का निर्माण करना ही होता है जिनसे लोगों को भ्रष्ट किया जा सकता है और उन्हे अपनी बची-खुची पूजी को पानी की तरह बहा डालने को प्रेरित किया जा सकता है, जैसे सबसे पहले वोडका, शराब, बियर, अफीम, तम्बाकू और फिर बाद मे छपे हुए सूती कपडे, रूमाल और ऐसी-ही-ऐसी हर तरह की छोटी-मोटी चीजे।

यदि वैज्ञानिको के आविष्कार और इजीनियरो के काम जनता के लिए कभी-कभी उपयोगी सिद्ध होते हैं—जैसे कि रेल, छपे हुए सूती कपड़े, लोहे के बर्तन, हसिया आदि—तो इससे यही प्रमाणित होता है कि ससार की प्रत्येक वस्तु एक-दूसरे से सम्बन्धित है और प्रत्येक क्षतिपूर्ण कार्य से भी उन लोगो तक को लाभ होने की सम्भावना हो सकती है जिनके लिए ये क्रियाए साधारणत हानिकारक होती हैं।

वैज्ञानिक और कलाकार लोग अपनी क्रियाओ को जनता के लिए उपयोगी होने का दावा तभी कर सकते है जब वे मजदूरो की सेवा करना अपना लक्ष्य बना लें—ठीक उसी तरह जैसे आज उन्होंने सरकारो और पूजीपतियो की सेवा को अपना ध्येय मान रखा है।

हम भी उनके कार्यों की उपयोगिता को तभी स्वीकार कर सकते है जब वे जनता की आवश्यकताओ की पूर्ति को अपना ध्येय माने। किंतु, उनमें से एक भी ऐसा नहीं करता।

वैज्ञानिक लोग तो अपने उन पुनीत कार्यो मे लगे हुए है जिनमे वनस्पति तथा प्राणियो के जीवन के आधारतत्त्व का ज्ञान प्राप्त होता है और तारको के दृप्टक विश्लेषण आदि फलीभूत होते है, किंतु किस प्रकार की कुल्हाडी से या किस ढग के कुल्हाडी के हत्थे से काटने का काम सबसे अच्छा हो सकता है, किस तरह की आरी सबसे अच्छा काम देती है, किस ढग से आटा सबसे अच्छा गूधा जा सकता है, किस तरह के आटे का प्रयोग करना चाहिए, किस तरह उसका खमीर उठाया जाय, किस तरह आग जलानी चाहिए, किस तरह से चूल्हा सुलगाना चाहिए, क्या खाना और क्या पीना चाहिए, किस तरह का कुकुरमुत्ता खाया जा सकता है और किस तरह उसकी सब्जी सबसे अच्छी तरह बनाई जा सकती है, इन सब प्रश्नो पर विज्ञान कभी ध्यान नही देता, यद्यपि सच पूछिए तो ये सब विज्ञान के ही काम है।

मै जानता हूं कि विज्ञान की व्याख्या ही यह है कि वह एक निरर्थक वस्तु है, किंतु ऐसा कहना एक अत्यत धृप्टतापूर्ण बहाना मात्र है। विज्ञान का काम लोगो की सेवा करना है। हमने तार, टेलीफोन और फोनोग्राफ तो बनाए है, किंतु लोगो के वास्तविक जीवन और कार्यों में हमने क्या उन्नति की है ? यह कि हमने बीस लाख जंतुओ का पता लगा लिया है ? किंतु क्या हमने बाइबिल के युग के बाद से किसी एक भी नए पशु को पालतू बनाया है ? आज जितने भी पशु है वे तो उससे भी पहले के पालतू बनाए हुए है। हिरण, बारहसिंगा, तीतर, बटेर आदि ये सब अभी जंगली अवस्था मे ही है। हमारे वनस्पति विज्ञानवेत्ताओं ने तंतु का पता लगा लिया है और ततु के अंदर वनस्पति तथा प्राणियो के जीवन के आधारतत्त्व का और इस तत्त्व के अन्दर किसी अन्य वस्तु का और उस अन्य वस्तु के भीतर भी किसी दूसरी वस्तु को ढूढ निकाला है। स्पप्टत. अभी यह क्रम बहुत दिनो तक

समाप्त नही होगा, क्योकि उसका कोई अन्त हो ही नही सकता। यही कारण है कि वैज्ञानिक लोग अपना ध्यान उन पदार्थों पर नही दे पाते जिनकी जनता को आवश्यकता है। और फिर, प्राचीन मिस्रो और यहूदी काल से—जब कि गेहूं और मसूर की खेती पहले से ही हुआ करती थी—आज तक हमने आलू को छोडकर जनता के खाद्य पदार्थों मे एक पौधे की भी वृद्धि नही की और आलू भी हमे विज्ञान ने नही दिया है। विज्ञान ने तो हमे पनडुब्बियो को नष्ट करनेवाले गोलो, शौचालयो के लिए नालियो आदि का आविष्कार किया है। लेकिन हमारे चर्खे, किसान स्त्रियो के करघे, गाव के हल, कुल्हाडी, मूसल, हेंगी, जुआ और बाल्टी आदि आज भी उसी अवस्था मे है, जिस अवस्था मे रूरिक[1] के समय मे थे और यदि इनमे कुछ परिवर्तन हुआ भी है तो वह वैज्ञानिको ने नही किया है।

यही बात कला के सम्बन्ध मे भी सत्य है। आज अनगिनत लोग उच्च कोटि के लेखक माने जाते है। हमने उनका बडी सूक्ष्मता के साथ विश्लेषण किया है, उनपर ढेरो आलोचनाए लिखी है और उन आलोचनाओ की आलोचनाएं और फिर उनकी आलोचनाए की है। हमने चित्रो के सग्रह किये है, कला की सभी शैलियो का ध्यानपूर्वक मनन किया है और इतने वृन्दवादनो तथा नाट्यसगीतो का आविष्कार किया है कि उन्हें सुनना स्वय हमारे लिए कठिन हो गया है। किंतु हमने लोकगाथाओ और लोकगीतो मे क्या वृद्धि की है ? हमने जनता को कौन-से चित्र और कौन-से सगीत दिये है ? जन साधारण के लिए तो पुस्तके और तस्वीरे निकोल्सकी गली[2] में तैयार होती है और तूला[3] मे बाजे आदि बनते है; लेकिन इनके निर्माण में बुद्धिजीवियो ने कोई भाग नही लिया है।

---

१ रूस का प्रथम राजकुमार (८३०—८७९ ई०)

२ यह गली मास्को के बीचोबीच है जहा टॉल्सटॉय के समय में किसानो आदि के लिए सस्ती पुस्तके बिका करती थी।

३ मास्को का सगीत-केन्द्र।

सबसे अधिक स्पष्ट और आश्चर्य की बात तो यह है कि विज्ञान और कला के जिन विभागो को जनता के लिए उपयोगी होना चाहिए उनके ही कार्य की दिशा गलत है और इस गलत दिशा के कारण वे उपयोगी न होकर हानिकारक सिद्ध होते है। इजीनियर, डाक्टर, अध्यापक, कलाकार, लेखक इन सभी को स्वय अपने पेशे के कारण जनता की सेवा करनी चाहिए, किंतु वास्तव में होता क्या है ? आज की जो प्रवृत्ति है उससे लोगो को उल्टे हानि पहुच रही है।

इजीनियरो और मिस्त्रियो को काम करने के लिए पूजी चाहिए, विना पूंजी के वे कुछ नही कर सकते, उनका सारा ज्ञान ही कुछ इस प्रकार का होता है कि उसे व्यवहार मे लाने के लिए उन्हे पूजी और काफी मजदूरो की आवश्यकता है। स्वय अपने खर्च के लिए उन्हे प्रति वर्ष कम-से-कम १५०० से २००० रूवल तक चाहिए और यही कारण है कि वे गाव मे नही रह सकते, क्योकि वहा कोई उन्हे इतना पारिश्रमिक नही दे सकता। अर्थात् उनका पेशा ही उन्हे जनता की सेवा करने मे रोकता है। अकगणित का उच्च ज्ञान होने के कारण वे किसी पुल के मेहराव का आकार निश्चित कर सकते है, किसी मोटर की शक्ति और कार्यक्षमता को आक सकते है और ऐसे-ऐसे ही दूसरे कार्य भी कर सकते है; किंतु जब उनके सामने किसान की मेहनत की सीधी-साधी समस्याए आ खडी होती है तो वे मानो किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाते है। हल और बैलगाडी का सुधार किस तरह से किया जाय और नदी, नालो से खेतो को पानी किस तरह से पहुचाया जाय ये सव वाते ऐसी है जिन्हे वे छोटे-से-छोटे किसान से भी कम जानते और समझते है। उन्हे तो वडे-वडे कारखाने चाहिए, अपने आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न प्रकार के काम करनेवाले व्यक्ति चाहिए और इतना ही नही वल्कि विदेशो से मगाई हुई मशीने चाहिएं और तव जाकर के वे कोई प्रवन्ध कर सकते है। किंतु आज जो लाखो मजदूरो की दशा है उसमे वे किसी प्रकार का भी सुधार करने मे असमर्थ है और उनके अपने पेशे, अपनी आदते और आवश्यकताए ऐसी है जो उन्हे ऐसे काम के लिए विलकुल असमर्थ वना देती है।

डाक्टरो की स्थिति तो और भी खराब है। उनकी कल्पित विद्या भी कुछ इस प्रकार की है कि वे केवल उन्ही लोगो को आरोग्य प्रदान कर सकते है जो स्वय कुछ नही करते और दूसरो के श्रम पर अधिकार जताते है। वैज्ञानिक रूप से काम करने के लिए उनको अनगिनत प्रकार के कीमती औजारो, दवाओ, स्वास्थ्यप्रद कमरो, भोजन, जल आदि की आवश्यकता होती है। उन्हे अपनी तनख्वाह तो चाहिए ही, साथ-ही-साथ उन्हे ये खर्चे भी चाहिए, ताकि एक रोगी को अच्छा करने मे वे उन सैकडो व्यक्तियो को भूखा मार सकें जो इन खर्चो को बरदाश्त करते है। उन्होने राजधानियो मे ऐसे लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तियो की देख-रेख में रहकर अध्ययन किया है जो केवल उन लोगो की चिकित्सा करते है जिन्हे वे अस्पतालो में रख सकते है या जो चिकित्सा कराने समय उन यत्रो को खरीद सकते है जिनकी चिकित्सा के लिए आवश्यकता है और जो फौरन जलवायु परिवर्तन के लिए एक छोर से दूसरे छोर पर जा सकते है। इन लोगो की विद्या कुछ इस प्रकार की होती है कि छोटे स्थानो और गावो मे काम करनेवाले डाक्टरो को हर समय यह शिकायत बनी रहती है कि उन्हें किसानो और मजदूरो की चिकित्सा करने के साधन प्राप्त नही है, और वे इतने निर्धन है कि रोगियो को स्वास्थ्यप्रद परिस्थितियो मे नही रख सकते। साथ-ही-साथ ये डाक्टर यह भी शिकायत करते है कि उनके पास अस्पताल नही है, वे सारे काम को अकेले नही कर सकते, उन्हे और अधिक सहकारी डाक्टर और, शिक्षित सहयोगी चाहिए। इस सबका मतलब क्या है ? इसका मतलब यह है कि जीवन-निर्वाह के साधनो की कमी ही जनसाधारण की सबसे बडी विपदा है, इसीके कारण उसे बीमारिया होती है, इसीके कारण बीमारिया फैलती है तथा इसीके कारण उनकी चिकित्सा नही हो पाती और विज्ञान है कि श्रम-विभाजन का झडा लहराकर अपने सहकारियो को इन लोगो की सहायता के लिए बुलाता है। उसने अपने को पूर्ण रूप से धनिको के अनुकूल बना लिया है और फलस्वरूप उसे केवल उन लोगो की चिकित्सा करने की चिन्ता रहती है जो सर्वसम्पन्न है। ये दवाए और तरीके वे उन लोगो को भी बताते है जिनके पास खर्च करने को

फूटी कौडी भी नही है। किंतु डाक्टरो के पास साधन नही है और इसलिए ये साधन इन किसानो से प्राप्त किये जाने चाहिए जो बीमार पडते है और साधनो की कमी के कारण अच्छे नही किये जाते।

जन-चिकित्सा के समर्थक सदा यही कहते रहते है कि अभी इस विद्या का बहुत ही कम विकास हुआ है और स्पष्टत. ऐसी ही बात है भी, क्योकि—भगवान् बचाए—यदि यह विद्या अधिक विकसित हुई और (जैसा कि प्रस्ताव किया जाता है) एक-एक जिले मे दो-दो डाक्टरो, दाइयो और शिक्षित महिला सहकारियो के बजाय बीस-बीस लोग जनता के सिर पर बोझ बनाकर भेजे गए तो फिर शीघ्र ही वह अवस्था आ जायगी जब कोई व्यक्ति निरोग करने के लिए रह ही नही जायगा। चिकित्सा-शास्त्र के समर्थक जनता को वैज्ञानिक ढग से डाक्टरी सहायता पहुचाने की जो बात किया करते है वह बिलकुल ही भिन्न प्रकार की होती है और इस प्रकार की चिकित्सा-पद्धति अभी आरम्भ भी नही हुई। इसका सूत्रपात तभी हो सकता है जब वैज्ञानिक लोग, शिल्पवेत्ता या डाक्टर श्रम-विभाजन को उचित नही समझेगे अर्थात् आज दूसरे लोगो के श्रम का जो शोषण किया जाता है उसे अनुचित मानेगे और जनता को वे जो सहायता देते है उसके बदले लाखो रूबल तो दूर रहा एक हजार या पाच सौ रूबल मागना भी अपना अधिकार नही समझेंगे, बल्कि मजदूरो और किसानो के बीच उन्ही-जैसी परिस्थितियो मे रहकर जनता की मिस्त्रीगिरी, इजीनियरी, सफाई और दवा सम्बन्धी समस्याओ को हल करने मे अपने ज्ञान का उपयोग करेगे। किंतु इस समय तो वैज्ञानिक लोग, जो मजदूर जनता के श्रम के भरोसे जीवन-निर्वाह करते है, जनता के जीवन की स्थिति को बिलकुल भूल गए है। वास्तव मे उनकी इस स्थिति की वे उपेक्षा करते है और इसपर क्रोध प्रकट करते है कि उनका मिथ्या ज्ञान जन-साधारण के व्यवहार में नही आता।

इजीनियरिंग की तरह चिकित्सा का क्षेत्र भी अभी अछूता है। श्रमजीवियो की वर्तमान वास्तविक अवस्था को दृष्टि मे रखते हुए श्रम के समय का किस प्रकार सबसे अच्छा विभाजन किया जाय, किस

प्रकार अपने को सबसे अधिक पोषण दिया जाय, कौन-सा वस्त्र किस रूप मे, कब और कैसे पहनने से सबसे मनोरम दिखाई देगा, किस प्रकार पैरो को ढंककर रखा जाय, किस प्रकार ठंड और सील मे बचा जाय, किस प्रकार बच्चो को सबसे अच्छी तरह नहलाया-धुलाया और भोजन दिया जाय—ये सब प्रश्न ऐसे है जिनपर अभी तक विचार नही किया गया है। यही बात वैज्ञानिक शिक्षको के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। विज्ञान ने भी शिक्षण की व्यवस्था कुछ ठीक इसी ढग से कर रखी है कि वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार केवल धनिको को ही शिक्षा मिल पाती है और इजीनियरो तथा डाक्टरो की भाति ये शिक्षक भी अनायास हो पैसे के आगे सिर झुका देते है। रूस मे तो ये लोग विशेष रूप से सरकार के दास बन जाते है।

इसके सिवा और हो ही क्या सकता है। आज की आदर्श व्यवस्थाओ से विभूषित स्कूल—जिनमें बेंचें, ग्लोब, नक्शे, पुस्तकालय, विद्यार्थियो और अध्यापको के लिए कार्य-सूची आदि होते हैं—ऐसे होते जिनसे गाव का खर्चा दुगना हो जाता है। साधारणत स्कूल जितने ही वैज्ञानिक ढग से सुव्यवस्थित होते है उतने ही वे अधिक खर्चीले होते है। विज्ञान का प्रबन्ध है ही ऐसा।

आजकल लोगो को काम के लिए अपने बच्चो की जरूरत पडती है और लोग जितने अधिक निर्धन होते हैं उतनी ही अधिक उनकी यह आवश्यकता होती है। विज्ञान के समर्थक कहते है कि शिक्षा से अब भी लोगो को लाभ होता है और जब यह विज्ञान और भी विकसित हो जायगा तो और भी अच्छा रहेगा। किंतु यदि शिक्षा का विकास हुआ और एक जिले मे बीस स्कूलो के बदले सौ वैज्ञानिक स्कूल स्थापित हो गए और यदि इन स्कूलो के लिए जनसाधारण को व्यय करना पडा तो वे और भी निर्धन हो जायगे और उन्हे बच्चो से मेहनत कराने की और भी अधिक आवश्यकता पडेगी।

तो फिर क्या किया जाय ? लोग पूछते है। उत्तर मिलता है कि सरकार स्कूल स्थापित करेगी और शिक्षा को अनिवार्य बना देगी, जैसा कि यूरोप में होता है। किंतु रुपया तो फिर भी जनसाधारण से ही

लिया जायगा जिन्हे और भी अधिक परिश्रम करना पडेगा तथा जिन्हें और भी कम अवकाश मिलेगा। अत अनिवार्य शिक्षा सफल नही हो सकेगी। ऐसी अवस्था मे शिक्षको के लिए मुक्ति का एक ही मार्ग रह जायगा, वह यह कि वे मजदूरो-जैसा जीवन विताय और उन्हें शिक्षा प्रदान करने के वदले मे मजदूर लोग जो कुछ भी स्वेच्छा से दें वही स्वीकार करे। अपनी इसी गलत प्रवृत्ति के कारण विज्ञानवेत्ता जनता की सेवा नही कर पाते, जो कि उनका कर्त्तव्य है। हमारे वुद्धि-जीवियो की यह प्रवृत्ति कला के क्षेत्र में तो और भी स्पष्ट हो जाती है। कला को स्वभावत जनता के लिए सुलभ होना चाहिए। विज्ञान तो इस मूर्खतापूर्ण वहाने की आड ले भी सकता है कि विज्ञान विज्ञान के लिए काम कर रहा है और जव वैज्ञानिक लोग विज्ञान का पूर्ण तरह मे विकास कर लेगे तो वह जनता की भी पहुच के भीतर आ जायगा। किंतु कला—यदि वह सच्ची कला है तो—ऐसी होनी चाहिए कि सव लोग, विशेप रूप से वे लोग जो उसकी सृष्टि करते है, उस तक आसानी से पहुच जाय। किंतु स्थिति इसके विलकुल विपरीत है। आज कलाकारो पर स्पष्ट रूप से यह दोपारोपण किया जा सकता है कि वे न जनता की सेवा करना चाहते हैं और न जानते है और न ऐसा करने मे समर्थ ही है।

चित्रकार को अपनी महाकृतियो की रचना के लिए इतनी वडी चित्रशाला चाहिए जिसमे ऐसे कम-से-कम चालीस वढई या मोची एक साथ वैठकर काम कर सके जो आज या तो स्थानाभाव के कारण ठिठुर रहे है या किसी वन्द गदी जगह मे पडे-पडे घुट-घुट कर मर रहे है। इतना ही काफी नही है, उस चित्रकार को प्रकृति, पोशाक और यात्रा की भी आवश्यकता है। कला विद्यापीठ ने जन साधारण से जमा किये हुए लाखो रूवल कला को प्रोत्साहन देने के लिए व्यय किये है, किंतु कला-कृतिया केवल महलो में लटकती है, जनता तो इन्हे न समझती है न चाहती है।

इसी तरह सगीतज्ञो को अपने महान् सगीत का प्रदर्शन करने के लिए सफेद नेकटाई की एक विशेप ढग की पोशाक पहने हुए लगभग

२०० व्यक्तियो को एकत्र करन की आवश्यकता पडती है और एक नृत्य-मगीत के लिए लाखो रूवल खर्च करने पडते हैं। फिर भी यदि जन-साधारण को कभी कला की इस रचना को सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो भी जाय तो भी उसमें बेचैनी और क्लान्ति के अतिरिक्त और किसी भावना की उत्पत्ति नही होगी।

लेखको और कहानियो के सम्बन्ध में तो यह सोचा जा सकता है कि उन्हे किन्ही विशेप परिस्थितियो, रगशालाओ, प्राकृतिक दृश्यो, वृन्दवादको और अभिनेताओ की आवश्यकता नही है। किंतु हम देखते हैं कि एक लेखक को भी अपने महाग्रन्थ के निर्माण के लिए आरामदेह मकान और जीवन सम्बन्धी समस्त मनोरजनो के अतिरिक्त कितने ही अन्य उपकरणो की भी आवश्यकता है, जैसे यात्रा, राजमहल, अध्ययन-शाला, थियेटर सगीत आदि। यदि लेखक स्वय नही कमा पाते तो उन्हे पेन्शन दी जाती है जिससे कि वे पहले की अपेक्षा अच्छा लिख सकें। किंतु अतत परिणाम वही निकलता है। उनकी जिन रचनाओ का हम इतना आदर करते हैं वे जनता के लिए कूडे का ढेर मात्र होती है क्योंकि उसे इनकी आवश्यकता ही नही।

अव मान लीजिए कि वैज्ञानिको और कलाकारो की इच्छा के अनुसार आत्मिक भोजन उत्पन्न करनेवालो की सख्या वढा दी जाय और हर गाव मे एक चित्रशाला वनाना, एक वृन्दवादन की स्थापना करना और कलाकार जैसी परिस्थिति को आवश्यक समझते हैं वैसी परिस्थिति मे एक लेखक रखना अपरिहार्य कर दिया जाय। तो फिर क्या हो ? मैं समझता हू कि श्रमजीवी लोग इन निरर्थक व्यक्तियो का पेट भरने के लिए विवश होने से पहले इस वात की शपथ ले लेगे कि वे न कभी कोई चित्र देखेंगे, न सगीत सुनेंगे, न कोई कविता या कहानी पढेगे।

लेकिन पूछा जा सकता है कि कलाकार लोग जनता की सेवा क्यो न करे ? हर झोपडे मे मूर्त्तिया और चित्र होते है। हर किसान मर्द और हर किसान औरत गाती है। उनमे से वहुतो के पास तो वाजे भी होते है और ये सव कहानिया कहते है और कविताओ का पाठ

करते है और कितने ही तो पढते भी है। ऐसी अवस्था मे क्या कारण है कि ये दो चीजे, जो एक-दूसरे के लिए ताले और ताली की तरह वनाई गई है, एक-दूसरे से इतनी अधिक पृथक हो गई है कि उन्हे मिलाने की अव कोई सम्भावना ही दिखाई नही देती है।

किसी चित्रकार से जरा यह तो कहिए कि वह चित्रशाला, नग्न नमूनो और वेशभूषाओ के विना ही सस्ती तस्वीरे वनाया करे! वह तत्काल आपको उत्तर देगा कि यह तो कला का परित्याग है। इसी तरह किसी सगीतज्ञ से कह कर देखिए कि वह हारमोनियम या सितार वजाकर गाव की स्त्रियो को गाना सिखाया करे। किसी कवि या लेखक से कहकर देखिए कि वह काव्य, उपन्यास या व्यंग लिखना छोडकर निरक्षर जनता की समझ मे आने योग्य गीत, पुस्तके, कथाए और परियो की कहानिया लिखा करे! ये सव-के-सव आपको उत्तर देंगे कि आप पागल हो गए है। किंतु क्या यह और भी वडा पागलपन नही है कि जिन लोगो ने हमारा पालन-पोषण किया है, जो हमे खाना और कपडा देते है उन्हे आध्यात्मिक भोजन देने का विश्वास दिलाकर हमने अपने को श्रम से मुक्त तो कर लिया है किंतु अव अपने वचन को इतना भूल गए है कि हमें उन लोगो के योग्य भोजन तैयार करने की कला ही याद नही रह गई है और हम अपनी इस कर्त्तव्यच्युति को अपना एक विशेष गुण मानने लगे है ?

"लेकिन ऐसा तो सभी जगह होता है," उत्तर मे कहा जाता है। यदि ऐसा सभी जगह होता है तो वह निस्संदेह अमानुषिक है और उस समय तक अमानुषिक रहेगा जवतक कि लोग श्रम-विभाजन का वहाना लेकर और जनसाधारण को आत्मिक भोजन का वचन देकर उनके श्रम के प्रतिफल को स्वय हडपते रहेंगे। विज्ञान और कला से जनसाधारण की सेवा तभी सम्भव है जव वैज्ञानिक और कलाकार जनसाधारण के साथ जनसाधारण के समान ही जीवन विताय और वदले मे कुछ मांगे विना ही उन्हे अपनी वैज्ञानिक और कला सम्वन्धी सेवाएं समर्पित करें—ऐसी सेवाएं जिन्हे स्वीकार और अस्वीकार करने की पूर्ण स्वतत्रता जनसाधारण को हो।

: ३५ :

झूठा दावा

यह कहना कि विज्ञान और कला की क्रियाओं से मानव-समाज की उन्नति में सहायता मिलती है इस कहने के समान है कि धार पर बहती हुई नौका में बैठे हुए लोगों का ऊटपटांग ढग से पतवार पटकना उसकी गति में सहायक होता है। सत्य यह है कि इस क्रिया से नौका की गति में रुकावट भर पडती है। आज का तथाकथित श्रम-विभाजन अर्थात् दूसरो के परिश्रम के प्रतिफल को बलात् हडप जाने की प्रवृत्ति—जो कि हमारे युग के वैज्ञानिको और कलाकारो के क्रियाकलाप का आवश्यक आधार बन गई है—सदा से ही मानव-समाज की प्रगति की मंदता का मुख्य कारण रही है और अब भी है। इसका प्रमाण हमें स्वय वैज्ञानिको के इस कथन मे मिलता है कि सम्पत्ति का असमान वितरण होने के कारण विज्ञान और कला की सफलताओ से लाभ उठाना मजदूरो की क्षमता से बाहर है।

मार्के की बात तो यह है कि कला और विज्ञान में जितनी सफलता मिल रही है उसके अनुपात मे सम्पत्ति-विभाजन का यह अनौचित्य घट नही रहा है, बल्कि बढता ही जा रहा है। इसमे कोई आश्चर्य की बात भी नही है, क्योकि धन का अनुचित विभाजन उस श्रम-विभाजन के सिद्धात का परिणाम मात्र है जो वैज्ञानिक और कलाकार लोग अपने स्वार्थ के लिए सिखाते फिरते है। विज्ञान श्रम-विभाजन का समर्थन यह कहकर करता है कि यह तो एक अपरिवर्तनीय नियम है। वह यह देखता है कि श्रम-विभाजन पर आधारित धन-विभाजन अनुचित और अमगलकारी होता है, फिर भी यह दावा करता है कि उसके

कार्यों से (जिनमे श्रम-विभाजन का सिद्धात स्वीकार कर लिया गया है) मानव-समाज को लाभ होगा। इसका तो अर्थ यह हुआ कि जो लोग दूसरो के श्रम का उपभोग करते है वे यदि ऐसा बहुत अधिक समय तक और दिन-प्रति-दिन अधिक मात्रा मे करते जाय तो सम्पत्ति का यह अनुचित विभाजन अर्थात् दूसरो के श्रम का शोषण समाप्त हो जायगा।

कुछ लोग एसे है जो एक सतत गतिशील झरने के पास खडे होकर उसके जलप्रवाह को प्यासे लोगो की ओर से मोडने का प्रयत्न करते रहते है, फिर भी दावा यह करते है कि वे ही उस जल को उत्पन्न करते है और थोडे ही समय मे सबके प्रयोग के लिए प्रचुर मात्रा मे जल एकत्र हो जायगा। किंतु यह जल जो सदा प्रवाहित होता रहा है और अब भी अबाध रूप से बहता हुआ समस्त मानव-समाज की तृष्णा को शान्त करता है। निस्सदेह वह उन लोगो के उद्यम के फलस्वरूप उत्पन्न नही हुआ जो स्रोत के पास खडे होकर जल-प्रवाह को रोकने का प्रयत्न करते रहते हैं। असलियत तो यह है कि उनकी चेष्टाओ के बावजूद यह जल बहता और फैलता ही रहता है।

एक सच्चे गिरजाघर का अस्तित्व सदा रहा है। दूसरे शब्दो मे यो कहिए कि ऐसे व्यक्ति सदा पाए जाते रहते है जो अपने समय के उच्चतम सत्य के सम्बन्ध मे एकमत रहे हैं और उनका सगठन सदा ही उस गिरजे से भिन्न रहा है जो अपने को गिरजा कहने का दावा करता है। इसी प्रकार विज्ञान और कला का भी अस्तित्व इस संसार मे सदा रहा है, किंतु यह विज्ञान और यह कला वह नही है जो आज अपने को विज्ञान और कला कहकर पुकारते है।

जो लोग अपने को एक विशेष काल के विज्ञान और कला का प्रतिनिधि मानते है वे सदा यह समझते है कि उन्होने बडे-बडे आश्चर्यजनक कार्य किये थे और अब भी कर रहे है। वे यह भी समझते हैं कि उनसे विलग होकर न किसी सच्चे विज्ञान और कला का अस्तित्व कभी था और न अब है। यह धारणा पूर्वकाल के भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों और कलाकारो की रही है और आज के भी वैज्ञानिको और कलाकारो की है।

: ३६ :

विज्ञान और कला की प्राचीनता

"किंतु विज्ञान और कला को अस्वीकार करने का अर्थ यह है कि आप उस वस्तु को अस्वीकार कर रहे हैं जिसपर मानव-समाज का जीवन आश्रित है।"—यह उत्तर मुझे लोग सदा दिया करते है और मेरे तर्कों को इसी तरह कुछ विचार किये बिना ही टाल देते हैं। वे मेरे सम्बन्ध में कहते हैं—"अरे वह तो विज्ञान और कला को नहीं मानता, वह तो चाहता है कि मनुष्य एक बार फिर अपनी जगली अवस्था में रहने लगे, इसलिए उसकी बातो को सुनने और उससे वाद-विवाद करने से क्या लाभ ?"

किंतु यह मेरे प्रति अन्याय है। यही नही कि मैं विज्ञान की (अर्थात मानव-समाज के तर्कसगत कार्य-कलाप की) और कला की (अर्थात उक्त तर्कसगत कार्य-कलाप की अभिव्यक्ति की) अवहेलना नही करता, बल्कि मैं जो कुछ भी कहता हू विज्ञान और कला की खातिर ही कहता हू, ताकि वर्तमान युग की भ्रामक शिक्षा की कृपा से आज मानव-समाज जिस जगली अवस्था की ओर बडी तेजी के साथ बढा जा रहा है उससे वह बच सके। मेरे तर्क-वितर्क का एकमात्र उद्देश्य यही है।

मानव-समाज के लिए विज्ञान और कला उतने ही आवश्यक हैं जितने अन्न, जल और वस्त्र—बल्कि इनसे भी अधिक आवश्यक है। किंतु उनके आवश्यक होने का कारण यह नही है कि हम उन्हें ऐसा समझते है, बल्कि केवल यह कि वे वास्तव मे मानव-समाज के लिए आवश्यक है। यदि लोग सूखी घास मनुष्य के शारीरिक उपभोग के

लिए तैयार करते है तो मेरा केवल यह मान लेना कि वह मनुष्य का खाद्य-पदार्थ है उसे खाद्य पदार्थ नही बना सकता। मुझे यह नही कहना चाहिए कि अगर सूखी घास एक आवश्यक खाद्य पदार्थ है तो उसे आप खाते क्यो नही। खाद्य पदार्थ आवश्यक तो होता है, किंतु मै जो चीज खाने को कह रहा हू वह शायद खाने लायक नही है।

यही बात विज्ञान और कला के साथ भी हुई है। हम समझते है कि यदि किसी यूनानी शब्द के साथ 'लॉजी' अर्थात 'शास्त्र' शब्द जोड़ दे और उसे विज्ञान कहने लगें तो वह विज्ञान हो जायगा। इसी प्रकार हम सोचते है कि यदि किसी अश्लील कार्य को—जैसे कि नग्न स्त्रियो के नृत्य को—किसी यूनानी शब्द से सम्बन्धित करने लगे और उसे कला कहकर पुकारने लगें तो वह कला हो जायगा। किंतु हम इस प्रकार की बातें चाहे कितनी भी क्यो न कहे, विज्ञान और कला के नाम पर आजकल हम जिन कार्यो में सलग्न है—जैसे कि कीटाणुओ की गणना करना, आकाश-गगा के रासायनिक अगो का अन्वेषण करना, जलपरियो और ऐतिहासिक दृश्यो का चित्रण करना या कहानिया और नाटक लिखना—ये सब कार्य उस समय तक विज्ञान या कला नही हो सकते जबतक कि वे लोग जिनके लिए ये किये जाते है इन्हे स्वेच्छा से इस रूप मे स्वीकार न कर ले। अभी तक ये इस रूप में स्वीकार नही किये गए है।

खाद्य पदार्थ उत्पन्न करने का अधिकार यदि केवल कुछ इने-गिने लोगो के हाथो मे हो और शेष लोगो को इस अधिकार से वचित कर दिया जाय या ऐसा करना उनके लिए असम्भव कर दिया जाय तो मै समझता हू कि भोजन के गुण मे न्यूनता आ जायगी। यदि अन्न के उत्पादन का एकाधिकार रूसी किसानो को दे दिया जाय तो काली रोटी, क्वास, आलू और प्याज के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न ही न हो, क्योकि येही खाद्य पदार्थ उन्हे प्रिय तथा अनुकूल है। इसी प्रकार यदि विज्ञान और कला का एकाधिकार भी किसी जाति विशेष को सौप दिया जाय तो मानव-समाज के इन श्रेष्टतम कार्यों की भी ऐसी ही दशा हो जायगी। अन्तर केवल यह होगा कि खाद्य पदार्थ—अर्थात्

शारीरिक भोजन—तो प्रकृति से कुछ भिन्न नही होगा, क्योंकि काली रोटी और प्याज दोनो ही अधिक स्वादिष्ट न होते हुए भी स्वास्थ्य-दायक तो है ही; किंतु मानसिक भोजन में अत्यधिक अन्तर पडने की सम्भावना रहेगी और कुछ लोगों को ऐसे मानसिक भोजन पर दीर्घ काल तक आश्रित रहना पड़ेगा जो उनके लिए न केवल नितान्त अनावश्यक बल्कि हानिकारक और विषपूर्ण भी होगा। वे अफीम खा-खाकर और शराबें पी-पीकर धीरे-धीरे अपनी मृत्यु तक बुला लेंगे और जनता को भी इन्हीका उपयोग करने को कहेंगे।

हमारे साथ यही बात हुई है और इसका कारण यह है कि वैज्ञानिकों और कलाकारो को एक विशिष्ट पद प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अब विज्ञान और कला सम्पूर्ण मानव-समाज की तर्कसंगत प्रवृति के प्रतिरूपक नही रह गए है, बल्कि उन इने-गिने व्यक्तियो की क्रियाएं बन गए है जिनको इनपर एकाधिकार प्राप्त है और जो अपने को वैज्ञानिक और कलाकार कहने का अभिमान करते है। इन लोगों ने विज्ञान और कला की मूल भावना को ही विकृत बना दिया है। वे अपने कर्त्तव्य के अर्थ को भूल गए है और अपना सारा समय केवल कुछ थोड़े-से आलस्यपूर्ण उपभोक्ताओं का मनोरंजन करने मे तथा उन्हें उस मानसिक क्लान्ति से, जो दिन-रात उन्हे सताती रहती है, मुक्ति दिलाने में व्यतीत करते है।

इस भूमण्डल पर मानव के जन्म लेने के समय से ही विज्ञान उसके पास अपने स्पष्टतम और अधिक-से-अधिक व्यापक अर्थ में विद्यमान रहा है। वह विज्ञान, जिसे हम सब मनुष्यो का ज्ञान कह सकते हैं, इस संसार में सदा रहा है और अब भी है। सच पूछिए तो इसके बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह न तो हमें आक्रमण करने को कहता है न रक्षात्मक युक्तिया ही सिखाता है। बात केवल इतनी है कि ज्ञान का क्षेत्र इतना विविध है और उसमें लोहा उत्पन्न करने के ज्ञान से लेकर देवी-देवताओं की हलचलों तक के ज्ञान की इतनी बाते सम्मिलित है कि मनुष्य उनमें खो जाता है और अपना मार्ग उस समय तक नही ढूढ पाता जबतक

उसको यह निर्णय करने के लिए कोई संकेत न मिल जाय कि इनमें से कौन सी बातें उसके लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और कौन-सी बातें कम महत्त्व की है। यही कारण है कि मानवीय बुद्धिमत्ता का परम लक्ष्य सदा से ही उस संकेत को प्राप्त करने का रहा है जिससे विदित हो सके कि हमारे ज्ञान का क्रम क्या होना चाहिए अर्थात् उसमें से कौन-सी बात पहले आनी चाहिए और कौन-सी बाद में। वास्तव में यही वह ज्ञान है जो दूसरे प्रकार के ज्ञान का निर्देशन करता है और जिसे मनुष्य सदा ही वास्तविक अर्थ मे विज्ञान कहता आया है। इस प्रकार का विज्ञान मानव-समाज मे जगली अवस्था मे से निकलने के बाद से सदा से ही विद्यमान रहा है और आज भी है।

मानव-समाज के उत्पत्ति-काल से ही ऐसे शिक्षकों का प्रादुर्भाव होता आया है जो विज्ञान का उसके वास्तविक अर्थ में निर्माण करते रहे है, अर्थात् मनुष्य को वह ज्ञान प्रदान करते रहे हैं जिससे वह जान सके कि उसे किस वस्तु की सबसे अधिक आवश्यकता है। इस प्रकार का विज्ञान हमे सदा यह बताता रहा है कि प्रारब्ध क्या है और इसीलिए वह प्रत्येक मनुष्य को उसके सच्चे कल्याण का ज्ञान कराता रहा है। यही वह विज्ञान है जो ऊपर लिखे हुए संकेत का काम करता रहा है और हमें यह निश्चय करने मे सहायता देता रहा है कि दूसरे प्रकार के ज्ञान का और उसे व्यक्त करनेवाली क्रिया—अर्थात् कला—का कितना महत्त्व है।

मनुष्य के भविष्य और कल्याण से सम्बन्ध रखनेवाले आधारभूत विज्ञान को जिस प्रकार के ज्ञान से सबसे अधिक सहायता मिली और जिस प्रकार का ज्ञान उसके सबसे निकटतम आया वही जनता की दृष्टि मे सबसे उच्च माना गया और जिस प्रकार के ज्ञान सबसे कम उपयोगी थे उन्हें सबसे निम्न स्तर पर स्थान मिला। कन्फ्यूशियस, बुद्ध, मूसा, सुकरात, ईसा और मुहम्मद का विज्ञान इसी प्रकार का था। विज्ञान होता भी इसी प्रकार का है और हम-जैसे कथित शिक्षितों को छोडकर सभी लोग ऐसे ही विज्ञान को समझते रहे है और अब भी समझते हैं।

इस प्रकार के विज्ञान को न केवल सदा समस्त विज्ञानों में प्रथम पद मिलता आया है बल्कि अकेले इसीसे दूसरे विज्ञानो का महत्त्व भी आका जाता रहा है। और इस महत्ता का यह कारण नही है कि कुछ धूर्त प्रचारको और शिक्षको ने इसे यह महत्ता प्रदान की—जैसी कि आजकल के कथित शिक्षित व्यक्तियो की मान्यता है—बल्कि इसका कारण यह है कि मनुष्य के भाग्य और कल्याण सम्बन्धी विज्ञान के बिना किसी दूसरे विज्ञान या कला का मूल्याकन या चुनाव हो ही नही सकता और न उसके फलस्वरूप विज्ञान का अध्ययन ही हो सकता है, क्योकि जिन-जिन विषयो से विज्ञान का सम्बन्ध है उनकी सख्या अपरिमित है। यह एक ऐसी बात है जिसे प्रत्येक व्यक्ति अपने आत्मिक अनुभवों से जान सकता है। इस बात का ज्ञान प्राप्त किये बिना कि समस्त मानव-जीवन का भविष्य और कल्याण किस वस्तु मे निहित है दूसरे प्रकार के विज्ञान और कला केवल निरर्थक और हानिकारक मनोरंजन मात्र रह जाते है, जैसा कि आज हम लोगो मे हो रहा है। मनुष्य-समाज का अस्तित्व तो बहुत पुराना है, किंतु ऐसा कभी नही हुआ कि उसके भविष्य और कल्याण का निर्देशन करनेवाला विज्ञान न रहा हो। यह सत्य है कि बाह्य दृष्टि से मानव-कल्याण सम्बन्धी विज्ञान का स्वरूप बौद्धो, ब्राह्मणों, यहूदियो, ईसाइयो और कनफ्यूसियस तथा लाओ-त्स्ज़ के अनुयायियो मे भिन्न-भिन्न दिखाई देता है—यद्यपि इन महापुरुषो के उपदेशो पर विचार करते ही पता चल जाता है कि उनका सार एक ही है—किंतु हमे जहां कही भी जगली अवस्था से निकले हुए मनुष्य मिलते है वही हमे यह विज्ञान भी मिलता है और आज एकाएक ऐसा लग रहा है जैसे जिस विज्ञान ने अबतक समस्त मानवो के ज्ञान का पथ-प्रदर्शन किया है उसीको हम आज समस्त वस्तुओं की उन्नति मे बाधक समझने लगे है।

लोग मकान बनाते है, एक शिल्पी एक तरह का नक्शा तैयार करता है तो दूसरा दूसरी तरह का और तीसरा तीसरी तरह का। इन नक्शो में थोडा-बहुत अन्तर तो अवश्य होता है किंतु वे होते सभी ठीक है, क्योंकि उन्हे बनानेवाले सभी शिल्पियो के समक्ष एक मात्र यही विचार

होता है कि यदि नक्शे के अनुसार कार्य हुआ तो मकान अवश्य बन जायगा। कनफ्यूसियस, बुद्ध, मूसा और ईसा ऐसे ही शिल्पी थे।

किंतु कुछ लोग अकस्मात आकर हमे यह विश्वास दिलाते है कि मुख्य वस्तु किसी नक्शे का बनाना नही, बल्कि किसी भी प्रकार मकान का निर्माण कर लेना है। इस 'किसी तरह' को ही ये लोग सर्वश्रेष्ठ विज्ञान कहकर पुकारते है, ठीक वैसे ही जैसे पोप अपने को सबसे पुनीत कहकर पुकारते है। जिस विज्ञान से मनुष्य के भविष्य और कल्याण का निर्णय होता है उसी विज्ञान को लोग अस्वीकार करते है और इस अस्वीकृति को ही विज्ञान मानते है। मानव के सृष्टि-काल से ही बडे-से-बडे बुद्धिवेत्ता पैदा हुए है जो अपने तर्क और अपनी आत्मा की पुकार से संघर्ष करते हुए सदा अपने से यही प्रश्न पूछते रहे है कि अकेले उनका ही नही बल्कि समस्त मानव-समाज का भविष्य और कल्याण किस वस्तु मे निहित है। वे इसी प्रश्न पर विचार करते रहे है कि जिस शक्ति ने हमे उत्पन्न किया और जो हमारा पथ-प्रदर्शन करती है वह हममे से प्रत्येक मनुष्य से क्या चाहती है और हमारे मन में स्वय अपने तथा समस्त ससार के कल्याण के लिए जो आकाक्षा छिपी हुई है उसे सतुष्ट करने के लिए हमे क्या करना चाहिए।

वे अपने-आपसे यह प्रश्न करते रहे है—"मै 'सम्पूर्ण' हू और फिर भी 'अनन्त अपरिमित' का अश हू। अपने ही जैसे दूसरे अशो से मेरा क्या सम्बन्ध है? अर्थात् मेरा व्यष्टि और समष्टि से क्या सम्बन्ध है?"

अपनी आत्मा तथा बुद्धि की पुकार के आधार पर और इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि उनके पूर्वजो तथा समकालीन व्यक्तियो ने भी अपने-आपसे यही प्रश्न पूछकर क्या उत्तर दिया था, इन महान् शिक्षको ने एक ऐसा सिद्धात निर्धारित किया है जो सबके लिए अत्यंत सरल, स्पष्ट, बोधगम्य और व्यवहार-योग्य है।

इस प्रकार के उच्च-से-उच्च और निम्न-से-निम्न कोटि के व्यक्ति हुए है। ससार उनसे भरा पडा है। ये सभी लोग अपने से यही प्रश्न करते है—"हमारी आत्मा और बुद्धि मे समस्त मानव-समाज के कल्याण के लिए जो आकाक्षा भरी हुई है उसका हम वैयक्तिक हित की भावना से कैसे

मेल मिलावें ?" इस सामान्य मूल भावना से धीरे-धीरे किंतु निरन्तर जीवन के ऐसे नए रूपों का निर्माण हो रहा है जो हमारी बुद्धि और आत्मा की पुकार के अधिक अनुकूल होते हैं।

अचानक एक नए वर्ग के लोगों का प्रादुर्भाव होता है और वे कहते हैं—"यह सब वाहियात है, इसे त्याग देना चाहिए, यह तो निष्कर्ष निकालने की वह प्रणाली है जिसमें किसी सर्वसम्मत स्वीकृत सिद्धांत को आधार मान लिया जाता है और जो धार्मिक तथा दार्शनिक युगों के लिए ही ठीक थी।" लोग यह कहते तो हैं किंतु अभी तक कोई यह समझ नहीं पाया है कि निष्कर्ष निकालने की इस प्रणाली में और उस प्रणाली में जिसमें पृथक-पृथक उदाहरणों को देखकर व्यापक नियम निर्धारित किये जाते हैं, अन्तर क्या है।

इस नए वर्ग के लोग यह भी कहते हैं कि आंतरिक अनुभूति के आधार पर मनुष्य अबतक जो कुछ भी जान पाया है, जीवन-धर्म की चेतना के सम्बन्ध में—जिसे नए वर्ग के लोग शारीरिक क्रिया कहकर पुकारते हैं—मनुष्य ने एक-दूसरे को जो कुछ भी बताया है और सृष्टि के आरम्भ से आज तक बड़े-बड़े विद्वानों ने इस दिशा में जितनी भी सफलता प्राप्त की है, वह सब कूड़ा-कर्कट और महत्वहीन है।

इस नई विचारधारा के अनुसार ऐसा लगता है जैसे हम शरीर-यंत्र के एक तंतु हों और हमारी तर्कसंगत क्रिया का एक मात्र उद्देश्य हमारी शारीरिक क्रिया का निर्णय करना है तथा ऐसा करने के लिए हमको केवल अपने चारों ओर फैले हुए जगत का निरीक्षण मात्र करने की आवश्यकता है। यह बात कि हम एक ऐसे तंतु है जो सोचता है, दुःख उठाता है, बोलता है, समझता है और इसलिए हम अपने ही जैसे बोलनेवाले दूसरे तंतु से यह प्रश्न कर सकते हैं कि क्या वह भी हमारी ही तरह से दुःख और सुख का अनुभव करता है और इस प्रकार यह निश्चय करता है कि हमारा अनुभव कहाँ तक ठीक है; यह बात कि हमसे पहले के तंतु जिस प्रकार जीवित रहते थे, दुःख-सुख का अनुभव करते थे, विचार करते थे और बोलते थे तथा इस सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ लिखा है उससे हम लाभ उठा सकते हैं; यह बात कि

हमसे पहले के ततुओ ने अपने जो अनुभव व्यक्त किय है उनसे सहमत होने के कारण लाखो दूसरे ततु भी हमारे इन विचारो का समर्थन करते है और इन सबसे बडी बात यह है कि हम स्वयं एक जीवित ततु है और अपने प्रत्यक्ष अनुभव से अपने कर्त्तव्यो के औचित्य और अनौचित्य को समझते है—ये सब बातें निरर्थक है, निष्कर्ष निकालने की यह एक बहुत ही दोषयुक्त और अशुद्ध प्रणाली है। सच्चा वैज्ञानिक ढग यह है—यदि हम जानना चाहते है कि हमारा व्यक्तिगत कर्त्तव्य क्या है अर्थात् यह जानना चाहते है कि हमारा ही नही बल्कि मानव-समाज और सारे ससार का कर्त्तव्य और हित किस वस्तु मे निहित है तो हमको सबसे पहले अपनी आत्मा और बुद्धि की आवाज को सुनना बन्द करना होगा, हमको उन सब बातो पर विश्वास करना छोडना होगा जो मानव-समाज के महान शिक्षक अपनी बुद्धि और अपनी आत्मा के सम्बन्ध मे कह गए है, हमको इन सब बातो को नगण्य समझ कर नए सिरे से विचार करना होगा। ऐसा करने के लिए हमको एक खुर्दबीन के द्वारा छोटे-छोटे कीडो और क्रिमियो के ततुओ की हरकत को देखना होगा। इससे भी आसान ढग यह है कि जिन लोगो को निर्दोष होने का प्रमाणपत्र मिल चुका है वे इन वस्तुओ के सम्बन्ध मे कुछ भी कहे उसीपर विश्वास कर लिया जाय। छोटे-छोटे कीडो और ततुओ को देखकर या जो कुछ दूसरो ने देखा है उसे पढकर हमको इन ततुओ के सम्बन्ध मे अपनी मानवीय भावनाओ के आधार पर यह अनुमान लगाना होगा कि वे क्या चाहते है, किस बात के लिए प्रयत्नशील है और उन्हे क्या सोचने तथा समझने का अभ्यास है। इन्ही बातो से, जिनका कि एक-एक शब्द अशुद्ध है, हमको तुलनात्मक आधार पर यह निश्चय करना होगा कि हम क्या करते है, हमारा कर्त्तव्य क्या है और हमारा तथा हम-जैसे दूसरे ततुओ का किस बात में भला है? अपने को समझने के लिए हमको न केवल द्रष्टव्य क्रिमियो का बल्कि उन लघुतम जतुओ का भी अध्ययन करना होगा जिन्हें हम मुश्किल से देख सकते है। इसके अतिरिक्त हमको एक जीव का दूसरे जीव के रूप मे परिवर्तित

होने की क्रिया को भी देखना होगा, जिसे न तो अबतक कोई देख सका है और न जिसे हम निश्चय ही कभी देख सकेंगे।

यही बात कला की भी है। जहा कही भी सच्चा विज्ञान विद्यमान रहा है वहा कला सदा से ही मनुष्य के कर्त्तव्य और हित के ज्ञान की अभिव्यक्ति करती रही है। मनुष्य के जिन सम्पूर्ण कार्य-कलापो से भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान का उपार्जन होता है उनमे से लोग सृष्टि के आरम्भ काल से ही उस प्रधान क्रिया को चुनते आए हैं जिससे मनुष्य के कर्त्तव्य और कल्पना का ज्ञान होता है। इस ज्ञान के प्रतिफल की अभिव्यक्ति ही कला कहलाती रही है। मानव-जीवन के आरम्भ काल से ही ऐसे मनुष्य होते आए हैं जो मानव-जाति के कर्त्तव्य और कल्याण के उपदेशो के प्रति विशेष रूप से जागरूक और उत्सुक रहे हैं तथा जिन्होने अपनेको कर्त्तव्यच्युत करनेवाली भ्रातियो के विरुद्ध हर प्रकार से सघर्ष किया है। उन्होने इस सघर्ष की यातनाओ का भी बखान किया है और नेकी की विजय पर आशा तथा बुराई की विजय पर निराशा व्यक्त की है और भावी सुख के प्रति हर्ष की अभिव्यक्ति की है।

सृष्टि के आरम्भ से ही सच्ची कला का—जिसका सदा ही अत्यधिक सम्मान होता रहा है—एक मात्र उद्देश्य, यही रहा है कि वह मनुष्य के कर्त्तव्य और कल्याण की अभिव्यक्ति करे। कला ने तो आरम्भ से लेकर आज तक सदा ही उस जीवनोपदेश का अनुगमन किया है जो बाद में धर्म के नाम से पुकारा गया और सच पूछिए तो सदा केवल इसी प्रकार की कला का सम्मान भी हुआ है। किंतु जब से मनुष्य के कर्त्तव्य और कल्याण का ज्ञान करानेवाले विज्ञान के स्थान पर एक ऐसे विज्ञान का प्रादुर्भाव हुआ है जो विश्व की समस्त बातो का ज्ञान प्राप्त कराने का दावा करता है—अर्थात् जबसे विज्ञान का असली अर्थ और उद्देश्य नष्ट हो गया है और सच्चे विज्ञान को लोग घृणापूर्वक धर्म के नाम से पुकारने लगे है तभी से कला का मनुष्य की एक महत्त्वपूर्ण क्रिया के रूप मे लोप हो गया है।

जबतक कि हमारे कर्त्तव्य और कल्याण का निर्देशन धर्म की ओर से होता रहा तबतक कला धर्म की सेवा मे ही लीन रही और सच्ची

कला बनी रही, किंतु जबसे वह धर्म का साथ छोडकर विज्ञान की सेविका बनी तबसे उसकी महत्ता जाती रही है और यद्यपि आज भी वह अपनी प्राचीन प्रतिष्ठा के आधार पर यह मूर्खतापूर्ण दावा करती है कि कला कला के लिए है, तथापि उसने मनुष्य को वाछनीय पदार्थ जुटानेवाले एक व्यवसाय का रूप ग्रहण कर लिया है और वह अनिवार्य रूप से नाखून रगने और शृगार करने की कलाओ में घुलमिल गई है। मार्के की बात तो यह है कि इन सौदर्य-प्रसाधनो के उत्पादक भी अपने को कलाकार कहने का उतना ही अधिकारी मानते है जितने आज कल के कवि, चित्रकार और सगीतज्ञ ।

हम अपने लम्बे अतीत पर दृष्टि डालते है तो देखते है कि पिछले हजारो वर्षों में लाखो और करोडो व्यक्तियो के बीच मे से कन्फ्यूशियस बुद्ध, सोलन, सुकरात, सुलेमान, होमर, ईसइया और दाऊद जैसे कुछ थोडे-से ही विशिष्ट व्यक्ति हुए है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के व्यक्ति इस ससार मे बहुत कम हुए है, यद्यपि उनका जन्म किसी जाति विशेष में नही अपितु जन साधारण मे ही हुआ था। दूसरे शब्दो मे यो कहिए कि आत्मिक भोजन को उत्पन्न करनेवाले इस प्रकार के सच्चे वैज्ञानिक और कलाकार अत्यत दुर्लभ है और मानव-समाज उनका इतना जो सम्मान करता आया है वह अकारण नही है। किंतु आज ऐसा लगता है कि जैसे विज्ञान और कला की ये महान विभूतिया हमारे लिए निरर्थक हो गई है, जैसे आज विज्ञान और कला के उत्पादक श्रम-विभाजन के नियमानुसार कारखानो मे पैदा किये जा सकते है और सृष्टि के आरम्भ से अबतक जितने भी वैज्ञानिक और कलाकार हुए है उनसे कही अधिक वैज्ञानिक और कलाकार हम दस वर्ष में पैदा कर सकते है। आजकल तो वैज्ञानिको और कलाकारो का जैसे एक सघ-सा खुल गया है, जहा मनुष्य-जाति के लिए जितने भी आत्मिक भोजन की आवश्यकता है वह सब एक निर्दोष ढग पर तैयार कर लिया जाता है। और यह आत्मिक भोजन इतने अधिक परिमाण मे तैयार कर लिया गया है कि अब पहले के प्रतिभा-सम्पन्न विद्वानो को स्मरण करने तक की आवश्यकता नही रह गई है। कहा जा सकता है कि

उनका कार्य तो धार्मिक और दार्शनिक युग का काम था इसलिए उसे मिटा देना चाहिए; सच्चे तर्क-सगत कार्य को आरम्भ हुए तो अभी पचास वर्ष ही बीते है और इन पचास वर्षों में हमने इतने महान् पुरुष उत्पन्न कर लिये है कि आज अकेले एक जर्मन विश्वविद्यालय में इतने विद्वान् है जितने समस्त ससार में नही हुए। विज्ञान भी हमने इतने उत्पन्न कर लिए है—सौभाग्यवश इन्हें उत्पन्न करना आसान भी है क्योंकि हमें तो केवल किसी यूनानी सज्ञा के साथ 'शास्त्र' शब्द जोड कर उसे बनी-बनाई तालिकाओ मे श्रेणी-बद्ध करने भर की आवश्यकता है और फिर तो वह आपसे आप विज्ञान बन जाती है—कि न केवल हमारे लिए इन समस्त विज्ञानो का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है बल्कि किसी एक व्यक्ति के लिए उन सबका नाम तक याद रखना सम्भव नही, उनके नाम से ही एक मोटा कोष तैयार हो सकता है और नए विज्ञानो का तो दिन-प्रति-दिन प्रादुर्भाव हो ही रहा है। बहुत-से विज्ञान ऐसे बनाए गए है जिनसे हमे फिनलैंड के उस अध्यापक की स्मृति हो आती है जो एक जमीदार के लडको को फ्रासीसी भाषा की बजाय फिनिश भाषा पढाया करता था। उसने पढाया तो खूब लेकिन दुख इस बात का है कि उसके सिवाय और कोई उसका एक शब्द भी नही समझा। अन्य सभी लोग उसे एक निरर्थक कूडा समझते है। किंतु इसका भी एक जवाब है। कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक ज्ञान की समस्त उपयोगिता को लोग समझ नही पाते, क्योंकि लोग अब भी धार्मिक युग की बताई गई बातो के प्रभाव में है—वही मूर्खतापूर्ण युग जब ससार के सभी लोग—हिब्रू, चीनी, हिन्दू और यूनानी सभी—अपने महान उपदेशको द्वारा बताई गई समस्त बातो को समझते थे।

जो कुछ भी हो, सत्य यह है कि विज्ञान और कला का अस्तित्व सदा से ही मनुष्य-समाज में रहा है और जब वे अपने सच्चे स्वरूप मे विद्यमान थे तब जनता को उनकी आवश्यकता थी और वह उन्हें समझ भी लेती थी। आज हम एक ऐसी वस्तु के पीछे पडे हुए है जिसे हम कहते तो विज्ञान और कला है, किंतु वास्तविकता यह है कि हम आज जो कुछ भी कर रहे है उसे विज्ञान अथवा कला कहलाने का अधिकार नही है।

: ३७ :

कष्ट-सहन बिना सच्ची सेवा असम्भव

लोग मुझे जवाब देते है—"लेकिन आप तो विज्ञान और कला की एक दूसरी परिभाषा मात्र दे रहे है, जो पहले से भी अधिक सकीर्ण है और जिससे विज्ञान सहमत नही है। और फिर शेष बाते इससे बाहर कब है ? ससार मे अब भी गैलीलियो[1], ब्रूनो[2], होमर[3], माइकेल आजेलो, बीथोवेन और वैगनर जैसे महान वैज्ञानिकों और कलाकारो तथा उनके अतिरिक्त उन छोटे-छोटे विज्ञान-नेताओ और कलाविदो की भी हलचले जारी है, जिन्होने अपना समस्त जीवन ही विज्ञान और कला की सेवा मे लगा दिया है।"

यह बात प्राय इसलिए कही जाती है कि पहले के और आज के वैज्ञानिको तथा कलाकारो के बीच एक कडी स्थापित की जा सके। ऐसा करते समय लोग श्रम-विभाजन के उस विशेष नए सिद्धात को भूलने का प्रयत्न करते है, जिसके आधार पर आज विज्ञान और कला को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

सबसे पहली बात यह है कि प्राचीन और वर्त्तमान कार्यकर्त्ताओ के बीच ऐसी कोई कडी स्थापित करना असम्भव है। जिस प्रकार प्रारम्भिक ईसाइयो के पवित्र जीवन और आजकल के पोपो के जीवनो मे कोई तारतम्य नही है; उसी प्रकार गैलीलियो, शेक्सपियर और बीथोवेन जैसे व्यक्तियो के कार्यो की टिंडल, विक्टर ह्यूगो और वैगनर, जैसे

---

१. इटली का जगद्विख्यात खगोल वेत्ता।
२ इटल ३ प्रसिद्ध यूनानी कवि।

व्यक्तियो के कार्यो से कोई समानता नही है। जिस प्रकार प्राचीन काल के पुनीत धर्म-पिता पोपो के साथ अपना कोई सम्बन्ध मानना स्वीकार नही करते उसी प्रकार प्राचीन काल के प्रमुख विज्ञानवेत्ता आज के वैज्ञानिक नेताओ के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने से इन्कार कर देते है।

दूसरी बात यह है कि विज्ञान और कला स्वय को जो महत्त्व देने लगे है उससे हमे उनके ही द्वारा सस्थापित एक अत्यन स्पष्ट मापदण्ड मिल गया है जिससे हम यह निश्चय कर सकते है कि विज्ञान और कला का उद्देश्य पूरा हो रहा है या नही। इस प्रकार हम स्वेच्छा से नही बल्कि एक स्वीकृत मापदण्ड के अनुसार यह निश्चय कर सकते है कि जो वस्तु अपने को विज्ञान और कला कहती है उसे ऐसा कहने का अधिकार है या नहीं।

पुराने जमाने में मिस्र और यूनान के धर्माचार्य ऐसे रहस्यपूर्ण कार्य किया करते थे जिनका भेद उनके सिवा और किसीको न मालूम होता था और वे कहते थे कि इन रहस्यो मे ही समस्त विज्ञान और कला सन्निहित है—किंतु हम उनके कार्यो द्वारा जनता को पहुचाए गए लाभ को आधार मान कर यह निर्णय नही कर सकते थे कि उनका विज्ञान सही है, क्योकि वे स्वय उन्हे दैवी मानते थे। किंतु अब हमारे सामने एक बिलकुल ही स्पष्ट और सरल मापदण्ड है जिसमे किसी दैवी तत्व को स्थान नही। समाज अथवा मानव-जाति के कल्याण के लिए आज विज्ञान और कला मनुष्य के मानसिक कार्य करने को तत्पर है। अत हमें इस बात का अधिकार है कि हम केवल ऐसे कार्यो को 'विज्ञान और कला' का नाम दें जिनके सामने उक्त लक्ष्य हो और जो उसे प्राप्त करें।

इसलिए वे विद्वान् और कलाकार जो दण्डविधान और नागरिक तथा अंतराष्ट्रीय कानून के सिद्धातो का निर्णय करते है, जो नए अस्त्र-शस्त्रो और विस्फोटको का अन्वेषण करते है और जो अश्लील नाटक अथवा उपन्यास लिखते है, वे अपने को चाहे कुछ भी कहें, हमें उनके ऐसे कार्यो को विज्ञान और कला कहने का कोई अधिकार नही

है, क्योकि उन कार्यो का लक्ष्य समाज अथवा मानव-जाति का कल्याण करना नही होता बल्कि इसके विपरीत वे मानव-जाति को हानि पहुचाते है। अत यह सब विज्ञान या कला नही है। इसी प्रकार वे विद्वान् जो अपने सरल स्वभाव के कारण अपना सारा जीवन सूक्ष्मदर्शक और दूरदर्शक यत्रो द्वारा दिखाई पडनेवाले तत्वो आदि के अध्ययन में लगा देते है, अथवा वे कलाकार जो प्राचीन स्मारको का परिश्रमपूर्वक अध्ययन कर ऐतिहासिक उपन्यास लिखने, चित्र बनाने या मधुर राग-रागनिया और कविताएं रचने मे लगे हुए है वे अपने आपको चाहे कुछ भी क्यो न कहे, उत्साही होते हुए भी वे वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार वैज्ञानिक और कलाकार नही कहे जा सकते। इसके कई कारण है—पहले तो उनके 'विज्ञान विज्ञान के लिए' और 'कला कला के लिए' के सिद्धात पर किये गए कार्यो मे मानवीय का कल्याण उद्देश्य नही होता और दूसरे हम उनके कार्यो को समाज और मानवता के लिए कल्याण-प्रद नही पाते। यह बात कि उनके कार्य से कभी-कभी कुछ व्यक्तियो का मनोरजन और लाभ हो जाता है हमे इस बात की बिलकुल अनुमति नही देती कि स्वय उनकी ही वैज्ञानिक परिभाषा के अनुसार हम उन्हे वैज्ञानिक और कलाकार समझे।

ठीक इसी प्रकार जो लोग बिजली से प्रकाश, गर्मी अथवा शक्ति प्राप्त करने के नए प्रयोग करते है या नए रासायनिक प्रयोगो से बारूद अथवा सुन्दर रग तैयार करते है या शास्त्रीय सगीत शुद्ध रूप से प्रस्तुत करते है या रगमच पर अच्छा अभिनय करते है और सुन्दर चित्र बना सकते है या मनोरजक उपन्यास लिख सकते है—वे अपने को कुछ भी कहे, उनके कार्य को—जिसका उद्देश्य धनी वर्गो की नीरसता को दूर करना मात्र है—विज्ञान और कला नही कहा जा सकता, क्योकि इनके कार्य का लक्ष्य शरीर-यत्र के मानसिक कार्य की भाति समस्त मानव-जाति का कल्याण नही होता। इसका एकमात्र उद्देश्य तथाकथित कला के आविष्कारो और उत्पादनो से व्यक्तिगत लाभ, सुविधाएं और धन प्राप्त करना ही होता है। अत ऐसे कार्य को दूसरे प्रकार के स्वार्थरत व्यक्तिगत कार्यो—जैसे रेस्तोरा खोलना, घुडसवारी करना, वेश्यावृत्ति

करना आदि—से किसी प्रकार भी पृथक नही किया जा सकता। इन कार्यो का लक्ष्य केवल जीवन के आनन्द मे अभिवृद्धि करना है और ये विज्ञान और कला की परिभाषा के अन्तर्गत नही आते। विज्ञान और कला से तो हमे श्रम-विभाजन के आधार पर मानव-जाति अथवा समाज के कल्याण का आश्वासन मिलता है।

विज्ञान ने विज्ञान और कला की जो परिभाषा बताई है वह बिलकुल सही है, किन्तु दुर्भाग्यवश आज के विज्ञान और कला की हलचले उसके अन्तर्गत नही आती। उनके कुछ प्रतिनिधि ऐसे कार्य कर रहे हैं जो प्रत्यक्ष रूप से हानिकारक हैं, कुछ व्यर्थ का परिश्रम कर रहे हैं और कुछ ऐसे कार्य कर रहे है, जो महत्वहीन हैं और जिनसे केवल धनिको का ही लाभ हो सकता है।

शायद ये सभी लोग नेक आदमी हैं, लेकिन वे उन कामो को नहीं करते, जिन्हें करने का उन्होने अपनी परिभाषा के अनुसार ठेका लिया है। अत. उन्हें अपने को विज्ञानवेत्ता और कलाकार समझने का उतना ही कम अधिकार है, जितना कि अपने उत्तरदायित्वो का पालन न करनेवाले आज के धर्माचार्यो को अपने को सत्य के ठेकेदार और उपदेशक कहने का है।

आज जो लोग विज्ञान और कला मे लगे हुए हैं वे अपने कर्त्तव्य का पालन क्यो नही करते या कर सकते, यह समझना कुछ मुश्किल नही है। वे अपने कर्त्तव्यो का पालन इसलिए नही कर पाते कि उन्होने अपने कर्त्तव्यो को अधिकार बना लिया है।

वैज्ञानिक और कलात्मक कार्य अपने वास्तविक अर्थो मे तभी फलप्रद हो सकते हैं, जब वे अधिकारो की चिन्ता त्यागकर केवल कर्त्तव्यो का ध्यान रखे। उनकी एकमात्र इसी विशेषता के कारण मानवता उनका इतना अधिक सम्मान करती है।

जो लोग वास्तव में मानसिक परिश्रम करके दूसरों की सेवा करना चाहते हैं, उन्हें ऐसा करते समय सदा यातनाएं सहनी पडती हैं। जिस प्रकार प्रसव-पीड़ा के पश्चात् ही शिशु का जन्म होता है, उसी प्रकार यातनाओ को सहन करने के बाद ही आध्यात्मिकता का निर्माण होता है।

विचारकों और कलाकारो के भाग्य मे उत्सर्ग और कष्ट का होना अनिवार्य है, क्योंकि उनका उद्देश्य मानव का कल्याण होता है। मनुष्य दुःखी होते है, वे कष्ट भोगते हैं और मर जाते है। ठहरने और अपने मे फिर से स्फूर्ति लाने का अवकाश किसे मिलता है ?

विचारक और कलाकार किसी एकान्त चोटी पर जाकर नहीं बैठ जाते, जैसा कि प्रायः हम समझ लेते है। उनके चित्त मे तो सदा चिन्ता और खलबली मची रहती है। वे ऐसी बातो को प्रकाश मे लाने की चेष्टा करते हैं जो मनुष्य के लिए वरदान सिद्ध हो सकती हैं और उसे ताडनाओ से बचा सकती हैं। किन्तु अभी तक वे इन बातों का पता नही लगा पाए है और सम्भव है कल तक ऐसा करने के लिए बहुत देर हो जाय—सम्भव है तबतक मनुष्य की जीवन-लीला ही समाप्त हो जाय।

वह व्यक्ति कभी विचारक और कलाकार नहीं हो सकता जिसने किसी ऐसी संस्था मे शिक्षा, योग्यता और उपाधि ग्रहण की हो जो दावा तो करती है विद्वानों और कलाकारो को जन्म देने का, किन्तु वास्तव मे पैदा करती है विज्ञान और कला की हत्या करनेवालो को। सच्चा कलाकार और विद्वान् तो वह है जो यह सोचता ही नहीं और न प्रकट ही करता कि उसकी अंतरात्मा मे क्या है ? वह तो उन कार्यों को किये बिना रह ही नहीं सकता जिन्हे करने के लिये दो प्रबल शक्तियां—आंतरिक आवश्यकता और जनता की माग—उसे प्रेरित करती रहती है।

जो लोग मोटे-ताजे और आत्म-सन्तुष्ट है तथा छक-छककर जीवन के आनन्दो का उपभोग करते हैं वे विचारक और कलाकार हो ही नही सकते।

जिस प्रकार के मानसिक कार्य और उसकी अभिव्यक्ति की वास्तव मे दूसरो को आवश्यकता है, उसकी साधना मनुष्य के लिए सबसे अधिक कठिन और कष्टकारी है। धर्मशास्त्र के शब्दो मे वह उसके लिए सूली का तख्ता है। यदि किसी मे इसके लिए लगन है तो उसका एकमात्र और असंदिग्ध लक्षण यह है कि वह स्वार्थ का त्याग कर देता

है और स्वय मे निहित शक्तियो का दूसरे के लाभ के लिए व्यवहार करने मे अपने को निछावर कर देता है।

यह तो सम्भव है कि हम विना कष्ट उठाए यह सिखला सकें कि ससार में कितने कीट-पतग हैं, या सूर्य के धब्बो की जाच कर सकें या उपन्यास तथा सगीत-नाटक की रचना कर सके। किंतु दूसरो को यह बताना कि उनके कल्याण का मार्ग आत्मत्याग और परोपकार मे निहित है और साथ-ही-साथ इस सिद्धात का वलपूर्वक परिपादन करना कष्ट उठाए विना असम्भव है।

ईसाई धर्म के आचार्यो मे जवतक सहन-शक्ति और कष्ट उठाने की क्षमता थी तवतक उसका अस्तित्व वना रहा, किन्तु जव वे भोग-विलास में पडकर आलसी वन गए तो उनका शिक्षण-कार्य समाप्त हो गया।

जैसा कि किसान कहते है—"पहले सोने के पुजारी और लकडी के कमडलु हुआ करते थे, किंतु अव कमडलु सोने के हो गए हैं और पुजारी लकड़ी के।"

ईसा-मसीह का सूली पर प्राण देना अकारण नही था; वलिदान-पूर्ण कष्ट-सहन सव पर विजय प्राप्त कर लेता है।

आज विज्ञान और कला को सव प्रकार की सुविधाए प्राप्त है और वे प्रामाणिक हैं, फिर भी लोगो को एकमात्र यही चिन्ता लगी रहती है कि उनके लिए और अधिक सुविधाओ की व्यवस्था की जाय, अर्थात् उन्हें ऐसा वना दिया जाय कि उनसे मानव-जाति की सेवा हो ही न सके।

सच्चे विज्ञान और सच्ची कला के दो निश्चित लक्षण होते हैं; पहला आतरिक—अर्थात् विज्ञानवेत्ता तथा कलाकार अपने कर्त्तव्य का पालन लाभ के लिए नही वरन आत्म-त्याग के लिए करते हैं, और दूसरा वाह्य—अर्थात् विज्ञान और कला के विशेषज्ञो के कार्य उन सव व्यक्तियो की समझ मे आ सकते हैं जिनकी भलाई को दृष्टि में रख कर वे किये जाते है।

मनुष्य चाहे किसी भी वस्तु को अपना पेशे और हित का प्रति-निधि क्यो न माने, विज्ञान उसकी शिक्षा अवश्य देगा और कला उस

शिक्षा को अभिव्यक्त करेगी। सोलन और कन्फ्यूसियस के आध्यात्मिक सिद्धात हो, चाहे मूसा और ईसा के धार्मिक उपदेश—वे सभी विज्ञान हैं। इसी प्रकार एथेंस के भवन हो, चाहे दाऊद के भजन और चाहे गिरजाघर की पूजा—ये सब कला हैं, किंतु पदार्थ के चौथे परिणाम का अध्ययन करना और रासायनिक योगो को क्रमवद्ध करना कभी विज्ञान नही रहा है और न होगा। हमारे युग मे सच्चे विज्ञान का स्थान धर्म-शास्त्रो ने और सच्ची कला का स्थान रीति-रिवाजो और राजकीय समारोहो ने ले लिया है। जनता को इनमे से किसी मे भी विश्वास नही है और कोई भी इन्हे गम्भीरता के साथ ग्रहण नही करता। लेकिन हमारे यहा जिसे विज्ञान और कला कहा जाता है वह आलसी विचारको और भावुको की उपज है और उसका उद्देश्य इसी प्रकार के दूसरे आलसी विचारको और भावुको पर प्रभाव डालना है। ये चीजें जनता की समझ मे नही आती और न उसके काम की ही होती, क्योंकि इनमे जनता के कल्याण की कोई भावना नही होती।

मानव-जीवन के प्रारम्भ से ही हमे सर्वत्र और सदैव एक ऐसा सिद्धात दिखाई देता है जो छलपूर्वक अपने को विज्ञान कहता है और जो जनता को जीवन का अर्थ समझाने के वजाय छिपाता है। यही वात मिस्रियो, हिन्दुओ, चीनियो और कुछ सीमा तक यूनानियो मे थी और वाद मे रहस्यवादियो, ज्ञानवादियो और तत्रवादियो मे आई। फिर यह मध्ययुग के अध्यापको और रसायनवेत्ताओ मे विद्यमान रही और इस प्रकार हमारे युग तक चली आई।

हमारे लिए तो यह विशेष सौभाग्य की वात है कि हम एक ऐसे समय मे रह रहे हैं जव अपने को विज्ञान कहनेवाली विचारधारा न केवल दोपरहित है वल्कि—जैसा कि हमे निरन्तर आश्वासन दिया जाता है—असाधारण रूप से सफल भी है। क्या इस सौभाग्य का कारण यह नही कि मनुष्य स्वय अपनी कुरूपता को न तो स्वीकार कर सकता और न करेगा? फिर ऐसा क्यो हुआ कि जव अन्य विज्ञानो, नीतिशास्त्रो आदि मे शब्दो के अतिरिक्त और कुछ नही रह गया, हम विशेष रूप से इतने सौभाग्यशाली वने रहे?

स्मरण रखिए कि सकेत बिलकुल उसी प्रकार के हैं हममे वही आत्म-सतुष्टि और अघ आश्वासन विद्यमान है कि हम और केवल हम सच्ची राह पर हैं और उसपर चलनेवाले पहले राही है, वहा आशा भरी हुई है कि हम कोई-न-कोई असाधारण बात खोज निकालेंगे, और इन सबसे अधिक हममें हमारी पोल खोलनेवाला वही लक्षण विद्यमान है अर्थात् यह कि हमारा सारा ज्ञान हममे ही केन्द्रित होकर रह जाता है जब कि जनता न उसे समझती है न स्वीकार करती है और न उसे उसकी आवश्यकता ही है। वास्तव मे हमारी स्थिति बडी करुणाजनक है। किंतु क्यो न उसका उसी रूप मे सामना किया जाय जिस रूप में वह है।

अब समय आ गया है कि हम चेते और अपने चारो ओर देखे हमारी अवस्था बिलकुल उन मुशियो और फारीसियो जैसी है जो मूसा की गद्दी पर बैठ गए हो और जिन्होनें स्वर्ग की कुजी अपने हाथ मे ले ली हो, किन्तु जो न स्वय उसमे घुसते हो और न दूसरो को घुसने देते हो। हम लोग, जो अपने को विज्ञान और कला के पुजारी मानते हैं, सबसे बडे छली हैं। हमे इस पद पर बने रहने का उतना भी अधिकार नही है जितना कि मक्कार-से-मक्कार और दुराचारी-से-दुराचारी धर्माचार्यो को होता है। हमे इस ऊची स्थिति पर बने रहने का कोई अधिकार नही है, हमने उसे कपट से प्राप्त किया है और अब हम उसे छल से कायम रख रहे हैं।

मूर्तिपूजक पुजारी और हमारे अपने तथा कैथोलिक सम्प्रदाय के धर्माचार्य चाहे कितने भी दुराचारी क्यो न हो या रहे हो, अपनी स्थिति के कारण उन्हें यह श्रेय तो प्राप्त हुआ ही कि उन्होने और कुछ नही तो कम-से-कम जनता को जीवन की शिक्षा देने और मुक्ति का मार्ग बताने का विचार तो किया। हमने उन्हे पीछे धकेल दिया है और यह सिद्ध करके कि वे धोखेबाज थे स्वय उनका स्थान ग्रहण कर लिया है, किन्तु हम जनता को जीवन का तरीका नही सिखाते बल्कि साफ-साफ शब्दो में कहते हैं कि इन सब बातों को सीखने का प्रयत्न करने से कोई लाभ नही। फिर भी हम जनता का सत निचोड लेते हैं और

वदले मे अपने वच्चो को यूनानी और लैटिन व्याकरण की उल्टी-सीधी बाते सिखाते हैं जिससे कि हमारी भाति वे भी पशु वने रहे ।

हम कहते हैं कि पहले जाति-विभाजन था, किन्तु अव नही है लेकिन ऐसा क्यो है कि कुछ व्यक्ति और उनके वच्चे तो काम करते हैं और कुछ व्यक्ति और उनके वच्चे नही करते ? किसी हिन्द को लाइए जो हमारी भापा नही जानता और उसे रूढियो मे चली आती हुई हमारी जीवन-प्रणाली का अध्ययन करने को कहिए। वह उसमे भी वही दो मुख्य, स्पष्ट जातिया देखेगा जो उसके अपने समाज में विद्यमान हैं, एक जाति जो काम करती हैं और दूसरी वह जो काम नही करती। जैसा कि उनमे है, हममे भी काम न करने का अधिकार एक विशेप प्रेरणा से मिलता है जिसे हम विज्ञान और कला और आम तौर पर 'शिक्षा' कहते हैं। आज हमारी आखो पर जिस पागलपन का परदा आया हुआ है जिसके कारण हम इतनी स्पप्ट और असदिग्ध वाते भी नही देख पातें उसका एकमात्र कारण यही शिक्षा है और इसी शिक्षा के कारण हमारी बुद्धि भ्रमित हो गई है।

हम अपने भाइयो को चूसते रहते हैं, फिर भी अपने को ईसाई, दयालु और शिक्षित मानते हैं और समझते हैं कि हम जो कुछ भी कर रहे है वह पूर्ण रूप से औचित्यपूर्ण है।

: ३८ :

तव फिर हम क्या करें ?

'तव फिर हम क्या करे ? हमे करना क्या चाहिए ?' यह प्रश्न—जिसमे यह स्वीकारोक्ति निहित है कि हमारे जीवन का ढग गलत और वुरा है और साथ ही यह सकेत भी है कि उसे वदलना असम्भव है—मैं सव तरफ से सुनता हू और यही कारण है कि मैंने अपनी पुस्तक का नाम भी यही चुना है।

इस प्रश्न के सम्बन्ध में मैंने जो कष्ट झेले हैं, जो खोज की है और जो हल निकाला है, उसीका मैंने इस पुस्तक में वर्णन किया है। मैं भी दूसरों ही जैसा एक इन्सान हूं और यदि मैं अपने आस-पास के किसी साधारण जन से किसी बात में भिन्न हूं भी तो मुख्यत: इसमें कि मैंने दुनिया के झूठे उपदेशों के प्रचार में उससे अधिक योग दिया है, मुझे सत्ताप्राप्त विचारवाले व्यक्तियों से अपेक्षाकृत अधिक प्रशंसा मिली है और इस कारण मेरा दिमाग अधिक फिर गया है और मैं दूसरों की अपेक्षा अधिक पथभ्रष्ट हो गया हूं।

और इसलिए मैं सोचता हूं कि मैंने अपने लिए जो हल निकाला है, वह उन सभी ईमानदार व्यक्तियों के लिए ठीक होगा जो स्वयं से यही प्रश्न करते हैं। सबसे पहला प्रश्न है—'हम क्या करें ?" इसका मैंने स्वयं को यह उत्तर दिया—"मुझे अपने से या दूसरों से झूठ नहीं बोलना चाहिए और न सत्य से भयभीत होना चाहिए, चाहे उनका कुछ भी परिणाम क्यों न निकले। यह बात हम सब जानते हैं कि दूसरों से झूठ बोलने का क्या अर्थ है। फिर भी हम सुबह से शाम तक लगातार झूठ बोलते रहते हैं। 'घर पर नहीं हैं', जब कि हम घर पर होते हैं; 'बहुत खुशी हुई', जब कि हमें बिलकुल खुशी नहीं होती, 'आदर सहित', जब कि हममें आदर की कोई भावना नहीं होती, 'मेरे पास पैसा नहीं है', जब कि हमारे पास खूब पैसा होता है, आदि-आदि। हम यह तो जानते हैं कि दूसरे व्यक्तियों से झूठ बोलना—विशेषकर कुछ विशेष बातों में—बुरा होता है, किंतु स्वयं से झूठ बोलने में हमें जरा भी डर नहीं लगता। हम यह सोचने की चेष्टा ही नहीं करते कि दूसरों से बोले गए सबसे बुरे, निकृष्ट और छलपूर्ण झूठ का भी परिणाम उस झूठ की तुलना में कुछ नहीं होता जो हम स्वयं से बोलते हैं और जिसके आधार पर हम अपने सारे जीवन की रूपरेखा बनाते हैं। इसलिए यदि हम इस प्रश्न का उत्तर देना चाहते हैं कि हम क्या करें तो हमें स्वयं अपने से इस प्रकार झूठ बोलने का अपराधी नहीं होना चाहिए।

किंतु जब हमारे सारे काम, हमारा सारा जीवन झूठ पर आधारित है और हम बड़ी सावधानी के साथ इस असत्य को दूसरों के सामने

और स्वय अपने सामने भी सत्य कहकर रखते हैं तो फिर हमारे लिए इस प्रश्न का उत्तर देना कैसे सम्भव हो सकता है ? झूठ न बोलने का मतलब है सत्य से न डरना; बुद्धि और अन्तरात्मा के निष्कर्षों को स्वयं से छिपाने के लिए बहाने न खोजना और जब दूसरे इस प्रकार के बहाने बनाएं तो उन्हे स्वीकार न करना; अपने चारों ओर के व्यक्तियों से मतभेद रखने में भयभीत न होना; इस बात मे न घबराना कि हमारी बुद्धि और अन्तरात्मा जो कुछ कहती हैं उसे माननेवाला कोई दूसरा नही; इस बात से भी न डरना कि सत्य हमे किस स्थिति पर पहुंचा देगा। हमें यह दृढ विश्वास रखना चाहिए कि सत्य और अन्तरात्मा की पुकार चाहे हमे किधर भी क्यो न ले जाय वह झूठ पर आधारित जीवन से बुरा नही हो सकता। ऊची स्थितिवाले हम जैसे विचारको के लिए झूठ न बोलने का अर्थ है अपने लेखे-जोखे से भय न खाना। शायद हम पहले से ही दूसरों के इतने ऋणी हैं कि उनसे उऋण नही हो सकते, फिर भी अपनी स्थिति को न जानने मे तथ्यों का सामना करना अधिक अच्छा है। असत्य मार्ग पर हम चाहे कितने भी दूर क्यों न जा चुके हों, वहां से लौट पडना उसपर चलते रहने की अपेक्षा बेहतर है। दूसरो मे झूठ बोलने मे हानि ही होती है। सारी उलझने झूठ की अपेक्षा सत्य से ही अधिक प्रत्यक्ष रूप से और अधिक शीघ्रतापूर्वक सुलझाई जा सकती हैं। दूसरो में झूठ बोलने से केवल गुत्थी उलझ जाती है और उसके हल मे बाधा पड़ जाती है, किंतु स्वयं अपने सामने किसी झूठ को सत्य कहकर उपस्थित करने से मनुष्य का समस्त जीवन ही नष्ट हो जाता है।

गलत रास्ते पर चलना आरम्भ करके भी यदि कोई व्यक्ति उसे ही ठीक समझे तो उस रास्ते पर उठाया गया उसका ही कदम उसे उसके लक्ष्य से अधिक दूर ले जाता है। यदि कोई मनुष्य बहुत समय तक झूठे रास्ते पर चलता रहता है, फिर उसे पता चलता है या बताया जाता है कि वह गलत मार्ग पर है, तब भी इस विचार मे डरकर कि वह इस मार्ग पर बहुत दूर निकल आया है यदि वह अपने को यह कह कर आश्वासन देता है कि इसी मार्ग पर चलकर वह अब भी ठीक राह

पर पहुच जायगा, तो वह कभी भी ठीक रास्ते पर नही पहुचेगा। यदि कोई मनुष्य सत्य से डरता है और उसे देखकर उसे अगीकार न कर झूठ को ही सत्य मान लेता है तो वह यह कभी नही समझ सकेगा कि उसे क्या करना चाहिए।

हम लोग, जो न केवल धनिक हैं वरन् विशेष स्थिति मे हैं और शिक्षित कहे जाते हैं, झूठे मार्ग पर इतनी दूर बढ चुके हैं कि हमारे लिए स्वय को समझ पाना और उस झूठ को स्वीकार करना जिसके बीच हम जीवन बिता रहे हैं तभी सम्भव हो सकता है जब या तो हम में दृढ निश्चय हो या हमने मार्ग के घोर कष्टो के अनुभव प्राप्त कर रखे हो।

धन्यवाद है उन कष्टो को जो मुझे झूठे मार्ग पर चलने के कारण भोगने पडे। मैंने जीवन के असत्य को देख लिया और उसे स्वीकार कर मै अपने में इतना साहस ला पाया (पहले केवल मन में ही) कि बिना परिणाम की चिन्ता किये बुद्धि और अतरात्मा के बताए मार्ग पर चल सकू। और मुझे उस साहस का पुरस्कार मिला। मेरे चारो ओर जीवन का जो जटिल, अस्त-व्यस्त, भ्रामक और अर्थहीन रूप बिखरा हुआ था वह तत्काल स्पष्ट हो गया और मेरी जो स्थिति पहले विचित्र और बोझिल थी वह अकस्मात् स्वाभाविक और सरल बन गई। इस नई स्थिति में मेरे कार्य ने अपनी ठीक दिशा निश्चित कर ली और उसका रूप वैसा ही रह गया जैसा मैंने पहले सोचा था। यह नया कार्य कही अधिक शातिदायक, सुरुचिपूर्ण और आनन्दप्रद था। वे ही चीजें, जिनसे पहले मैं भयभीत होता था, आकर्षक बन गई।

इसलिए मै सोचता हू जो मनुष्य ईमानदारी मे अपने से यह प्रश्न करता है कि मै क्या करूं और उसका उत्तर देने में स्वय से झूठ नही बोलता बल्कि बुद्धि द्वारा निर्देशित मार्ग को ग्रहण करता है, वह इस प्रश्न का उत्तर दे चुकता है। यदि वह अपने से केवल झूठ भर न बोले तो उसे मालूम हो जायगा कि उसे क्या करना चाहिए, कहा जाना चाहिए, और किस प्रकार कार्य करना चाहिए। जो एकमात्र वस्तु उसे अपना मार्ग खोज निकालने मे बाधक हो सकती है, वह है अपना और अपनी

स्थिति का झूठा तथा बहुत ऊंचा अनुमान लगाना। यही बात मेरे साथ थी और इसलिए इस प्रश्न का कि हम क्या करें मुझे पहले मेरे उत्तर से ही उद्भूत होनेवाला एक दूसरा उत्तर समझ में आया—वह यह कि सच्चे अर्थ में पश्चाताप किया जाय अर्थात् अपनी स्थिति और कार्य का हमने जो मूल्यांकन कर रखा है उसे पूरी तरह से बदल दिया जाय। अपनी स्थिति को उपयोगी और महत्वपूर्ण समझने के बजाय हमें उसकी हानि और तुच्छता स्वीकार करनी चाहिए, अपनी शिक्षा पर अहंकार करने के बजाय हमें अपने अज्ञान को स्वीकार करना चाहिए, अपनी दया और नैतिकता पर गर्व करने की बजाय हमें अपनी अनैतिकता और निर्दयता को स्वीकार करना चाहिए और अपने महत्व के बजाय अपनी नगण्यता को स्वीकार करना चाहिए।

मैं कहता हू कि अपने से झूठ न बोलने के अलावा मुझे पश्चात्ताप भी करना पडा, क्योंकि यद्यपि एक का उद्भव दूसरे से होता है तथापि अपनी उच्चता की झूठी छाप मेरे मन पर इतनी गहरी बैठ गई थी कि सच्चे हृदय से पश्चात्ताप किये बिना और अपने झूठे अहंभाव को दूर किये बिना मैं अपने द्वारा बोले जाने वाले झूठ का अधिकांश नहीं देख पाया। पश्चात्ताप करने के बाद ही, अर्थात् यह समझना बन्द करने पर कि मैं एक विशिष्ट व्यक्ति हू और अपने को दूसरों-जैसा समझने पर ही मैं अपने जीवन के मार्ग को साफ-साफ देख सका।

उससे पहले मैं 'क्या करें' प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका था, क्योंकि मैंने इस प्रश्न को अपने सामने बहुत ही गलत ढंग से रखा था। पश्चात्ताप करने से पहले मैंने प्रश्न पर विचार पर इस दृष्टिकोण से विचार किया था—मैंने जो शिक्षा प्राप्त की है और मुझमें जो प्रतिभा है उसको देखते हुए मुझे अपने जीवन मे क्या कार्य करना चाहिए ? अपनी इस शिक्षा और प्रतिभा द्वारा मैंने किसानों से जो कुछ लिया है और अब भी ले रहा हू उसका मैं किस प्रकार बदला चुका सकता हू ?—प्रश्न को इस रूप में रखना गलत था, क्योंकि इसमें यह झूठी भावना निहित थी कि मैं अन्य व्यक्तियों के समान न होकर एक

विशिष्ट व्यक्ति हूं और इसलिए मेरा यह कर्त्तव्य है कि मैं अपने चालीस वर्षो के अभ्यास से प्राप्त प्रतिभा और शिक्षा द्वारा जनता की सेवा करूं । मैंने अपने से प्रश्न तो किया, किंतु अपनी रुचि के अनुसार अपने कार्य का पहले से ही निश्चय करके मैंने इस प्रश्न का अग्रिम उत्तर भी दे दिया । वास्तव में मैंने अपने से पूछा—"मेरे-जैसा विलक्षण लेखक, जिसने इतना ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो इतने गुणो से सम्पन्न है, यह अपने इन गुणो और इस ज्ञान का मानव-जाति की सेवा मे किस प्रकार उपयोग करे ?" यह प्रश्न मुझे अपने सामने उसी प्रकार उपस्थित करना चाहिए था जिस प्रकार समस्त धर्म-ग्रन्थो मे पारगत और विज्ञान की सारी जटिलताओ का ज्ञान रखनेवाले एक शिक्षित यहूदी धर्माचार्य के सामने उपस्थित होता है । यहूदी धर्माधिकारी और मेरे, दोनों के लिए यह प्रश्न इस प्रकार होना चाहिए था—"मै जो अपनी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति के कारण अध्ययन के सर्वोत्तम वर्षो मे श्रम करना सीखने के बजाय, फ्रासीसी भाषा, पियानो, व्याकरण, भूगोल, न्यायशास्त्र, कविता, कहानिया, उपन्यास, दार्शनिक सिद्धात और सैनिक विद्या सीखता रहा—मैं जो अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष आत्मा को भ्रष्ट करनेवाले व्यर्थ के कार्यो में बिताता रहा—इन बीती हुई दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियो के बावजूद ऐसा क्या करू जिससे मै उन लोगो का बदला चुका सकू जो अबतक मुझे भोजन और वस्त्र प्रदान करते रहे है और जो अब भी मुझे भोजन और वस्त्र दे रहे है ?" यदि यह प्रश्न मेरे सामने उस रूप मे आया होता जिस रूप में मेरे पश्चाताप करने के बाद आया—अर्थात इस रूप मे कि मझ-जैसे सिर-फिरे आदमी को क्या करना चाहिए—तो उसका उत्तर सरल और इस प्रकार होता—सबसे पहले ईमानदारी के साथ अपना पेट पालने की कोशिश करो अर्थात दसरो पर आश्रित रहना छोड दो और जिस समय यह सीख रहे हो तथा सीख चुको उस समय अपने हाथ पैर, दिल-दिमाग और उन सारी शक्तियो से—जो तुम्हारे पास हैं और जिनसे लोग लाभ उठाना चाहते हैं—दसरो की सेवा करने के प्रत्येक अवसर को काम मे लाओ ।

और इसलिए मै कहता हू कि हमारे वर्ग के व्यक्तियो के लिए स्वय से और दूसरो से झूठ न बोलने के अतिरिक्त पश्चात्ताप करना और घमंड को दूर करना भी आवश्यक है--शिक्षा का घमड, सस्कृति का घमंड और गुणो का घमड। हमारे लिए भी स्वीकार करना आवश्यक है कि हम दूसरो के हितैषी और उनसे वढे-चढे नही हैं और न ही अपनी उपयोगी सम्पत्ति में दूसरो को भी भागीदार वनाने के लिए उत्सुक हैं। इतना ही नही, हमे यह भी मानना जरूरी है कि हम सव तरह से अपराधी, विगडे हुए और विलकुल निकम्मे आदमी हैं। हमें परोपकारी वनने की कामना न करके स्वय अपना सुधार करने और दूसरो के प्रति अपराध और अन्याय वन्द करने की आकाक्षा रखनी चाहिए।

कितने ही नेक नवयुवक, जिन्हे मेरे लेखो के नकारात्मक भाग से सहानुभूति है, मुझसे प्राय: पूछते है--"तो फिर मै क्या करू ? मुझे करना क्या चाहिए ? मैने विश्वविद्यालय आदि से उपाधि प्राप्त की है। मै अपने को उपयोगी वनाने के लिए क्या करू ?"

ये नवयुवक ऐसा पूछते तो हैं, लेकिन मन-ही-मन मे उन्होने पहले से ही यह निश्चय कर लिया है कि उन्हे जो शिक्षा मिली है वह उनके लिए अत्यत लाभदायक है और वस उसी लाभ के द्वारा वे जनता की सेवा करना चाहते हैं। यही कारण है कि वे कभी अपनी कथित शिक्षा की जाच ईमानदारी के साथ और आलोचनात्मक भाव से नही करते और न स्वय से यह पूछते कि वह अच्छी है या वुरी। यदि वे ऐसा करे तो वे अनिवार्यत. अपनी शिक्षा का विरोध करने लगेंगे और फिर से शिक्षा प्रारम्भ करने के लिए वाध्य हो जायगे। ठीक इसी वात की आवश्यकता भी है। इस प्रश्न का कि हम क्या करें व विलकुल भी निर्णय नही कर पाते, क्योकि उस प्रश्न को वे उसके सच्चे प्रकाश में देख ही नही पाते।

प्रश्न इस प्रकार रखा जाना चाहिए--"मेरे-जैसा असहाय और वेकार आदमी, जिसने दुर्भाग्यवश अपने जीवन के सर्वोत्तम वर्ष आत्मा और शरीर के लिए हानिकारक वैज्ञानिक शास्त्रो के अध्ययन में लगा

दिए है, किस प्रकार इस भूल का सुधार करे और मनुष्य की सच्ची सेवा करना सीखे ?" किंतु यह प्रश्न उनके सामने आता इस रूप मे है—"मैंने जो इतना प्रशसनीय ज्ञान प्राप्त किया है, उसके द्वारा मै किस प्रकार समाज के लिए उपयोगी बन सकता हू ?" यही कारण है कि जबतक मनुष्य अपने को धोका देना बन्द नही कर देता और पश्चात्ताप नहीं करता तबतक वह इस प्रश्न का उत्तर नही दे सकता कि उसे क्या करना चाहिए। पश्चाताप कोई भयावनी चीज नही है, ठीक वैसे ही जैसे सत्य भयावना नही है, बल्कि वह उसीके समान सुखदायक और फलप्रद है। हमें केवल सत्य को पूर्ण रूप से स्वीकार करने और पूरा-पूरा पश्चात्ताप करने की आवश्यकता है जिससे हम यह समझ सके कि किसीको न तो विशेष अधिकार और सुविधाए प्राप्त हैं और न वह उन्हें प्राप्त कर सकता, उसके सामने तो केवल कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वो का एक अनंत सागर लहराता रहता है, मनुष्य का पहला तथा निर्विवाद कर्त्तव्य यह है कि वह अपने और दूसरो के जीवन का भारवहन करने के लिए प्रकृति के साथ सघर्ष मे भाग ले।

और मनुष्य के कर्त्तव्य की यह स्वीकारोक्ति ही 'क्या करें' प्रश्न के तीसरे उत्तर का सार है।

मैंने अपने से झूठ न बोलने का प्रयत्न किया। मैंने अपने मन मे अपनी शिक्षा और योग्यता के झूठे अहकार को निकाल फेकने और पश्चाताप करने का प्रयत्न किया। किंतु 'क्या करे ?' प्रश्न को सुलझाते समय एक नई कठिनाई आ खडी हुई। काम इतने थे कि इस बात का सकेत मिलना आवश्यक था कि इनमे से कौन-सा कार्य विशेष रूप से किया जाय। इस प्रश्न का उत्तर उस बुराई के लिए सच्ची तरह पश्चात्ताप करने मे मिला जिसमे मैं रह रहा था। "क्या करे ? आखिर करें क्या ?"—प्रत्येक मनुष्य यही पूछता है और मै भी उस समय तक यही प्रश्न पूछता रहा जबतक कि अपने व्यवसाय की ऊची धारणा से प्रभावित होने के कारण मैने यह नही देख लिया कि मेरा पहला और निर्विवाद कार्य स्वय अपने लिए भोजन, वस्त्र, गरमाई और निवास-स्थान प्राप्त करना है और इसे करते हुए दूसरो की सेवा करना है,

क्योकि सृष्टि के प्रारम्भ होने से अब तक मनुष्य का यही पहला और अनिवार्य कर्तव्य रहा है।

मनुष्य अकेले इसी कार्य में जुटा रहकर पूर्ण शारीरिक और आध्यात्मिक सतुष्टि प्राप्त कर सकता है। अपनी और अपने प्रियजनो की सुख-सुविधाओ की व्यवस्था करने से मनुष्य की शारीरिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति होती है और उसका दूसरो के लिए यही करना उसकी आध्यात्मिक आवश्यकताओ को पूर्ण करता है।

मनुष्य के दूसरे सब कार्य तभी औचित्यपूर्ण हो सकते हैं जब उसकी यह प्राथमिक आवश्यकता पूर्ण हो जाय।

मनुष्य अपने लिए कोई भी व्यवसाय क्यो न चुने—चाहे वह शासक बने, चाहे अपने देशवासियो की रक्षा का काम करे, चाहे धर्म की सेवा करे, चाहे शिक्षक बने, चाहे जीवन के आनन्द में वृद्धि करने की युक्ति ढूढे, चाहे प्रकृति के नियमो की खोज करे, चाहे शाश्वत सत्य को कलाकृतियो मे अकित करे—उसका सर्वप्रथम और असदिग्ध कर्त्तव्य सदा यही होगा कि वह अपना तथा दूसरो का पोषण करने के लिए प्रकृति के साथ सघर्ष मे भाग ले। यह कर्त्तव्य हमेशा मनुष्य का पहला कर्त्तव्य रहेगा, क्योकि उसको सबमे अधिक आवश्यकता जीवन की है। इसलिए मनुष्य की रक्षा करने, उसे शिक्षित बनाने और उसके जीवन को अधिक मधुर बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्वयं जीवन की रक्षा की जाय। हमारा उस सघर्ष मे भाग न लेना और दूसरे व्यक्तियो के परिश्रम का उपभोग करना निस्सदेह मनुष्य के जीवन को नष्ट कर देता है। इसलिए एक हाथ मे मनुष्य के जीवन को नष्ट करना और दूसरे हाथ मे उसकी सेवा का प्रयत्न करना दुस्साहस और पागलपन नही तो और क्या है ?

जीविका के लिए प्रकृति के साथ सघर्ष करना सदा मनुष्य का सबसे पहला और निश्चित कर्त्तव्य रहेगा, क्योकि यह जीवन का नियम है और इसकी अवज्ञा करने पर मनुष्य को अपने भौतिक अथवा बौद्धिक जीवन के अनिवार्य विनाश के रूप मे दण्ड मिलता है। यदि कोई व्यक्ति एकान्त में रहकर प्रकृति के साथ सघर्ष से बचने की चेष्टा

करता है तो उसे तत्काल दड मिलता है अर्थात् उसका शरीर नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार यदि किसी समाज में रहता हुआ मनुष्य स्वय को कर्त्तव्य से मुक्त रखकर दूसरो से अपना काम करवाता है और उनके जीवन को क्षति पहुचाता है तो उसे तुरन्त ही उसका दड मिलता है; उसका जीवन विवेकशून्य और अनौचित्यपूर्ण हो जाता है।

अपने विगत जीवन से मै इतना बुद्धिभ्रष्ट हो गया था और हमारे समाज मे विधाता अथवा प्रकृति के प्राथमिक और निर्विवाद नियम पर इतना पर्दा पडा हुआ है कि मुझे उस नियम का पालन करना बडा विचित्र, यहा तक कि भयकर और लज्जाजनक लगा, मानो एक शाश्वत और निर्विवाद नियम की अवज्ञा नही बल्कि उसका पालन विचित्र, भयकर और लज्जाजनक हो।

पहले-पहल मुझे ऐसा लगा कि मोटे शारीरिक कार्य के लिए किसी विशेष प्रबन्ध अथवा सगठन की आवश्यकता है—एक-से विचारवाले व्यक्ति होने चाहिए, मेरे परिवारवालो की अनुमति होनी चाहिए या मुझे देहात मे जाकर रहना चाहिए। उस समय शारीरिक श्रम करने का प्रयत्न करने मे मुझे कुछ लज्जा अनुभव होती थी, क्योकि हमारे वर्ग के लोगो के लिए यह कुछ-असाधारण-सी बात थी और मेरी समझ मे नही आता था कि मै उसे किस प्रकार प्रारम्भ करू।

किंतु मुझे इतना समझने भर की आवश्यकता थी कि किसी विशेष योजना अथवा प्रबन्ध की आवश्यकता नही थी, बल्कि जीवन की जिस झूठी स्थिति मे मै रह रहा था उससे स्वाभाविक स्थिति में लौटने मात्र की आवश्यकता थी—केवल उस झूठ का परिमार्जन करने की आवश्यकता थी जिसमे मै रह रहा था। अपनी सारी कठिनाइयो को दूर करने के लिए बस इतना ही स्वीकार करना था। इस बात की बिलकुल भी आवश्यकता नही थी कि कोई प्रबन्ध किया जाय, अपने को उसके अनुकूल बनाया जाय अथवा दूसरो की स्वीकृति की प्रतीक्षा की जाय, क्योकि मै चाहे किसी भी अवस्था मे रहू, ऐसे व्यक्ति सदा मौजूद थे जो न केवल अपने लिए वरन् मेरे लिए भी भोजन, वस्त्र और गरमी का प्रबन्ध करते थे। यदि मेरे पास पर्याप्त समय और बल

होता तो मै भी ऐसा अपने लिए और उनके लिए सर्वत्र किसी भी अवस्था मे कर सकता था।

जिन कामो का मुझे अभ्यास नही था और जिनसे दूसरो को आश्चर्य-सा लगता था उनके लिए मुझे झूठी लज्जा भी अनुभव करने की आवश्यकता नही थी, क्योकि उन्हे न करने मे मैं स्वय पहले से ही झूठी नही लेकिन सच्ची शर्म महसूस कर रहा था, और जब मुझे इसकी चेतना हुई और मैं इसके व्यावहारिक निष्कर्षो पर पहु चा तो मुझे इसका पूरा-पूरा पुरस्कार भी मिल गया। मैं बुद्धि के निष्कर्षो से भयभीत नही हुआ और ये निष्कर्ष मुझे जिस दिशा मे ले गए मै उसी दिशा मे गया।

इस व्यावहारिक निष्कर्ष पर पहु चने पर मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वे सारे प्रश्न जो मुझे कितने कठिन और उलझे हुए दिखाई देते थे कितनी सरलता और आराम मे स्वयमेव सुलझ गए।

'मै क्या करू' ?—इस प्रश्न के उत्तर मे मुझे जो उत्तर सबसे अधिक असदिग्ध प्रतीत हुआ वह यह था—"मुझे जिन कामो की सबसे अधिक आवश्यकता है उन्हे मै स्वय करू—अपने कमरे की सफाई करूं, अपने चूल्हे को स्वय जलाऊ, अपना पानी स्वय लाऊ, अपने कपड़ो की देख-भाल आप करू—अर्थात् वे सब काम करू जिन्हे मै स्वय कर सकता हू।" मै समझता था कि मेरा ऐसा करना नौकरो को अजीब-सा लगेगा, लेकिन यह अजीबपन केवल एक सप्ताह तक ही रहा और बाद में तो ऐसा लगने लगा कि यदि मै अपनी पुरानी आदतें फिर मे ग्रहण कर लू तो वे आदते मुझे अजीब-सी लगने लगेगी।

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या इस शारीरिक श्रम को व्यवस्थित करने की आवश्यकता है और क्या इसके लिए ग्रामवासियो का कोई सगठन बनाना चाहिए ? मैने अनुभव किया कि यह सब अनावश्यक है क्योकि यदि इस श्रम का उद्देश्य व्यक्ति की आवश्यकताओ की पूर्ति करना है न कि बेकारी मे योग देना या दूसरे व्यक्तियो की मेहनत का लाभ उठाना (जैसा कि धन कमानेवाले व्यक्ति करते हैं) तो वह उद्देश्य स्वभावत मनुष्य को नगर मे देहात की ओर खीच ले जायगा जहा

इस प्रकार का श्रम सबसे अधिक लाभदायक और सबसे अधिक सुख-कारी होता है।

श्रमिको की किसी जाति विशेष का सगठन भी अनावश्यक प्रतीत हुआ क्योकि जो व्यक्ति स्वयं परिश्रम करता है वह स्वभावत श्रम-जीवियो के विद्यमान वर्ग में सम्मिलित हो जाता है।

मेरे सामने यह भी प्रश्न था—क्या यह कार्य मेरा सारा समय नही ले लेगा और क्या इसके कारण मेरे उस मानसिक कार्य मे रुकावट नही पड़ेगी जो मुझे पसन्द है, जिसका मैं अभ्यस्त हू और जिसे मैं कभी-कभी उपयोगी भी मानता हू ? इस प्रश्न के उत्तर मे मुझे एक अत्यत अप्रत्याशित उत्तर मिला। जितना अधिक मैंने शारीरिक श्रम किया उतनी ही अधिक मेरे मानसिक श्रम की शक्ति भी बढ गई और मुझे व्यर्थ की बातो से मुक्ति मिल गई।

परिणाम यह निकला कि शारीरिक श्रम मे आठ घटे लगाने के बाद भी, अर्थात् आलस्य दूर करने के कठोर प्रयत्न मे पहले जो पूरा दिन योही बीत जाता था उसके आधे भाग तक शारीरिक श्रम करने के बाद भी मेरे पास आ घटे शेप बच जाते थे, जिनमे से मानसिक कार्य के लिए मुझे केवल पाच घटो की आवश्यकता थी।

यह भी स्पष्ट दिखाई दिया कि यद्यपि मैं एक अत्यत उर्वर लेखक था और मैंने चालीस वर्षों तक लिखने के अतिरिक्त और कोई कार्य नही किया था और लगभग ५,००० पृष्ठ लिखे थे, तथापि यदि मैं इन समस्त चालीस वर्षों मे एक किसान का साधारण कार्य करता रहा होता, तो जाड़े की सध्याओ और बेकार दिनो को न गिनते हुए भी प्रतिदिन केवल पाच घंटे अध्ययन-मनन कर और केवल अवकाश के दिनों में ही दो पृष्ठ प्रतिदिन की गति से लिखकर मैंने चौदह वर्षों में ये पाच हजार पृष्ठ लिख लिये होते। स्मरण रहे कि कभी-कभी मैंने एक दिन मे सोलह पृष्ठ भी लिखे हैं।

यह एक आश्चर्यजनक तथ्य था—गणित का एक बहुत ही सरल हिसाब—जिसे एक सात वर्ष का बच्चा भी हल कर सकता था, लेकिन जिसे मैंने पहले कभी हल करने की चेष्टा नही की थी। एक दिन मे

चौबीस घटे होते है। आठ घटे हम सोते है, इसलिए सोलह बचते है। यदि कोई बुद्धिजीवी अपने काम मे पाच घटे प्रतिदिन भी लगाए तो वह बहुत कार्य कर लेगा। ग्यारह घटे तो फिर भी शेष रह गए। आखिर इनका क्या होता है ?

मैने पाया कि शारीरिक परिश्रम ने मानसिक कार्य को असम्भव बनाने के बजाय उसे सुधारा और सहायता पहुचाई।

इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या यह शारीरिक कार्य मुझे उन अनेक निर्दोष आनन्दो से वचित नही कर देगा, जो मनुष्य के लिए स्वाभाविक है (जैसे, विभिन्न कलाओ का आनन्द लेना, ज्ञान प्राप्त करना, अन्य व्यक्तियो के सम्पर्क में आना और जीवन के अन्य साधारण सुखो को भोगना), मुझे विपरीत बात ही सही मालूम दी। मैने जितना अधिक कार्य किया और उसमे किसानो के मोटे काम से जितनी अधिक समता आई, उतना ही अधिक आनन्द और ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ, उतना ही अधिक घनिष्ठ और मधुर दूसरो से मेरा सम्पर्क रहा और उतना ही अधिक मुझे जीवन का सुख मिला।

रहा एक और प्रश्न, जो मैने अक्सर उन लोगो से सुना है जो पूरे ईमानदार नही होते—परिश्रम के जिस सागर का मै उपभोग करता हू उसमे मेरा श्रम तो एक नन्ही बूद के समान है इसलिए उससे क्या लाभ होगा ?

इसका भी मुझे एक बहुत ही आश्चर्यजनक और अप्रत्याशित उत्तर मिला। मैने अनुभव किया कि अपने जीवन मे मुझे शारीरिक श्रम का अभ्यस्त भर होने की आवश्यकता है, फिर तो मेरे अन्दर शारीरिक बेकारी के फलस्वरूप जो बुरी और खर्चीली आदते तथा आवश्यकताए पैदा हो गई है वे आप-से-आप बिना मेरी ओर से लेशमात्र प्रयत्न किये ही समाप्त हो जायगी। रात को दिन और दिन को रात बनाने की बात तो दूर रही और उस प्रकार के बिस्तर, वस्त्र तथा परम्परागत सफाई की भी बात दूर रही जो शारीरिक श्रम करते समय बिलकुल असम्भव और कष्टकर होते है, मेरी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताए तक पूरी तरह से बदल गई। पहले मुझे मिठाइया और तरह-तरह के अमीराना

तथा मसालेदार भोजन अच्छे लगते थे, किंतु अब उनकी अपेक्षा सादे से सादा भोजन—जैसे, गोभी का रसा, गेहूं का दलिया, काली रोटी और चाय—सबसे मधुर लगने लगा।

जिन सीधे-सादे किसानो के सम्पर्क में मैं आया उनके साधारण जीवन की तो बात ही अलग है क्योंकि उन्हें तो थोडे में सतुष्ट रहने की आदत थी ही, मेरी अपनी मागें मेरे परिश्रमी जीवन के अनुरूप अदृश्य रूप से बदलने लगी और जैसे-जैसे मुझमें परिश्रम की आदत पडती और बढती गई मेरा परिश्रम भी, जो पहले सागर में एक बूद के समान था, धीरे-धीरे महत्ता धारण करने लगा। जिस अनुपात से मेरा परिश्रम अधिकाधिक उत्पादनशील होता गया, उसी अनुपात से दूसरो के परिश्रम से लाभ उठाने की आवश्यकता कम होती गई और मेरा जीवन अनायास ही बिना किसी प्रयत्न अथवा कष्ट के इतना सरल हो गया कि उसकी मैं परिश्रम के नियमो का पालन किये बिना स्वप्न मे भी कल्पना नही कर सकता था। मैंने अनुभव किया कि मेरे जीवन की सबसे खर्चीली जरूरतें, झूठी शान और मनोरजन की आकाक्षाए, सब कुछ मेरे आलस्यपूर्ण जीवन का ही प्रत्यक्ष प्रमाण थी।

जब मै स्वय शारीरिक श्रम करने लगा तो झूठी शान और मनोरजन के लिए कोई गुजाइश ही नही रह गई, क्योकि काम में मेरा समय सुखपूर्वक कट जाता था और थकान आने पर आराम से चाय पीते हुए किसी पुस्तक को पढना अथवा किसी पडोसी से बातचीत करना क्लाति मिटाने के अन्य साधनो—नाटक, ताश, सगीत अथवा सभा—से, जिनमें बडा खर्च होता था, अधिक रुचिकर प्रतीत होने लगा।

एक सवाल यह था कि कही इस शारीरिक परिश्रम से, जिसका मुझे अभ्यास नही था, मेरे उस स्वास्थ्य को हानि तो नही पहुचेगी जो दूसरे व्यक्तियो के प्रति मेरे उपयोगी होने के लिए आवश्यक है ? मैंने देखा कि प्रमुख चिकित्सको के इस दृढ मत के बावजूद कि कठोर शारीरिक श्रम—विशेषकर मेरी-जैसी आयु में—स्वास्थ्य को हानि पहुचा सकता है और मेरे लिए हल्का व्यायाम, मालिश आदि ही ठीक रहेगा, मैंने जितना ही अधिक परिश्रम किया उतना ही अधिक अपने

को स्वस्थ, प्रसन्नचित्त और दया से परिपूर्ण अनुभव किया। अत मुझे इस वात मे लेशमात्र भी सदेह नही रह गया कि मनोरंजन की सभी आधुनिक युक्तियां—जैसे समाचारपत्र, नाटक, सगीत, भ्रमण, नृत्य, ताश, पत्रिकाए और उपन्यास—मनुष्य के मानसिक जीवन को, दूसरो के लिए मेहनत की स्वाभाविक अवस्था पैदा किये विना, कायम रखने के साधन-मात्र हैं। यही वात खाने, पीने, रहने, प्रकाश, गरमी, वस्त्र, दवाओ, सोडा-लेमन, मालिश, व्यायाम, विद्युत-चिकित्सा आदि के सम्वन्ध में वताई जानेवाली डाक्टरी युक्तियो के वारे में है। इन सब वातो से मैं इस निष्कर्ष पर पहुचा कि ये सब छलपूर्ण युक्तिया और कुछ नही वल्कि श्रम का अभ्यास न रह जाने पर मनुष्य को अपने शारीरिक जीवन को वहन करने मे समर्थ वनाने के साधन-मात्र है। यह तो कुछ ऐसी ही वात है जैसे किसी पूरी तरह से वन्द कमरे में पौधो को वायु प्रदान करने के लिए रासायनिक प्रक्रिया द्वारा पानी का भाप वनाया जाय, जवकि वास्तव मे यह काम केवल खिडकी खोल देने से ही हो सकता है। दूसरे शब्दो मे आवश्यकता केवल इस वात की है कि भोजन करने से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसे शारीरिक श्रम द्वारा उपयोग मे लाया जाय—ऐसा करना केवल मनुष्य ही नही वल्कि पशुओ के लिए भी स्वाभाविक है।

हमारे वर्ग के लिए चिकित्सा और स्वास्थ्य की ये उलझनें वैसी ही है जैसे कोई मिस्त्री पहले तो किसी वायलर को गरम करे और उसके समस्त द्वारो को कसकर वन्द कर दे और फिर उसे फटने न देने के लिए उपाय खोजता फिरे।

और स्पष्ट हो जाने पर मुझे यह सव वड़ा हास्यास्पद प्रतीत हुआ। अनेकानेक सन्देह, खोज और विचार के वाद मै इस असाधारण सत्य पर पहुंचा हूं कि मनुष्य को आखे देखने के लिए, कान सुनने के लिए, टागे चलने के लिए और हाथ तथा पीठ काम करने के लिए मिले है और यदि वह इसका स्वाभाविक उपयोग नही करेगा तो इससे उसे हानि ही होगी।

मै इस निष्कर्ष पर पहुचा कि हम-जैसे ऊचे वर्ग के व्यक्तियो के साथ वैसा ही होता है जैसा मेरे एक परिचित के घोडो के साथ हुआ था।

उनके सईस को घोडो की रत्ती भर भी परवाह नही थी और वह घोडो की वावत कुछ समझता भी नही था। एक वार जव उसके मालिक ने उसे सर्वोत्तम घोडो को वाजार ले जाने का आदेश दिया तो उसने उनमें से कुछ को चुनकर दूकानो में ले जाकर खडा कर दिया। उसने उन्हे जी खिलाए और पानी पिलाया और उन वहुमूल्य घोडो की विशेष रूप से सावधानी रखने के उद्देश्य से उसने उनपर किसी को सवारी नही करने दी और न ही उन्हे कही वाहर ले जाने अथवा अभ्यास करने की अनुमति दी। फल यह हुआ कि सव घोडो की टागे खराव हो गई और वे वेकार हो गए।

यही वात हमारे साथ हुई है। अतर केवल इतना है कि घोडो को किसी प्रकार का धोखा नही दिया जा सकता और उन्हे भागने न देने के लिए वांध कर रखना पडता है। हम भी लोभ के पाश मे फंसाए और वाधे जाकर इसी प्रकार की अस्वाभाविक और विनाशकारी अवस्थाओ में रखे जाते है। हमने अपने लिए एक ऐसे जीवन की व्यवस्था की है जो मनुष्य के नैतिक और शारीरिक दोनो प्रकार के स्वभाव के विपरीत है और हम अपनी सारी मानसिक शक्ति लगाकर मनुष्यो को यह समझाने की चेष्टा करते है कि जीवन ऐसा ही होना चाहिए। जिसे हम सस्कृति, विज्ञान, कला तथा जीवन की सुख-सुविधाओ का परिष्कार कहते है, वह मनुष्य की नैतिक और स्वाभाविक मागो को धोखा देने का प्रयत्न है, हम जिसे स्वास्थ्य और चिकित्सा कहते है वह मानवीय स्वभाव की प्राकृतिक शारीरिक मागो को छलने का प्रयत्न है। किंतु इन प्रवचनाओ की भी सीमा है और हम प्राय उस सीमा तक पहुच गए है।

शॉपेनहावर और हार्टमैन की प्रचलित और अत्यत सुरुचिपूर्ण विचारधारा तो यह है कि यदि मनुष्य का सच्चा जीवन ऐसा ही है जैसा कि वह आजकल दिखाई देता है, तव तो इससे अच्छा यह है कि हम विलकुल जियें ही नही। ऊचे वर्गो में आत्मघातो की वढती हुई संख्या भी यही कहती है कि यदि यही जीवन है तो इससे तो न जीना अच्छा। डाक्टरी ज्ञान, विज्ञान और नारी की जनन-शक्ति को

नष्ट करने के आविष्कार भी यही कहते हैं—"यदि यही जीवन है, तो अच्छा है कि आनेवाली सतति जन्म ही न ले।"

बाइविल में कहा गया है कि परिश्रम से थक जाने पर रोटी खाना और दु ख में बच्चे पैदा करना मानवीय नियम है।

बोदारेफ नामक एक किसान ने, जिसने इस सम्बन्ध मे एक लेख लिखा था, मेरे सामने इस कहावत की बुद्धिमता को स्पष्ट कर दिया। [मेरे जीवन में दो रूसी विचारको ने मुझपर बड़ा गहरा नैतिक प्रभाव डाला है, उन्होने मेरे विचारो को परिपुष्ट किया है और जीवन के प्रति मेरे दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। ये दोनो व्यक्ति न कवि थे, न विद्वान् और न शिक्षक। वे दो अद्भुत व्यक्ति थे, जो अब भी जीवित है। दोनो किसान हैं एक सुतायफ और दूसरा बोदारेफ।]

मोलियर के एक नाटक के एक पात्र ने चिकित्सा-सम्बन्धी विपयो मे भूल करते हुए एक स्थान पर कहा है कि यकृति बाईं ओर है। ...इसी प्रकार कहा जाता है कि मनुष्य को अपने भोजन के लिए कार्य करना आवश्यक नही है, मशीने ही सब काम करेंगी। कहा तो यहा तक जाता है कि महिलाओ को भी बच्चे पैदा करने की आवश्यकता नही है, विज्ञान हमे बहुत-से उपाय सिखा देगा। इस प्रकार की बाते सोचनेवाले व्यक्तियो की सख्या भी बहुत अधिक है।

क्रापीवेस्की जिले * मे एक फटाहाल किसान है, जो इधर-उधर घूमता रहता है। युद्ध के दिनो में एक सैनिक अधिकारी ने उसे अन्न की खरीद के काम के लिए भरती किया। अधिकारी के निकट सम्पर्क में रहने के कारण ऐसा मालूम होता है कि उस किसान के दिमाग में यह फितूर बैठ गया कि उच्च वर्ग के लोगो की तरह उसे भी काम करने की आवश्यकता नही है, उसे तो अपने जीवन-निर्वाह के लिए सम्राट से वेतन मिलता ही रहेगा। अब वह अपने को 'सब प्रकार की सैनिक सामग्री का ठेकेदार, महामान्य सैनिक राजकुमार ब्लोखिन'

---

* यह वही जिला है जिसमे टॉलस्टॉय का निवास-स्थान यासनाया पालियाना स्थित है।

कहता है। वह कहता है कि उसने सैनिक सेवा की मारी अवस्थाए पार कर ली है और चूकि उसकी सैनिक सेवाए पूर्ण हो चुकी है इसलिए अब उसे सम्राट से 'नकदी, वस्त्र, वर्दी, घोडे, गाडी, चाय, मोटर, नौकर और सब वस्तुए प्राप्त होनी चाहिए। उससे जब पूछा जाता है कि क्या कुछ काम करोगे तो वह इस प्रश्न के उत्तर मे सदा गर्व के साथ कहता है—"बहुत-बहुत धन्यवाद! यह सब काम किसान कर लेंगे।"

यदि कोई उससे यह कहे कि सम्भव है कि किसान भी काम करना न चाहे तो वह उत्तर देता है—"किसानो के लिए परिश्रम करने में कोई कठिनाई नही होती। अब किसानो की सुविधा के लिए मशीनें ईजाद कर दी गई है। उनके लिए मेहनत करना अधिक कष्टदायक नही है।" जब कोई उससे पूछता है कि तुम किसलिए हो, तो वह उत्तर देता है—"समय काटने के लिए।"

मै इस आदमी को सदा एक दर्पण के रूप में देखता हूं। उसमे मैं स्वय का और अपने समस्त वर्ग का प्रतिविम्ब देखता हूं।

अपने जीवन का अन्तिम ध्येय यह बनाना कि हम किसी तरह ऐसे पद पर पहुच जाय जिससे अपना समय सुखपूर्वक काट सकें या धन कमाने को अपना लक्ष्य मानना और यह सोचना कि सारा श्रम तो किसान को करना चाहिए क्योंकि मशीनों की ईजाद से अब उसके लिए श्रम करना कष्टकर नही रह गया है—ये सब बातें हमारे वर्ग की विवेकशून्य विचारधारा का परिचय देती है।

जब हम पूछते है "तब हम क्या करें ?" तो वास्तव में हम कुछ पूछते नही बल्कि केवल यह स्वीकार करते है कि हम कुछ करना नही चाहते, यद्यपि हमारी यह स्वीकारोक्ति उतनी स्पष्ट नही जितनी उस 'महामान्य सैनिक राजकुमार ब्लोखिन' की है, जिसकी बुद्धि पूरी तरह से भ्रष्ट हो चुकी है।

जो समझ से काम लेता है वह ऐसे प्रश्न नही कर सकता, क्योंकि एक ओर वह जिस वस्तु का प्रयोग करता है, वह बनाई गई है और मनुष्य के हाथो से बनाई गई है और दूसरी ओर सचाई यह

है कि एक स्वस्थ मनुष्य जागने और कुछ भोजन करने के तत्काल बाद ही अपने हाथ पैर और दिमाग से काम करने की आवश्यकता अनुभव करता ह। जो आदमी काम ढूढना और करना चाहता है उसके लिए काम की कमी नही, आवश्यकता केवल इतनी है कि वह अपने को रोके नही। केवल वे लोग जो काम करने मे शर्म महसूस करते है—उस महिला की भाति जो अपने अतिथियो से कहती है कि द्वार खोलने का कष्ट न कीजिए, ठहरिए मै अभी नौकर को बुलाती हू—केवल वे ही अपने से यह प्रश्न कर सकते है—"हम क्या करे ?"

आवश्यकता काम ईजाद करने की नही है—आखिर हम वह सारा काम कर भी तो नही सकते! जिसकी हमे और दूसरे व्यक्तियो को जरूरत है! आवश्यकता इस बात की है कि हम जीवन के इस दूपित दृष्टिकोण से छुटकारा पा जाय कि हम अपने सुख के लिए खाते और सोते है। साथ-ही-साथ आवश्यकता इस बात की है कि जीवन का वह सरल तथा सच्चा दृष्टिकोण अपनाया जाय जिसे किसान विकसित करते और कायम रखते है, अर्थात् यह कि मनुष्य मुख्यत एक मशीन है जिसे चलाने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है और इसलिए काम न करना और केवल खाते जाना लज्जाजनक, कष्टदायक और असम्भव है। खाना और काम न करना एक बडी ही भयकर बात है, जिसकी अग्निकाड से तुलना की जा सकती है। यदि मनुष्य मे केवल इतनी चेतना हो तो उसके पास काम की कभी कमी नही रहेगी और वह काम न केवल सुखदायक बल्कि उसके शरीर और आत्मा की मागो को सतुष्ट करनेवाला भी होगा। मेरे सामने इस समस्या का रूप इस प्रकार था—हमारा भोजन हमारे दिन को चार भागो मे बाट देता है (१) नाश्ते तक (२) नाश्ते से दोपहर के भोजन तक (३) दोपहर के भोजन से सायकाल के भोजन तक (४) और सायकाल। मनुष्य का कार्य भी चार भागो मे विभाजित किया जाता है—(१) मास-पेशियो का कार्य; अर्थात् हाथ, पैर, कधो और पीठ का कार्य जो गाढे पसीने का कार्य होता है (२) उगलियो और कलाइयो का कार्य अर्थात् शिल्प का कार्य (३) मस्तिष्क और विचार का कार्य और (४) सामाजिक

कार्य। हमें जो लाभ मिलते हैं उन्हे भी चार श्रेणियो में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, मोटे शारीरिक श्रम का प्रतिफल–जैसे अन्न, पशु, इमारत कुए आदि, दूसरे, शिल्प का प्रतिफल—जैसे कपडे, जूते, बर्तन आदि; तीसरे, मानसिक कार्य के प्रतिफल–जैसे विज्ञान और कला, तथा चौथे, अन्य व्यक्तियो के साथ सम्पर्क, परिचय आदि। मुझे ऐसा लगा कि सबसे अच्छी बात यह होगी कि दिनचर्या मे इस प्रकार उलट-फेर किया जाय कि मनुष्य की चारो क्षमताए कार्य में लाई जा सके और हम जिन चारो प्रकार के प्रतिफलो से लाभ उठाते है उनका इस प्रकार पुन निर्माण किया जाय कि हमारे दिन के चारो भाग चारो प्रकार के कामो मे लगे रहे—जैसे, पहले में शारीरिक श्रम, दूसरे मे मानसिक श्रम, तीसरे मे शिल्प-कार्य और चौथे में साथियो से मिलना-जुलना।

यदि हम अपने कार्यो की इस प्रकार व्यवस्था करले तब तो बहुत ही अच्छा हो, किंतु यदि ऐसा सम्भव न हो तो सबसे बडी आवश्यकता इस बात की है कि हम कार्य के प्रति चेतना का भाव बनाए रखे—अर्थात् समय के प्रत्येक भाग का लाभपूर्वक उपयोग करे।

मुझे ऐसा लगा कि ऐसी व्यवस्था होने पर ही समाज से श्रम का झूठा विभाजन मिट सकेगा और उस उचित विभाजन की स्थापना हो सकेगी जो मनुष्य के आनन्द-भोग मे बाधक सिद्ध नही होगा।

उदाहरण के लिए मैंने अपने को जीवन भर मानसिक कार्य मे ही लगाए रखा है। मै सोचता था कि मैंने श्रम का विभाजन कुछ इस प्रकार कर लिया है कि लिखना अर्थात् मानसिक श्रम मेरा विशेष व्यवसाय बन गया है। दूसरे आवश्यक कार्य मै दूसरो को करने के लिए छोड देता था, या यो कहिए कि जबर्दस्ती उनसे करवाता था। यह प्रबन्ध, जो स्पष्ट रूप से मानसिक श्रम के लिए सबसे अधिक लाभकारी था, अन्त मे मानसिक श्रम के लिए हानिकारक निकला। वह अन्याययुक्त तो था ही।

जीवन भर मैंने लिखने का ही काम किया और अपने भोजन-निद्रा तथा मनोरजन की व्यवस्था अपने इसी विशेष कार्य के घटो के अनुसार की। इसके अतिरिक्त मैंने कुछ नही किया।

फल यह हुआ कि मैंने अपने निरीक्षण और ज्ञान का क्षेत्र बहुत सकुचित बना लिया। प्राय ऐसा होता कि मुझे अध्ययन के लिए कोई विषय ही न मिलता और बहुधा जब मै व्यक्तियो के जीवन का वर्णन करने बैठता तो मुझे अपने इस अज्ञान का आभास होता और मुझे बहुत-सी ऐसी बाते सीखनी और पूछनी पड़ती जिनके बारे में प्रत्येक व्यक्ति, जो किसी विशेष कार्य मे नही लगा हुआ है, जानता है। दूसरे मैंने देखा कि जब कभी मै लिखने बैठता हू तो कोई आतरिक प्रेरणा मुझे ऐसा करने के लिए विवश नही करती। इसके अतिरिक्त किसीने भी मुझसे यह माग नही की कि मै लिखने के लिए लिखू। अर्थात् किसीको मेरे विचारो की आवश्यकता नही थी; लोग तो केवल आर्थिक लाभ के लिए पत्रो मे मेरा नाम देना चाहते थे। ऐसे समय मे मै अपने से जो कुछ भी निचोड सकता था निचोडने का प्रयत्न करता था। कभी मै कुछ नही दे पाता था, कभी केवल निकृष्ट साहित्य ही दे पाता था और असतुष्ट तथा बुझा-बुझा-सा रहता था। इसलिए दिन और हफ्ते निकल जाते और मै कुछ न लिख पाता; लिखता भी तो ऐसी चीजे जिनकी किसी को आवश्यकता नही थी। मै केवल खाता, पीता, सोता और अपने को गरम रखता। दूसरे शब्दो मे यो कहिए कि मैंने ऐसा स्पष्ट और भद्दा अपराध किया जिसे मजदूर-वर्ग के किसी व्यक्ति ने कदाचित ही कभी किया हो। लेकिन जब मैंने शारीरिक कार्य—साधारण और कलात्मक दोनो—की आवश्यकता अनुभव की तो बात कुछ और ही हो गई; मेरा सारा समय व्यस्त रहने लगा, जो नगण्य होते हुए भी मेरे लिए निश्चित रूप से उपयोगी, सुखदायक और शिक्षाप्रद था। अब मै अपने को इस असदिग्ध रूप से उपयोगी तथा सुखदायक कार्य से तभी विलग करता और लिखने के अपने विशेष कार्य को तभी अपनाता जब मुझे उसकी आतरिक आवश्यकता अनुभव होती और जब मै देखता कि एक लेखक के रूप में मेरे कार्य के लिए प्रत्यक्ष रूप मे माग की गई है। इससे मेरे विशिष्ट कार्य—लेखन—का ओज बढ गया और उससे स्वभावत उसके मूल्य तथा सुख-प्रदान करने की शक्ति मे भी वृद्धि हुई।

अत परिणाम यह निकला कि मेरे शारीरिक श्रम में लगे रहने से—जो मेरे लिए भी उतना ही आवश्यक था जितना और लोगो के लिए—मेरे मानसिक कार्य में न केवल बाधा ही नही पहुची बल्कि उसकी उपयोगिता, गुण और मधुरता के लिए वह एक आवश्यक शक्ति सिद्ध हुआ।

पक्षी की बनावट कुछ इस प्रकार की होती है कि उसके लिए उडना, चलना, चुगना और विचार करना आवश्यक होता है और जब वह ये सब कार्य करता है तो उसे सतुष्टि और प्रसन्नता होती है। एक शब्द मे, तब वह वास्तव मे पक्षी बन जाता है। ठीक ऐसी ही बात आदमी के साथ है। जब वह चलता है, फिरता है, वस्तुओ को उठाता है, घसीटता है, अपनी उगली, आख, कान, जीभ और दिमाग से काम करता है—तब और केवल तब वह सतोष प्राप्त करता है और वास्तविक मनुष्य बनता है।

जिस व्यक्ति ने मेहनत करना अपना कर्त्तव्य समझ लिया है वह स्वभावत अपनी मेहनत का कार्यक्रम कुछ इस प्रकार से बनाएगा कि उससे उसकी आतरिक तथा बाह्य आवश्यकताए स्वाभाविक रूप से पूरी हो जाय। इस क्रम को वह तब तक नही बदलेगा जब तक किसी अन्य विशेष कार्य के लिए उसके अन्तर मे एक दुर्दमनीय उत्कठा न जाग्रत हो और जब तक दूसरे लोग भी उससे ऐसा कार्य करने की माग न करे।

श्रम की विशेषता ही यह है कि मनुष्य को अपनी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए इतने भिन्न प्रकार के कार्य करने पडते है कि उससे श्रम बोझिल न रहकर मधुर बन जाता है। परिश्रम को अभिशाप मानने की झूठी धारणा ही एक ऐसी वस्तु है जो मनुष्य मे कार्य से मुक्त रहने की भावना उत्पन्न कर सकती है और जिसके फल-स्वरूप अन्य व्यक्तियो को विशिष्ट कार्यों मे व्यस्त होने के लिए बाध्य होना पडता है। इसीको हम 'श्रम-विभाजन' कहते है।

कार्य-व्यवस्था की इस मिथ्या धारणा के हम इतने अभ्यस्त हो गए है कि हमें सचमुच यही उचित प्रतीत होता है कि मोची, मिस्त्री, लेखक अथवा गायक को साधारण मनुष्योचित श्रम से मुक्त रखा जाय।

जहा जबरदस्ती दूसरो के श्रम से लाभ उठाने की प्रेरणा नही होती और जहा बेकारी को सुखकर समझने की मिथ्या धारणा नहीं होती वहा कोई भी व्यक्ति यह नहीं चाहता कि वह अपने मनपसन्द कार्य को करने के लिए अपने को उस शारीरिक श्रम से मुक्त कर ले जो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक है। इसका कारण यह है कि विशिष्ट कार्य करना कोई लाभ की बात नही है बल्कि उसे न करने मे एक त्याग है जो मनुष्य को अपने विशेष झुकाव तथा अपने साथियो के प्रति करना पडता है।

मान लीजिए कि गाव का एक मोची खेती के अपने परम्परागत और सुखदायक काम को छोडकर पडोसियो के जूतो की मरम्मत करने या बनाने का काम अपना लेता है। वह अपने को इस अत्यन्त सुखप्रद और उपयोगी कृषि-कार्य से इसीलिए वचित करता है कि उसे जूता सीना पसन्द है और वह जानता है कि इस कार्य को उसकी-जैसी कुशलता के साथ दूसरा कोई आदमी न कर सकेगा और लोग इस कार्य के लिए उसके प्रति कृतज्ञ होगे। किंतु उसकी यह इच्छा कभी नही हो सकती कि वह जीवनभर और कोई कार्य कर ही न सके और इस प्रकार कार्य के परिवर्त्तन से जो सुख मिलता है उससे वचित रहे। यही बात गाव के मुखिया, मिस्त्री, लेखक अथवा विद्वान् के साथ भी है। केवल हम-जैसे भ्रष्ट बुद्धिवाले यह समझते है कि अगर कोई मालिक अपने क्लर्क को दफ्तर से बरखास्त कर देता है और उसे किसान की भाति कार्य करने को वापस भेज देता है या यदि कोई मत्री पदच्युत और निर्वासित कर दिया जाता है तो ऐसा उसे दड देने के लिए किया जाता है और उसकी अवनति कर दी जाती है। सच तो यह है कि इससे उसे लाभ होता है, उसका विशेष कष्टकर और जटिल कार्य मधुर श्रम मे बदल जाता है।

जहा समाज अपनी स्वाभाविक अवस्था मे होता है वहा यह बात बिलकुल भिन्न होती है। मै एक ऐसे समाज * को जानता हू जहा

---

* टॉल्स्टॉय का अभिप्राय उस समाज से है जो चैकोवस्की ने १८ वी

लोग स्वय अपना अन्न पैदा करते है। उक्त समाज का एक सदस्य अन्य सदस्यो की अपेक्षा अधिक शिक्षित था और उसे व्याख्यान देने पड़ते थे, जिन्हें वह दिन मे तैयार करता और सायकाल को उगल देता। उसने यह कार्य स्वेच्छा से किया क्योंकि वह अनुभव करता था कि वह दूसरो के लिए एक उपयोगी और भला कार्य कर रहा है। किंतु वह कोरा मानसिक श्रम करते-करते ऊब गया और उसका स्वास्थ्य भी बिगड गया। समाज के सदस्यो को उसपर दया आई और उन्होंने उसे खेतो मे कार्य करने के लिए बुला लिया।

जो लोग श्रम को जीवन का सार और आनन्द मानते है उनके जीवन का आधार सदा वह सघर्ष ही रहेगा जो मनुष्य प्रकृति के साथ करता है—जैसे कृषि-कार्य, कला-कौशल, मानसिक कार्य और व्यक्तियो के बीच पारस्परिक सम्पर्क।

इस प्रकार के एक या अनेक कार्यों को छोडकर किसी कार्य मे विशेषता प्राप्त करना तभी सम्भव होगा जब वह विशेषज्ञ उस कार्य के प्रति अनुरक्ति रखते हुए और यह जानते हुए भी कि वह उस कार्य को दूसरे लोगो से अच्छा कर सकेगा, अपने लाभ की चिन्ता न करे और उन कार्यो को करे जिनकी दूसरे लोग उससे प्रत्यक्ष रूप से अपेक्षा रखते है। श्रम के बारे मे जब हम इस प्रकार का मत बनायगे और उसके फलस्वरूप जब श्रम का स्वाभाविक विभाजन होगा तभी शारीरिक श्रम का अभिशाप मिट पायगा। और तब, सारा परिश्रम आनन्द का रूप ग्रहण कर लेगा क्योकि उस समय मनुष्य या तो निर्विवाद रूप से उपयोगी और आनन्ददायक कार्य करेगा या फिर उसे इस बात का आत्म-सतोष होगा कि दूसरो की भलाई के लिए एक अधिक कठिन और असाधारण कार्य करने में वह स्वार्थ का त्याग कर रहा है।

शताब्दी मे कन्सास राज्य में स्थापित किया था। जिस व्यक्ति की उसमें चर्चा आई है उसका नाम हीन्स था। उसने अपना नाम बदलकर विलियम फ्रे रख लिया था और टॉलस्टॉय से यासनाया पोलियाना मे मिला था।

"लेकिन श्रम का उपविभाजन तो और भी लाभदायक होता है," यह अक्सर कहा जाता है।

किंतु प्रश्न यह है कि वह किसके लिए अधिक लाभदायक है ?

इसके उत्तर मे कहा जाता है कि इस विभाजन से जूतो और वस्त्र का अधिक उत्पादन होता है।

"लेकिन ये जूते और कपडे किसको बनाने पडेंगे ?"

"ऐसे लोगो को जो पीढियो से पिनो की घुडियां ही बनाते आए है और जिन्होने इसके अलावा और कुछ नही किया है।"

"तो फिर यह उनके लिए लाभदाई कैसे हो सकता है ?"

यदि मुख्य उद्देश्य केवल अधिक-से-अधिक मात्रा मे कपडा और पिन तैयार करना हो तब तो यह सब ठीक है। किंतु जिस बात का मुख्य रूप से ध्यान रखना है वह है मनुष्य और उसकी भलाई मनुष्य की जीवन मे है और जीवन परिश्रम मे है। ऐसी अवस्था मे यह कैसे हो सकता है कि कष्टदायक और निम्न कोटि का कार्य लाभदायक सिद्ध हो ?

यदि जीवन का लक्ष्य समस्त समुदाय की चिन्ता न करते हुए कुछ विशेष व्यक्तियो को ही लाभ पहुचाना हो तब तो सबसे फायदे की बात यह हो कि कुछ लोग दूसरे लोगो को खा जाय। कहा जाता है कि मनुष्य का मास बडा स्वादिष्ट होता है। किंतु जिस वस्तु की कामना मैं स्वय करता हू वही समस्त समुदाय के लिए भी सबसे अधिक लाभदायक होता है। अर्थात यह कि शरीर और आत्मा ही नही बल्कि अन्तरात्मा और बुद्धि का भी अधिक-से-अधिक कल्याण हो और उनकी आवश्यकताओ की अधिक-से-अधिक पूर्ति हो। मैने व्यक्तिगत रूप से अनुभव किया कि अपनी भलाई और आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मुझे केवल उस पागलपन से मुक्त होने की आवश्यकता है जिसमे मै क्रापीवेंस्की के पागल व्यक्ति की भाति पड गया था और यह समझता था कि भद्र पुरुषो को परिश्रम करने की आवश्यकता नही है, वह सब तो दूसरे व्यक्तियो को करना चाहिए। जब मुझे यह बात मालूम हुई तो मुझे विश्वास हो गया कि अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए जो कार्य

किया जाता है वह अपने को स्वभावत. विभिन्न प्रकार के कार्यो मे विभाजित कर लेता है, जिसमें से प्रत्येक का अपना आकर्पण होता है। यह कार्य न केवल बोझिल नही होता, बल्कि दूसरे प्रकार के परिश्रमो से विश्राम दिलाने मे सहायक होता है।

इस कार्य को मैंने मोटे तौर पर अपने जीवन की आवश्यकताओ के अनुसार चार भागो में विभाजित किया है और उसी आधार पर कार्य करते हुए मैं अपनी आवश्यकताओ को पूरा करने का प्रयत्न करता हू।

साराश यह कि मुझे 'हम क्या करें' प्रश्न के जो उत्तर मिले वे ये हैं—

पहले—अपने से झूठ न बोलना और अपनी बुद्धि द्वारा सकेतित सत्य मार्ग से हम चाहे कितने ही विमुख क्यो न हो, सत्य से न डरना।

दूसरे—अपने को दूसरो से अधिक पुण्यात्मा, ऊचा और सम्माननीय समझने के विचार को ठुकरा देना और अपने को अपराधी स्वीकार करना।

तीसरे—मानवता के शाश्वत, असदिग्ध नियम का पालन करना और अपने तथा दूसरे व्यक्तियो के जीवन का पोषण करने के लिए शक्तिभर प्रकृति के साथ सघर्ष करना।

: ३६ :

सारी मुसीबतों की जड़ सम्पत्ति

अपने बारे में मुझे जो कुछ कहना था, कह चुका; किंतु जिन बातो का सम्बन्ध हर व्यक्ति से है उन्हें भी कहे बिना जी नही मानता। इसके अतिरिक्त मैं जिन निष्कर्पो पर पहुचा हू उन्हे साधारण जीवन की कसौटी पर कसना चाहता हू।

मै यह बताना चाहता हू कि मुझे ऐसा क्यों लगता है कि हमारे वर्ग के अधिकाश व्यक्तियो को उसी निष्कर्ष पर पहुचना चाहिए

जिसपर मैं पहुंचा हू। मैं यह भी बताना चाहता हूं कि यदि थोड़े-से व्यक्ति भी इसी निष्कर्ष पर पहुच गए तो उसका क्या परिणाम निकलेगा।

मेरा खयाल है कि बहुत-से लोग उसी निष्कर्ष पर पहुंचेंगे जिसपर मै पहुचा हू क्योकि यदि हमारे वर्ग के,' हमारी जाति के लोग केवल अपने चारो ओर गम्भीरतापूर्वक देखने भर की चेष्टा करें तो व्यक्तिगत सुख की आकाक्षा रखनेवाले नवयुवक अपने जीवन के निरन्तर बढ़ते हुए उन कष्टो से भयभीत हो उठेगे जो उन्हे साफ तौर पर विनाश की ओर खीचे लिये जा रहे है। इसी तरह समझदार लोग अपने क्रूर और अन्यायपूर्ण जीवन से सहम जायगे और कायर लोग अपने जीवन के सकटो से काप उठेंगे।

हमारे जीवन का विषाद! हम अपने जीवन के मिथ्या आचरण में विज्ञानो और कलाओ की सहायता से चाहे कितनी भी थेगली क्यो न लगाएं, हमारा यह जीवन वर्ष-प्रति-वर्ष अधिक क्षीण, अधिक रोग-युक्त और अधिक दुखदायी होता जा रहा है। हर साल आत्महत्याओ और गर्भपातो की सख्या बढती जा रही है, हर साल इस वर्ग के लोग अधिक दुर्बल होते जा रहे हैं और हर साल हम अनुभव करते है कि हमारे जीवन का अधकार बढता जा रहा है।

स्पष्ट है कि जीवन का ऐशोआराम बढाने से या ओषधियो का सेवन करने से या कृत्रिम दातो और बालो का प्रयोग करने से या प्राणायाम और मालिश करने से मुक्ति नही मिल सकती। यह सत्य इतना स्पष्ट हो गया है कि जब समाचारपत्रो में अमीरो के लिए पाचक चूर्णो का विज्ञापन छपता है तो उसे 'गरीबो के लिए वरदान' शीर्षक से प्रकाशित किया जाता है। उनमे कहा जाता है कि गरीबो की पाचन-शक्ति अच्छी होती है, किंतु अमीरो को भोजन पचाने के लिए ऊपरी सहायता की आवश्यकता होती है जिसमे ये चूर्ण भी शामिल है।

किंतु अमीरो के पाचन-विकार का इलाज मनोरजन, ऐशोआराम या चूर्ण से नही हो सकता—यह बीमारी तो केवल जीवन में परिवर्तन करने से ही हो सकती है।

हमारे जीवन के साथ हमारी अतरात्मा का विग्रह ! मानवता के प्रति हम जो विश्वासघात करते है उसको न्यायपूर्ण सिद्ध करने का हम चाहे कितना भी प्रयत्न क्यों न करें, स्पष्ट तथ्यो के सामने हमारे सब बहाने धूल में मिल जाते है। हम देखते है कि हमारे चारो ओर लोग अत्यधिक श्रम और अभाव के कारण मर रहे है और फिर भी हम उनके द्वारा तैयार किये गए भोजन और वस्त्र का तथा उनके परिश्रम का भी केवल परिवर्त्तन की दृष्टि से उपभोग कर डालते है। इसलिए हमारे वर्ग के लोगो की अतरात्मा—यदि अतरात्मा नाम की वस्तु उनमें रह गई है तो—चैन से नही बैठ पाती। वह जीवन के उस सारे सुख-विलास को विषाक्त बना देती है, जो हमे अपने भाइयो के श्रम के फलस्वरूप प्राप्त होता है—ऐसे भाई जो हमारे लिए श्रम करते-करते मर मिटते हैं।

इस बात को हर समझदार आदमी स्वय महसूस करता है। वह उसे भूलना पसन्द करेगा; लेकिन हमारे युग में ऐसा करना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त विज्ञान और कला के सभी सर्वोत्तम अग—वे अग जिन्होने अपने उद्देश्य को भुलाया नही है—हमें लगातार हमारी निर्दयता और अनौचित्यपूर्ण स्थिति का ध्यान दिलाते रहते है। विज्ञान और कला की सार्थकता को प्रमाणित करनेवाले जितने भी पुराने और दृढ तत्त्व थे वे सब नष्ट हो गए है; 'विज्ञान विज्ञान के लिए' और 'कला कला के लिए' के नए नपुसक तर्क सरल सामान्य बुद्धि को ग्राह्य नही है।

मनुष्य की आत्मा नए बहानो की आड पाकर सतुष्ट नही हो सकती। उसे तो जीवन के परिवर्तन से ही सतोष मिल सकता है और उस अवस्था में किसी व्यक्ति के लिए अपने औचित्य को सिद्ध करने की आवश्यकता ही नही रह जायगी, क्योकि फिर ऐसी कोई वस्तु रह ही नही जायगी जिसे अपनी सार्थकता सिद्ध करने की जरूरत हो।

हमारी जीवन-प्रणाली का संकट ! हम जिनका शोषण कर रहे है उनका धैर्य एक दिन समाप्त हो सकता है। इस सरल और अत्यन्त स्पष्ट सकट को हम अपने से छिपाने का चाहे कितना भी प्रयत्न क्यो

न करे, इसका हम सब तरह की धोखेबाजी, हिंसा और टालमटोल से कितना ही निराकरण करने का प्रयत्न क्यो न करे, यह सकट प्रति दिन और प्रति घटा बढता जा रहा है। वैसे तो हमें इससे बहुत समय से खटका रहा है, किंतु अब यह सकट इतना बढ गया है कि हमें गरजते सागर मे अपने जीवन की छोटी नौका को सभालना कठिन हो रहा है। उसकी तूफानी लहरे हम तक आ पहुची है और क्रुद्ध होकर हमे निगल जाने की धमकी दे रही है। विनाश और हत्याकाड से भरी हुई मजदूरो की क्राति हमे केवल भय-भीत नही कर रही है बल्कि उसी क्राति मे से होकर हमने तीस वर्ष निकाल भी दिये है और इधर-उधर की अस्थायी युक्तियो से किसी प्रकार उसके विस्फोट को कुछ समय के लिए टालने मे सफल हो सके है। यही यूरोप की दशा है; यही हमारी दशा है। हमारे लिए तो यह और भी खतरनाक है, क्योकि हमारे पास सुरक्षा के साधन नही है। सर्वसाधारण की दृष्टि मे अब ज़ार के अतिरिक्त जनता का दमन करनेवाले किसी भी वर्ग की कोई सार्थकता नही रह गई है। जनता तो आज केवल हिंसा, मक्कारी और अवसरवादिता के बल पर ही दबाकर रखी जा रही है, किंतु उसके प्रतिनिधियो मे हमारे प्रति घृणा और तिरस्कार की भावना प्रति घटे बढती जा रही है।

पिछले तीन या चार वर्षो मे हमारे लोगो के बीच एक नए महत्त्व-पूर्ण शब्द का आम प्रयोग होने लगा है, जिसे मैंने पहले कभी नही सुना था। यह राह चलते गाली के रूप मे प्रयुक्त होता है और इसका अर्थ मुफ्तखोर होता है।

शोषित जनता मे घृणा की भावना बढती जा रही है तथा धनिक वर्गो की शारीरिक और नैतिक शक्तिया क्षीण होती जा रही है। प्रवचना के जिस पर्दे मे सब कुछ छिपा था। वह छिन्न-भिन्न हो रहा है और इस भयकर सकट के समय धनिक वर्गो के पास ऐसी कोई वस्तु नही है जिससे वे अपने को सात्वना दे सकें।

पुराने तरीको को फिर से अपनाना असम्भव है, नष्ट प्रतिष्ठा को फिर कायम करना नामुमकिन है; जो लोग अपने जीवन का ढंग नही बदलना

चाहते उनके लिए केवल एक चीज बाकी रह गई है और वह है यह आशा कि हमारे जीवन-काल में तो यही हालत रहेगी—बाद मे जो कुछ होना है होता रहे।

यह है वह कार्य जिसे धनिको का अन्धा समाज कर रहा है, लेकिन सकट बराबर बढ रहा है और विनाश की घड़ी दिन-पर-दिन पास आती जा रही है।

तीन कारण है जो धनिक वर्ग को अपने जीवन का ढग बदलने की आवश्यकता का सकेत करते है—(१) अपनी तथा अपने निकटस्थो की भलाई की आवश्यकता, जो उस रास्ते पर चलने से नही मिल सकती जिसपर कि धनिक वर्ग के लोग चल रहे है (२) अतरात्मा की पुकार का पालन करने की आवश्यकता, जो वर्तमान मार्ग पर चलते हुए एक दम असम्भव है, और (३) जीवन के प्रति निरतर बढता हुआ सकट जिसे किसी भी बाहरी युक्ति से नही टाला जा सकता। इन तीनो बातो के कारण धनिक वर्ग के लोगो को अपने जीवन का ढंग बदलने के लिए प्रेरित होना चाहिए, जिससे उनकी भलाई हो, वे अपनी अतरात्मा की आवाज पर चल सके और सकट को टाल सके।

इस प्रकार का परिवर्तन केवल एक है और वह है धोखा देना बन्द करना, पश्चाताप करना और यह स्वीकार करना कि परिश्रम अभिशाप नही बल्कि जीवन का आनन्दप्रद व्यापार है।

इसके उत्तर में लोग कहते है—किंतु जिस शारीरिक श्रम को हजारो किसान मेरे रुपयो के बदले में प्रसन्नता से करने को तैयार हो जायगे उसे यदि मै प्रतिदिन दस, आठ या पाच घटे करू तो इससे क्या लाभ होगा?

इसका एक सबसे सरल और निश्चित परिणाम यह होगा कि आप पहले से अधिक प्रसन्न, स्वस्थ, कुशल और दयालु हो जायगे और यह सीख जायगे कि वास्तविक जीवन क्या है, जिससे आप अपने को आज तक छिपाए हुए थे अथवा जो आपसे अब तक छिपा हुआ था।

दूसरे, यदि आपके पास अतरात्मा है तो उसे दूसरे व्यक्तियो को श्रम करते हुए देखकर—जिसकी कठोरता का हम अपने अज्ञानवश बढा-चढाकर अथवा कम मूल्याकन करते है—अब की भाति पीडित

नही होना पडेगा। इसके विपरीत आप हर समय इस मधुर चेतना का अनुभव करेंगे कि आप अपनी अतरात्मा की मागो को प्रतिदिन अधिकाधिक पूरा करते जाते हैं और अपने जीवन में बुराइयो का संग्रह करने की भयकर स्थिति से दूर हटते जाते है, जिसके कारण आपके लिए दूसरो की भलाई करना असम्भव होगया है। आप एक ऐसे उन्मुक्त जीवन की मधुरता का अनुभव करेंगे जिससे आप दूसरो की भलाई कर सकेंगे। आप अपने जीवन मे एक ऐसी खिडकी खोल सकेंगे जिससे हो कर नैतिक विश्व के आकाश से प्रकाश-रेखा आप तक पहुच सकेगी, जिससे अवतक आप वचित रहे है। आप जो वुराई करते है उसका आपको वदला मिलेगा; इस निरतर भय मे रहने के वजाय आप यह अनुभव करेंगे कि आप दूसरो को प्रतिशोध से बचा रहे है। सवमे वडी अनुभूति तो आपको यह होगी कि आप दलितो को घृणा और वदले की भीषण भावना से वचा रहे है।

इसके उत्तर में लोग आम तौर से कहते है—"किंतु सचमुच ही यह एक वडी हास्यास्पद वात होगी कि हम लोग—जिनके सामने गम्भीर दार्शनिक, वैज्ञानिक, राजनीतिक, कलात्मक, धार्मिक और सामाजिक समस्याए है और जो राज्यो के मन्त्री, सभासद, शिक्षाविद अध्यापक, कलाकार और सगीतज्ञ है और जिनका एक-एक क्षण वहुमूल्य है—ऐसी छोटी-छोटी वातो पर समय नष्ट करें जैसे कि अपने जूते साफ करना, अपनी कमीजे धोना, जमीन खोदना, आलू वोना, अपनी मुर्गियो, गायो आदि को दाना खिलाना आदि। ये तो ऐसे कार्य है जिन्हे हमारे लिए न केवल हमारे नौकर-चाकर और रसोइए ही वल्कि वे हजारो व्यक्ति भी हर्षपूर्वक कर देते है जो हमारे समय की कद्र करते है। किंतु हम स्वयं कपड़े क्यो पहनते है, स्वयं क्यो नहाते है, अपने वालो में अपने हाथो से कघा क्यो करते है, स्वयं शीशे मे मुह क्यो देखते है, हम क्यो चलते है, महिलाओ और अतिथियो के आने पर उन्हें कुर्सिया क्यो पकड़ाते है, दरवाजे क्यो वन्द करते और खोलते है, आदमियो को गाडियो मे क्यो वैठाते है और इमी प्रकार के सौ और ऐसे काम क्यो करते है, जिन्हे हमारे दास हमारे लिए किया करते थे और कर सकते है ?

क्योकि हम समझते है कि ऐसा ही होना चाहिए, ऐमा करना मनुष्य की मर्यादा के अनुकूल है, यही मनुष्य का कर्तव्य और धर्म है।

यही बात शारीरिक श्रम के लिए है। मनुष्य की यह मर्यादा है, उसका यह पवित्र धर्म और कर्त्तव्य है कि वह अपने हाथ-पैर से वह काम ले जिसके लिए वे उसे मिले है। जिस अन्न का मनुष्य उपभोग करता है उसकी सहायता से उसे ऐसे श्रम करने चाहिए जिनमे अन्न की पुन उत्पत्ति हो, अर्थात् मनुष्य को अपने हाथ-पैरो को निरर्थक नही रहने देना चाहिए, उन्हे केवल धो-धाकर साफ ही न रखना चाहिए और न उनसे केवल मुह मे अन्न, पान और सिगरेट रखने का काम लेना चाहिए।

शारीरिक श्रम का यह महत्त्व प्रत्येक समाज मे प्रत्येक मनुष्य के लिए है। किंतु हमारे समाज मे—जहा दुर्भाग्यवश समूचा का समूचा वर्ग प्रकृति के इस नियम की अवज्ञा करता है—शारीरिक श्रम का एक और भी महत्त्व हो गया है, वह एक ऐसा मत्र और एक ऐसा कार्य वन गया है जो मानवता को अपने ऊपर मडरानेवाले सकटो के वादलो से बचाता है। यह कहना कि शारीरिक श्रम करना शिक्षित व्यक्ति के लिए एक महत्त्वहीन कार्य है ऐसा ही है जैसे किसी मदिर का निर्माण करते समय यह पूछना कि अमुक पत्थर को अपने स्थान पर ढग से लगाने का क्या महत्त्व है।

जितने भी अधिक-से-अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य होते है वे सव अनायास ही नम्रतापूर्वक और विना किसी आडम्बर के हुआ करते है। न तो हल चलाने का कार्य और न इमारत वनाने या पशु चराने या सोचने के कार्य ही वर्दी पहनकर, दीपो की चमक-दमक मे और तोपो के गर्जन के वीच किये जा सकते है। इसके विपरीत दीपो की जगमगाहट तोपो की गडगडाहट, सगीत, वर्दी सफाई और चमक-दमक (जिन्हे हम किसी कार्य के महत्त्व का प्रतीक मानने के आदी हो गए है) यह प्रकट करते है कि उनके वीच जो कुछ भी हो रहा है वह सव महत्त्वहीन है। महान और सच्चे कार्य सदा ही सरल और विनम्र होते है।

और यही बात हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या के वारे मे है · उन भयकर विरोधाभासो का हल निकालना जिनके मध्य हम-रह रहे है।

इन विरोधाभासो को सुलझानेवाले कार्य ये विनम्र, आडम्बर-विहीन कार्य ही है अर्थात् अपना कार्य स्वयं करना और अपने लिए तथा यथासम्भव दूसरो के लिए भी शारीरिक श्रम करना। यदि हम धनिको मे अपने जीवन के दुर्भाग्य, अन्याय और सकटपूर्ण स्थिति को समझने की क्षमता है तो हमे ऐसा करना ही होगा।

यदि मै और मेरे जैसे एक-दो दर्जन दूसरे लोग शारीरिक श्रम से घृणा न कर उसे आत्मिक सतोष और सुरक्षा के लिए आवश्यक समझने लगे तो उसका क्या परिणाम होगा ? परिणाम यह होगा कि एक, दो या तीन दर्जन व्यक्ति, बिना किसीसे लडे-झगडे और बिना किसी सरकारी या क्रान्तिकारी हिसा के अपनी इस समस्या को सुलझा लेगे जो देखने मे असम्भव प्रतीत होती है किंतु जो सारी दुनिया के सामने है। इतना ही नही वे उसे ऐसे ढग से सुलझा लेंगे कि वे पहले की अपेक्षा अधिक अच्छा जीवन बिता सकेंगे, उनकी आत्मा को अधिक शाति मिलेगी और उन्हे दमन का भूत अधिक नही सताएगा। परिणाम यह होगा कि दूसरे व्यक्ति देखेंगे कि जिस अच्छाई को वे सब जगह ढूढते-फिरते थे वह उनके पास ही है और उनकी अतरात्मा तथा सांसारिक विधान के बीच जो विरोधाभास देखने में विषम मालूम देते थे वे अत्यन्त सरल और सुखद ढग से सुलझ गए है। इसीलिए उन्हे अपने आसपास के लोगो से भयभीत होने के बजाय उनके पास आना तथा उन्हे प्यार करना चाहिए।

प्रकट रूप से विषम प्रतीत होनेवाला आर्थिक और सामाजिक प्रश्न क्राईलाफ के बक्स* के समान है। वह सरलता से खुल सकता है। लेकिन वह खुले तो तब जब लोग उसे खोलने की सबमे पहली और सरल क्रिया करे, अर्थात् उसके ढक्कन को उठाए।

---

* क्राईलाफ की कहानियो में एक ऐसे बक्स की चर्चा है जिसके ताले को बहुत-से लोगो ने खोलने की चेष्टा की, किंतु खोल न सके। बात यह थी कि उस बक्स में ताला लगा ही नही था, उसके तो ढक्कन को उठाने भर की आवश्यकता थी।

तो प्रकट रूप से विगम प्रतीत होनेवाला यह प्रश्न वही पुराना है—कुछ व्यक्तियो द्वारा अन्य व्यक्तियो के श्रम का शोषण। हमारे समय में इस प्रश्न की अभिव्यक्ति सम्पत्ति के रूप में होती है। पहले लोग वल-प्रयोग से दूसरो को गुलाम वनाकर उनसे परिश्रम कराते थे। आज हम सम्पत्ति के वल पर कराते हैं।

आज सम्पत्ति ही सव बुराइयो की जड है। जो इससे सम्पन्न है वे और जो इससे वचित है वे भी वस इसीसे त्रसित है। यही उन व्यक्तियो की अंतरात्मा के क्रन्दन की जड है जो इसका दुरुपयोग करते है और यही उन दो वर्गो के वीच के सघर्ष की जड है जिनमे से एक के पास इसकी वहुलता है और दूसरे के पास इसका अभाव। इस प्रकार वुराई की जड होते हुए भी सम्पत्ति ही आज हमारे समाज की समस्त हलचलो का उद्देश्य है। यही सारी दुनिया की क्रियाओ का निर्देशन करती है।

राज्य और सरकारे सम्पत्ति के लिए षडयत्र करती और लडती है। साहूकार, व्यापारी, निर्माता और जमीदार सम्पत्ति के लिए ही कार्य करते, योजना वनाते और अपने को तथा दूसरो को कष्ट मे डालते है। अधिकारीगण और कारीगर सम्पत्ति के लिए ही सघर्ष करते, धोखा देते, दमन करते और कष्ट भोगते है। हमारे न्यायालय और हमारी पुलिस सम्पत्ति की ही रक्षा करती है। हमारी दण्ड-व्यवस्थाए, हमारे वन्दीगृह और अपराध के तथाकथित शमन के हमारे सारे साधन सम्पत्ति के कारण ही विद्यमान है।

सम्पत्ति सारी वुराइयो की जड है और इसीके वटवारे तथा रक्षा की सारी दुनिया को चिंता है।

तव सम्पत्ति क्या है?

लोग यह सोचने के आदी है कि सम्पत्ति सचमुच ही कुछ ऐसी वस्तु है जिसपर किसी व्यक्ति का अधिकार होता है। यही कारण है कि वे उसको 'सम्पत्ति' कहते है। हम अपने घर और अपने हाथ के वारे में एक ही वात कहते है—यह 'मेरा अपना' हाथ है, यह 'मेरा अपना' घर है।

किंतु वास्तव में यह एक भूल और अंधविश्वास है। हम जानते हैं—और नहीं जानते तो आसानी से जान सकते हैं—कि सम्पत्ति दूसरे व्यक्तियों के कार्य को हड़पने का साधन मात्र है। दूसरे व्यक्तियों का कार्य निश्चय ही अपना नहीं हो सकता। इसका सम्पत्ति की वैयक्तिक धारणा के साथ कोई मेल नहीं और यह धारणा एकदम ठीक तथा निश्चित है। जिस वस्तु में मनुष्य की रुचि है और जो उसकी चेतना अर्थात् उसके अपने शरीर से सम्बन्धित है उसे मनुष्य ने सदा 'मेरी अपनी' कहा है और सदा कहता भी रहेगा। मनुष्य का शरीर ही उसकी सच्ची सम्पत्ति है और जब वह किसी ऐसी वस्तु को अपनी 'सम्पत्ति' कहता है जो उसका शरीर नहीं है किंतु जिसे वह अपने शरीर की ही भांति अपनी इच्छा के अधीन रखना चाहता है, तो वह गलती करता है, भ्रम और कष्ट में पड़ता है तथा दूसरों को कष्ट देने के लिए बाध्य होता है।

मनुष्य अपनी पत्नी, अपने बच्चों, अपने नौकरों और अपनी अन्य वस्तुओं को अपना कहता है, किंतु वास्तविकता उसे सदा उसकी गलती बता देती है। इसलिए उसे या तो वह अन्धविश्वास त्यागना पड़ता है या स्वयं दुःख उठाकर दूसरों को दुःख में डालने पर विवश होना पड़ता है।

आज के युग में चूंकि रुपए का चलन हो गया है और सरकार उसका संग्रह करती है, हम नाममात्र के लिए मनुष्यों पर अपना स्वामित्व त्यागकर रुपए-पैसे पर स्वामित्व जतलाने लगे हैं अर्थात दूसरे लोगों के श्रम पर अपना अधिकार जताने लगे हैं।

किंतु पत्नी, पुत्र, नौकर या घोड़े के स्वामित्व के अधिकार की बात एक कोरी कल्पना है। वास्तविकता ने इसे छिन्न-भिन्न कर दिया है और जो इसमें अब भी विश्वास करते हैं उन्हें दुःख ही होता है, क्योंकि हमारी पत्नी अथवा हमारा पुत्र कभी हमारे शरीर की भांति हमारी इच्छा की दासता स्वीकार नहीं करेंगे और केवल हमारा शरीर ही हमारी वास्तविक सम्पत्ति रहेगा। इसी प्रकार रुपया-पैसा भी कभी हमारा अपना नहीं हो सकेगा।

वह तो केवल आत्म-प्रवंचना और कष्ट का स्रोत ही होगा, जबकि हमारी वास्तविक सम्पत्ति फिर भी हमारा शरीर ही होगा, जो सदा हमारी आज्ञा का पालन करता है और हमारी चेतना के साथ बंधा हुआ है।

केवल हम-जैसे लोग, जो अपने शरीर के अतिरिक्त दूसरी वस्तुओ को भी अपनी 'सम्पत्ति' कहने के आदी है, यह सोच सकते है कि इस-प्रकार का बेसिरपैर का अन्धविश्वास लाभदायक हो सकता है और उससे हमें कोई हानि नही पहुंचेगी। वास्तविकता पर थोडा-सा विचार करने से ही पता लग जायगा कि इस अंधविश्वास में भी अन्य अन्ध-विश्वासो की भाति भयंकर परिणाम छिपे हुए है।

एक सरलतम उदाहरण लीजिए।

मैं स्वयं को और किसी एक दूसरे व्यक्ति को भी अपनी सम्पत्ति समझता हू। मैं अपने को भोजन तैयार करने के योग्य बनाना चाहता हू। यदि मेरे मन में यह अंधविश्वास न हो कि उस दूसरे व्यक्ति पर मेरा अधिकार है तो मैं यह कार्य—और दूसरी आवश्यक कलाए भी—अपनी सम्पत्ति अर्थात् स्वय अपने शरीर को सिखाऊगा। किंतु स्थिति यह है कि यह कार्य मैं अपनी काल्पनिक सम्पत्ति को सिखाता हू। परिणाम यह होता है कि जब मेरा रसोइया मेरा कहना नही मानता या मुझे खुश करना नही चाहता, अथवा भाग जाता है तो मेरे सामने एक मात्र विकल्प यही रह जाता है कि अपनी व्यवस्था मैं आप करू। किंतु मुझे सीखने का अभ्यास तो होता नही; केवल यह अनुभूति भर होती है कि जितना समय मैंने उस रसोइए की चिंता करने में लगाया उतने मे मैं स्वय रसोई बनाना सीख जाता। यही बात इमारतो, कपडो, बर्तनो जायदाद और रुपए के बारे मे भी है। जितनी भी काल्पनिक सम्पत्तिया है वे मेरे मन में ऐसी अनुपयुक्त आकांक्षाए जागृत कर देती है जो सदा पूरी नही हो सकती और साथ-ही-साथ मेरे लिए यह सम्भावना नही रह जाती कि कभी मैं अपनी सच्ची और निर्विवाद सम्पत्ति अर्थात् अपने शरीर के उस ज्ञान, उस कुशलता, उन आदतो और उस पूर्णता की प्राप्ति कर सकता हू जो मुझे करनी चाहिए।

इसका परिणाम सदा यह होता है कि मै अपने लिए या अपनी सच्ची सम्पत्ति के लिए कोई लाभ उठाए विना ही ऐसी सम्पत्ति पर, जो मेरी नही थी और मेरी नही हो सकती थी, अपनी शक्ति और कभी-कभी सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देता हू ।

मै उन चीजो को सजाता हू जिन्हे मै अपना पुस्तकालय, अपनी चित्रशाला, अपने कमरे और वस्त्र मानता हू । मै अपनी रुचि की वस्तुए खरीदने के लिए अपना निजी धन प्राप्त करता हूं और इस मवका अत यह होता है कि मै अपनी काल्पनिक सम्पत्ति मे उलझकर—जैसे वह वास्तव मे मेरी ही हो—यह विलकुल भूल जाता हू कि मेरी निजी सम्पत्ति मे—जिसपर मै वास्तव मे परिश्रम कर सकता हू, जो मेरी सेवा कर सकती है और सदा मेरे नियत्रण मे रहेगी—तथा उस सम्पत्ति मे जिसे मै चाहे कुछ कहू लेकिन मेरी नही है और मेरी नही हो सकती और न ही मेरे परिश्रम का उद्देश्य वन सकती—क्या अन्तर है ।

शब्दों का अर्थ हमेशा स्पष्ट होता है जव तक कि हम जानबूझकर उनको झूठा अर्थ न प्रदान करे ।

तव सम्पत्ति का क्या अर्थ है ? सम्पत्ति वह है जिसपर मेरा केवल मेरा, अधिकार है, जिसका मै जव जो चाहू कर सकता हू, जिसे कोई मुझसे छीन नही सकता, जो जीवन-पर्यंत मेरी ही रहती है और जिसे मुझे उपयोग मे लाना, वढाना और सुधारना चाहिए ।

इस प्रकार की सम्पत्ति स्वय मनुष्य अपने लिए हो सकता है ।

किंतु ठीक यही अर्थ उस काल्पनिक सम्पत्ति को भी दिया जाता है जिसे प्राप्त करने के लिए संसार की समस्त भयकर बुराइयो का जन्म होता है जैसे युद्ध, फासी, न्यायालय, वन्दीगृह, विलास, पाप, हत्या और जनता का विनाश। स्मरण रहे कि यह एक असम्भव को सम्भव वनाने का प्रयत्न होता है, ऐसे पदार्थो को प्राप्त करने का प्रयत्न होता है जो हमसे वाहर है और जो हमारी अपनी कदापि नही हो सकती ।

इसलिए यदि एक दर्जन व्यक्ति आवश्यकतावश नही वल्कि यह सोच करके कि मनुष्य को श्रम करना चाहिए और वह जितना ही

श्रम करेगा उतना ही उसके लिए अच्छा होगा, हल चलाए या लकडी चीरें या जूते गाठे तो इसका क्या परिणाम होगा ? परिणाम यह होगा कि एक दर्जन व्यक्ति या अकेला एक व्यक्ति ही---अपनी वुद्धि और अपने कार्यो से अन्य व्यक्तियो को वतला देगा कि मनुष्य जिस भयकर दु ख से पीडित है वह न तो प्रारब्ध का नियम है, न ईश्वरीय इच्छा और न ही कोई ऐतिहासिक आवश्यकता है, वह तो एक कोरा अधविश्वास है--- एक ऐसा अधविश्वास जो न तो वहुत दृढ है और न भयकर ही। वह एक दुर्वल और महत्त्वहीन अन्धविश्वास है और उससे छुटकारा पाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उसपर विश्वास ही न किया जाय और उसे गदे जाले की भाति नष्ट कर दिया जाय।

जो मनुष्य अपने जीवन के सुखद नियम का पालन करने के लिए श्रम करते है अर्थात् जो श्रम के नियम का पालन करने के लिए श्रम करते है, वे अपने को निजी सम्पत्ति के अन्धविश्वास से, जो इतने दुर्भाग्यो से परिपूर्ण है, अवश्य मुक्त कर लेंगे। और तब ससार की वे समस्त संस्थाए जो मनुष्य के शरीर के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की तथा-कथित सम्पत्ति की रक्षा के लिए वनी हुई है, उनके लिए केवल अना-वश्यक ही नही वल्कि भारस्वरूप हो जायगी और यह बात सवको स्पष्ट हो जायगी कि ये सस्थाए न केवल अनिवार्य ही नही है वल्कि हानि कारक, कृत्रिम और झूठी भी है।

जो व्यक्ति श्रम को अभिशाप नही वल्कि आनन्द समझता है उसके लिए निजी शरीर के अतिरिक्त और कोई सम्पत्ति अर्थात दूसरे मनुष्य के श्रम का उपयोग करने की सत्ता न केवल व्यर्थ वल्कि कष्टदायक भी होगी।

यदि मैं अपना भोजन तैयार करना चाहता हू और यदि मुझे ऐसा करने का अभ्यास है तो किसी दूसरे व्यक्ति का मेरे लिए भोजन तैयार करना मुझे एक अभ्यस्त कार्य से वचित कर देता है और मुझे आत्म-सतोष भी प्रदान नही करता। इसके विपरीत जो व्यक्ति श्रम को ही जीवन समझता है, अपने जीवन को श्रम से परिपूर्ण कर लेता है और इसलिए जिसे अन्य व्यक्तियो के श्रम की कम-से-कम आवश्यकता है

अर्थात् जिसे अपने जीवन के आलस्यपूर्ण समय को सुख और आनन्द से भरने के लिए सम्पत्ति की कम-से-कम आवश्यकता है उसके लिए काल्पनिक सम्पत्ति बेकार है।

यदि किसी व्यक्ति का जीवन श्रम से परिपूर्ण हो तो उसे कमरो, मेज, कुर्सियो और तरह-तरह के सुन्दर वस्त्रो की आवश्यकता नही। उसे कम खर्चीले भोजन की आवश्यकता होगी और गाडियो तथा मन-बहलाव के साधन भी निरर्थक होगे।

सबसे बड़ी बात यह है कि जो आदमी श्रम को अपने जीवन का कर्त्तव्य और आनन्द समझता है वह दूसरे लोगो के श्रम से लाभ उठाकर अपने परिश्रम को कम करना पसन्द नही करेगा।

जो व्यक्ति अपने जीवन को कर्मक्षेत्र मानता है वह अपना यह लक्ष्य बना लेगा कि जितनी ही उसकी कुशलता और सामर्थ्य मे वृद्धि होगी उतना ही अधिक वह परिश्रम करेगा और इस प्रकार अपने जीवन को उत्तरोत्तर पूर्ण बनाता जायगा।

ऐसे व्यक्ति के लिए जो कर्म के परिणाम मे नही बल्कि स्वय कर्म मे विश्वास करता है और जो काल्पनिक सम्पत्ति को प्राप्त करना अर्थात् दूसरो के श्रम का शोपण करना अपना ध्येय नही मानता उसके लिए कभी श्रम के साधनो का कोई प्रश्न ही पैदा नही हो सकता।

ऐसा व्यक्ति स्वभावत सदा सबसे अधिक उत्पादन करनेवाले साधन को ही चुनेगा। फिर भी उसे सबसे कम उत्पादन करनेवाले साधन का प्रयोग करने पर भी समान रूप से ही संतोप मिलेगा। यदि उसके पास इजन से चलनेवाला हल होगा तो वह उससे खेत जोतेगा और यदि नही होगा तो घोड़े से खीचे जानेवाले हल से ही काम लेगा और यदि यह भी नही हुआ तो किसानवाला लकड़ी का हल ही काम मे लायगा। यदि यह हल भी न हुआ तो वह फावडे से ही खेत खोद लेगा। साराश यह कि प्रत्येक दशा मे वह अपने जीवन को दूसरों के लिए उपयोगी बनाने के लक्ष्य में समान रूप से सफलता प्राप्त कर लेगा और इस प्रकार उसे पूर्ण सतोष मिलेगा।

ऐसा मनुष्य वाह्य तथा आतरिक दोनो प्रकार से उस मनुष्य की अपेक्षा अधिक सुखी होगा जो सम्पत्ति-सग्रह को अपने जीवन का लक्ष्य वना देता है। वाह्य दृष्टि से ऐसे मनुष्य को कभी अभाव का सामना नही करना पडेगा, क्योकि लोग श्रम के प्रति उसकी उत्कठा को देखकर उसके कार्य को सदा अधिक-से-अधिक लाभदायक वनाने का प्रयत्न करेंगे और ऐसा करने के लिए वे उस मनुष्य के भौतिक अस्तित्व को सुरक्षित वना देंगे। यह एक ऐसा कार्य है जो लोग सम्पत्ति के पीछे भागनेवाले व्यक्तियो के लिए नही करते और यह जानी हुई वात है कि भौतिक सुरक्षा में ही मनुष्य की सम्पूर्ण आवश्यकता निहित है।

भीतरी रूप से भी ऐसा व्यक्ति सम्पत्ति के लिए लालायित रहने-वाले व्यक्ति की अपेक्षा सदा अधिक सुखी होगा, क्योकि सम्पत्ति की तृष्णा में जीवन व्यतीत करनेवाला मनुष्य अपनी मनोवाछित वस्तु कभी प्राप्त नही कर सकेगा, जवकि दूसरा व्यक्ति उसे अपनी शक्ति भर अवश्य प्राप्त कर लेगा। कमजोरी में, वृद्धावस्था मे, मरते हुए भी वह अपने हाथ में हथियार लिए पूर्ण सतोप का अनुभव करेगा और दूसरे लोगो की प्रीति तथा सहानुभूति प्राप्त कर लेगा।

अत यदि थोडे-से पागल और सनकी लोग दिन में दस घटे—इतना समय तो सभी वुद्धिजीवियो के पास फालतू रहता है—सिगरेट पीने, ताश खेलने और सर्वत्र अपनी सुस्ती साथ लिए मोटर में घूमने के वजाय हल चलाय, जूते वनाय और इसी प्रकार के कार्य करें तो इसका क्या परिणम होगा ?

परिणाम यह होगा कि ये सनकी व्यक्ति ही व्यवहार रूप से दिखला देंगे कि जिस काल्पनिक सम्पत्ति के कारण मनुष्य स्वयं दु ख भोगते और दूसरो को दु ख देते हैं वह सुख के लिए आवश्यक नही है वल्कि वाधक है और एक अन्धविश्वास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वे सिद्ध कर देंगें कि सम्पत्ति—वास्तविक सम्पत्ति—मनुष्य का अपना मस्तिष्क और अपने हाथ-पैर है तथा इस वास्तविक सम्पत्ति का प्रसन्नता के साथ लाभ उठाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने निजी शरीर से

बाहर की सम्पत्ति की उस झूठी धारणा को त्याग दे जिसके लिए हम अपने जीवन की अधिकाश शक्ति खर्च कर देते है। ये व्यक्ति यह भी दिखला देंगे कि मनुष्य काल्पनिक सम्पत्ति मे विश्वास करना तभी बद करेगा जब वह अपनी वास्तविक सम्पत्ति—अपनी सामर्थ्य, अपने शरीर—का विकास कर लेगा ताकि वह उससे सौ गुना लाभ और सुख प्राप्त कर सके जिसकी हमे कल्पना तक नही है। वह व्यक्ति इतना उपयोगी, शक्तिशाली और दयालु बन जायगा कि उसे जीवन के चाहे किसी भी क्षेत्र मे जाना पडे वह सदा अपने पावो पर खडा रहेगा, सब जगह और सबके साथ वह अपना बन्धुत्व दिखायगा और सब लोग उसके महत्त्व को समझेंगे तथा उसका सम्मान करेगे। लोग इस एक पागल को या उस जैसे अनेक पागलो को देखकर समझ जायगे कि सम्पत्ति के अन्धविश्वास ने उन्हे जिस भयंकर ग्रथि मे जकड रखा है उसे खोलने और उससे मुक्ति पाने के लिए उन्हें क्या करना चाहिए। यह एक ऐसी ग्रथि है जिसमे जकडे रहकर लोग कराहते तो रहते हैं किन्तु उससे छुटकारा पाने की युक्ति नही जानते।

लेकिन एक अकेला आदमी ऐसी भीड मे क्या कर सकता है जहा कोई उसके विचारो से सहमत ही न हो ?

जो लोग इस प्रकार का तर्क करते है उनकी बेइमानी का इससे अधिक स्पष्ट परिचय और क्या हो सकता है ? बहुत-से मल्लाह मिल-कर एक नौका को धारा के विपरीत खीच ले जाते है। क्या उनमे से कोई मल्लाह इतना मूर्ख भी हो सकता है कि अपनी रस्सी को यह कहकर पकडने से इन्कार करदे कि अकेले उसमे नौका को धारा के विपरीत खीच ले जाने की पर्याप्त शक्ति नही है। जो मनुष्य यह अनुभव करता है कि उसके पशु-जीवन के अधिकार—अर्थात् खाने और सोने—के अतिरिक्त कुछ मानवीय कर्त्तव्य भी है, वह अपने कर्त्तव्य को खूब अच्छी तरह समझता है, ठीक उसी प्रकार जैसे मल्लाह अपने कर्त्तव्य को जानता है। मल्लाह अच्छी तरह जानता है कि उसे नौका को धारा के विपरीत खीचने के लिए, केवल अपनी शक्ति लगानी है। वह किसी और काम को करने की चिंता तभी करेगा जब उसके हाथ मे रस्सी

नही होगी। और जो बात मल्लाहो के साथ है वही बात समान कार्य में लगे हुए सब व्यक्तियो के साथ है, प्रत्येक व्यक्ति को इस बात का ध्यान रखना है कि रस्सी छूटने न पाए बल्कि मालिक ने जो दिशा बताई है उसी ओर रस्सी खीची जाती रहे। दिशा सदा एक ही रहे इसके लिए हमें बुद्धि प्रदान की गई है।

यह दिशा समस्त मनुष्यो के जीवन और अतरात्मा में और उनकी बुद्धिमत्ता की सभी अभिव्यक्तियो मे इतनी स्पष्ट और असदिग्ध रूप से लक्षित कर दी गई है कि केवल वे ही व्यक्ति जो श्रम करना नही चाहते यह कह सकते है कि उन्हें यह दिशा दिखाई नही पडती।

अत इसका परिणाम क्या होगा?

यही कि एक दो आदमी नाव को खीचकर ले चलेगे और उन्हें देखकर एक-के-बाद एक दूसरे लोग भी योग देने लगेंगे, यहा तक कि बजडा इतनी सरलता के साथ आगे बढने लगेगा मानो आप ही चल रहा हो। इससे प्रेरित होकर ऐसे लोग भी योग देने लगेगे जो यह जानते ही नही कि क्या और क्यो किया जा रहा है।

जो लोग चेतनतापूर्वक ईश्वर के नियमो का पालन करते है उनके कधे से कधा सबसे पहले वे व्यक्ति भिडायगे जो ईश्वरीय नियमो को अध चेतनता और अधविश्वास के साथ स्वीकार करते है। बाद मे आगे बढे हुए व्यक्तियो पर केवल विश्वास होने के कारण बहुत-से लोग योग देने लगेंगे और तब मनुष्य अपना सर्वनाश न करके सुख प्राप्त करेगे। यह काम बहुत ही शीघ्रता के साथ हो सकता है यदि हमारे वर्ग के लोग और उनके पीछे चलनेवाले कर्मजीवियो का विशाल बहुमत मलमूत्र उठाने और फेकने मे लज्जा न करे, बल्कि दूसरो—अपने भाइयो—द्वारा साफ कराने मे शर्म करे, यदि वह अपने हाथो से बनाए हुए जूते पहन कर पडोसियो से मिलने मे लज्जित न हो बल्कि बूट-जूते और मौजे पहनकर उन व्यक्तियो में जाते हुए शरमाए जिनके पैरो में पहनने को कुछ भी नही है, यदि फ्रासीसी भाषा अथवा सबसे ताजे समाचार न जानने पर लज्जित न हो बल्कि रोटी बनाना न जानने के कारण रोटी खाने मे शरमाए, यदि कलफ लगे हुए और सफेद-चिट्टे कपडे न पहनने

पर लज्जित न हो वल्कि ऐसे साफ कपडे पहनकर घूमने में शरमाए जो उसकी वेकारी के परिचायक हो और यदि वहा अपने मैले हाथो पर लज्जित न हो वल्कि अपने उन हाथो पर शरमाए जो श्रम न करने के कारण सुकुमार बने हुए है।

यह सब तभी होगा जव जनता इसकी माग करेगी और जनता इसकी माग तव करेगी जव उसके मस्तिष्क से भ्रम का वह पर्दा हट चुकेगा जो सत्य को उससे छिपाए रहता है। मेरी अपनी याद मे ही इस दिशा मे वडे-वडे परिवर्तन हो चुके है और ये परिवर्तन इसीलिए हुए कि जनता का मत वदल गया। मुझे वह समय याद है जव अमीर लोग चार घोडो की गाडी और दो नौकरो के विना वाहर निकलने मे लज्जा अनुभव करते थे। यदि उनके पास कपडे और जूते पहनाने, नहलाने आदि के लिए कोई नौकर या नौकरानी न होती थी तो इसे वे अपना हेठापन समझते थे। किंतु अव वे इस वात से शरमाने लगे है कि वे अपने कपडे व जूते स्वय क्यो नही पहनते और नौकरो के साथ वाहर क्यो जाते है। ये सव परिवर्तन जनमत के कारण ही हुए है।

आज जनता की चेतना मे जो परिवर्तन हो रहे है वे क्या स्पष्ट नही है ? पच्चीस वर्ष पहले की दास-प्रथा को उचित ठहरानेवाली मिथ्या भावना को नष्ट भर करने की आवश्यकता थी, उसके वाद तो क्या प्रशसनीय है और क्या लज्जाजनक इसके वारे में जनता का मत अनायास वदल गया और उसके जीवन में भी परिवर्तन हो गया। इसी प्रकार आज केवल उस मिथ्या भावना को नष्ट करने की आवश्यकता है जो मनुष्य पर पैसे के वोलवाले को उचित मानती है; फिर तो क्या सराहनीय है और क्या लज्जाजनक इस वारे मे जनता का मत आपसे-आप वदल जायगा और उसके साथ जीवन भी वदल जायगा।

और इस मिथ्या धारणा का नाश तथा उसके वारे मे जनमत का परिवर्तन काफी तेजी से हो रहा है। इस मिथ्या धारणा की पोल खुल गई है और अव वह सत्य को छिपाने मे असमर्थ है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें पता चल जायगा कि जनमत का यह परिवर्तन

न केवल होना ही चाहिए वरन् हो भी चुका है। कमी केवल इस बात की है कि अभी वह स्वीकार नही किया गया है और शब्दो में व्यक्त नही किया गया है। हमारे युग के जो थोडे-बहुत पढे-लिखे व्यक्ति है उन्हें केवल अपने ससार-सम्बन्धी विचारो से फलित होनेवाले परिणामो पर विचार भर करने की आवश्ककता है, ऐसा करने पर उन्हें तत्काल पता चल जायगा कि अच्छे और बुरे, सराहनीय और लज्जास्पद का जो मल्याकन अब भी उनके जीवन का मार्ग-निर्देशन करता है वह उनकी जीवन-सम्बन्धी धारणाओ के एकदम विपरीत है।

हमारे समय के लोग यदि अपने आलस्य मे बिताए जानेवाले जीवन से एक क्षण को अलग हटकर उसकी तुलना अपनी विश्व-सम्बन्धी धारणाओ के साथ निष्पक्षतापूर्वक करें तो उन्होने अपनी धारणाओ के साथ जीवन की जो परिभाषा निश्चित कर रखी है वह उन्हे भयभीत कर देगी।

उदाहरण के लिए धनिक वर्ग के एक नवयुवक को ले लीजिए, चाहे उसकी प्रवृत्तिया कैसी भी क्यो न हो। स्मरण रहे कि नवयुवको मे जीवन-शक्ति अधिक तीव्र और आत्म-चेतना अधिक धुधली होती है। प्रत्येक सभ्य नवयुवक बुड्ढे, बच्चे अथवा महिला की सहायता न करने मे लज्जा अनुभव करता है। वह सोचता है कि दूसरे व्यक्ति के स्वास्थ्य अथवा जीवन को सकट में डालना और स्वय को बचाना लज्जाजनक है। तूफान आने पर खिरगिज क्या करते है, इस सम्बन्ध में शुएलर * हमे जो बातें बताता है, उसे हरेक व्यक्ति लज्जाजनक और बर्बरतापूर्ण समझता है। तूफान के समय वे अपनी पत्नियो तथा बडी-बूढियो को खेमे के खूटे पकडे रहने के लिए भेज देते है और स्वय खेमे में बैठे शराब पीते रहते है। किसी दुर्बल व्यक्ति से जबर्दस्ती अपना काम कराने में प्रत्येक व्यक्ति को लज्जा आती है और इससे

* यूजिन शुएलर (१८४०–९०) पीटर्सबर्ग में सन् १८७३ से ७६ तक अमरीकी दूतालय का सेक्रेटरी था। सन् १८७३ में उसने मध्य एशिया का दौरा किया था।

भी अधिक शर्म की बातें तब होती है जब किसी संकट के समय—उदाहरण के लिए जहाज मे आग लग जाने पर—ताकतवर लोग कमजोरो को एक ओर धकेल देते हैं और उन्हे संकट में छोडकर स्वयं रक्षा-नौका पर पहले चढने का प्रयत्न करते है। नवयुवक इस सबको लज्जास्पद समझते है और कुछ असाधारण परिस्थितियो मे ऐसा कभी नही करेगे। किंतु दैनिक जीवन मे इसी प्रकार के, वरन् इनसे भी बुरे कार्य, वे नित्य करते रहते है यद्यपि प्रलोभनवश ये काम उनकी आखो से छिपे रहते हैं।

इन बातो पर यदि वे सोचें भर तो इनके परिणामो को देखकर वे काप उठेंगे।

एक नवयुवक रोज धुली हुई कमीज पहनता है। उसे नदी पर कौन धोता है ? एक महिला, जो प्राय. वृद्धा होती है और जो नवयुवक की दादी या मा की उम्र की हो सकती है और कभी-कभी बीमार भी हो जाती है। यह नवयुवक यदि किसी दूसरे व्यक्ति को केवल सनक के कारण अपनी साफ कमीज उतारकर एक ऐसी वृद्धा महिला को धोने के लिए देते हुए देखे जो उसकी मा की आयु की हो सकती है, तो वह उसके लिए क्या सोचेगा ?

मान लीजिए एक नवयुवक शान दिखाने के लिए कुछ घोडे रखता है। सकट के समय इन घोडो को एक ऐसा आदमी सम्हालता है जो उसके पिता या पितामह की आयु का होता है। स्वय नवयुवक इन घोडो पर तब चढता है जब सकट निकल जाता है। यह नवयुवक उस व्यक्ति को क्या समझेगा जो अपने आनन्द के लिए स्वय अपना बचाव करके दूसरे को सकट मे झोक देता है ?

अमीरो का सारा जीवन ही इस प्रकार के कार्यो का समूह होता है। हम अपने जीवन में बूढो, महिलाओ और बच्चो से बेहद परिश्रम कराते हैं और दूसरो की जान जोखम मे डालकर उनसे काम लेते है। यह सब हम इसलिए नही कराते कि हमे कुछ कार्य करने का समय मिल जाय, बल्कि इसलिए कि हमारी सनक पूरी हो सके। मछेरा हमारे लिए मछलिया पकडता हुआ डूब जाता है; धोबिन ठड खाकर

मर जाती है, लुहार अघे हो जाते है, मजदूर बीमार पड जाते है और मशीनो से क्षत-विक्षत हो जाते है, लकडहारे पेड गिराते समय उनके नीचे दब जाते है, राज छत पर से गिर पडते है और दर्जिनें क्षय-ग्रस्त हो जाती है। जीवन के सभी सच्चे काम क्षति और जोखम उठाकर किये जाते है। इसे छिपाना और न देखना असम्भव है। इस स्थिति से बाहर निकलने का एकमात्र मार्ग यही है कि दूसरो से केवल वही लिया जाय जो जीवन के लिए आवश्यक है और वास्तविक कार्य स्वय अपने जीवन की क्षति और जोखम उठाकर किये जाय।

शीघ्र ही वह समय आयगा—सच पूछिए तो आने लगा है—जब न केवल नौकरो द्वारा परोसा गया विविध व्यजनोवाला भोजन खाना लज्जाप्रद और अपमानजनक समझा जायगा, बल्कि जिस भोजन को स्वय मेजबानो ने अपने हाथ से न बनाया हो उसे ग्रहण करना भी समान रूप से लज्जाप्रद और अपमानजनक होगा। जबकि पैरो से काम लिया जा सकता है तो तेज घोडोवाली बग्घी की बात तो दूर रही एक साधारण घोडा-गाडी में घूमना भी लज्जाजनक होगा। काम के दिनो मे ऐसे कपडे, जूते या दस्ताने पहनना जिनसे काम न हो सके, अथवा अधिक या कम कीमत का ऐसा पियानो बजाना जिसके लिए दूसरे अजनबी व्यक्तियो को परिश्रम करना पडे, कुत्ते को दूध और डबलरोटी खिलाना जबकि ऐसे भी आदमी है जिन्हे दूध और साधारण रोटी मयस्सर नही; और मोमबत्तियां या स्टोव जलाना जबकि दूसरो के पास आग या प्रकाश का अभाव है, ये सब कार्य लज्जास्पद हो जायगे। ऐसी विचारधारा की ओर हम अनिवार्य रूप से और तेजी से बढ रहे है। हम एक नए जीवन के किनारे पर आ खडे हुए है। इस नए जीवन को सस्थापित करना जनमत का कार्य है और इस प्रकार का जनमत तेजी से बनता जा रहा है। महिलाए ही जनमत बनाती है और हमारे युग मे तो महिलाए विशेप रूप से प्रभावशालिनी है।

: ४० :

स्त्रियों का कार्यक्षेत्र

जैसा कि बाइबिल में कहा गया है, पुरुष के लिए मेहनत-मजदूरी का नियम बनाया गया है और स्त्री के लिए सन्तानोत्पत्ति का। विद्वान् चाहे कुछ भी कहे, इन नियमो में परिवर्तन नही होता, ठीक उसी प्रकार जैसे यकृत सदा अपने ही स्थान पर रहता है। इस नियम को भग करने की एक मात्र सजा आज भी मृत्यु ही है।

अतर केवल इतना है कि यदि पुरुष अपने कर्त्तव्य की अवहेलना करेगे तो उनको इसका मृत्यु-दण्ड निकट भविष्य में ही मिल जायगा जिसे हम वर्तमान कह सकते है, किंतु यदि स्त्रिया ऐसा करेंगी तो उसकी सजा उन्हे कुछ अधिक दूर भविष्य में मिलेगी। समस्त पुरुषो द्वारा नियम का उल्लघन होने पर मनुष्य-जाति तत्काल नष्ट हो जाती है, जब कि समस्त स्त्रियो द्वारा उल्लंघन होने पर अगली पीढी नष्ट होती है। किंतु कुछ पुरुषो और कुछ स्त्रियो द्वारा नियम भंग होने पर समस्त मानव-जाति नष्ट नही होती, उससे केवल अपराधियो के मानवीय गुणो का ह्रास हो जाता है।

जिन वर्गो के लोग दूसरो पर बलात्कार करने में समर्थ थे उनमें पुरुषो ने अपने कर्त्तव्य की अवज्ञा बहुत पहले आरम्भ कर दी थी। वह सतत बढती जा रही है और अब हमारे समय में आकर उसने पागलपन का रूप ग्रहण कर लिया है। श्रम के नियम का यह उल्लंघन अब एक आदर्श बन गया है, जिसे राजकुमार क्रोखिन ने अपने सिद्धातो मे व्यक्त किया है और जिसका रेनॉं तथा समस्त शिक्षित ससार ने समर्थन किया है। उनके कथनानुसार मशीनें काम करने के लिए है, जब कि मनुष्य आनन्द-भोग करनेवाले स्नायुओ का पुतला है।

स्त्रियो के कर्त्तव्यच्युत होने के उदाहरण प्राय नही-से रहे है। कभी-कभी वेश्यावृत्ति और भ्रूणहत्या के रूप मे यह अभिशाप प्रकट हुआ है। धनिक वर्गो में जब पुरुषो ने अपना कर्त्तव्य-पालन वन्द कर दिया, स्त्रिया अपने कर्त्तव्यो का पालन करती रही जिसका परिणाम यह हुआ कि स्त्रियो का प्रभाव वढ गया तथा वे पुरुषो पर शासन करने लगी। वे आज भी ऐसा कर रही हैं, जैसा कि होना भी चाहिए। पुरुषों ने अपने नियम को भंग किया और परिणामत. उनकी विवेक-शक्ति नष्ट हो गई।

प्राय कहा जाता है कि स्त्रिया—विशेषकर पेरिस की सन्तानहीन स्त्रिया—सभ्यता के समस्त साधनो का उपयोग कर इतनी मोहक वन गई है कि उन्होंने अपनी मोहिनी से पुरुषो पर जादू कर दिया है। यह धारणा न केवल गलत है वल्कि सत्य के विलकुल विपरीत है। पुरुष पर जादू सन्तानहीन स्त्री ने नही वल्कि मा ने किया है जो पुरुषो के कर्त्तव्यच्युत होने पर भी अपने प्राकृतिक नियम का पालन करती रही है।

जो स्त्री वनावटी उपायो से अपने को सन्तानवती होने से वचाती है और अपने ऊचे कन्धो तथा घुघराले केशों का प्रदर्शन कर पुरुष को मोहने की चेष्टा करती है वह पुरुष को वश मे करनेवाली स्त्री नही है, वह तो पुरुष से भ्रष्ट होकर, उसके ही स्तर पर उतर आई है और उसने भी पुरुष की ही भाति अपने कर्त्तव्य को छोड दिया है और उसकी जीवन-सम्बन्धी समस्त वुद्धिसगत धारणाए नष्ट हो चुकी है।

इसी भूल से उस वितडावाद का जन्म हुआ है जिसे स्त्रियो के अधिकार कहकर पुकारा जाता है।

इन अधिकारो का आधारसूत्र यह है स्त्री कहती है—"ओ पुरुष, तूने तो अपने सच्चे कार्य को त्याग दिया है और तू हमसे चाहता है कि हम अपना वोझा उठाते फिरें। नही! यदि ऐसा है तो हम भी तुम्हारी ही तरह वैंको, मत्रालयो, विश्वविद्यालयो, शिक्षालयो तथा कलाशालाओ में कार्य करके श्रम का ढोंग रच सकती हैं। हम भी

तुम्हारी ही तरह दूसरे लोगो के परिश्रम का फायदा उठाना चाहती है और श्रम-विभाजन के बहाने केवल अपनी वासनाओ की पूर्ति में ही जीवन बिताना चाहती है ।"

वे ऐसा कहती ही नही है, बल्कि करके दिखला देती है कि वे श्रम का ढोग पुरुषो से बुरा नही वरन् अच्छा ही रच सकती है ।

स्त्रियो के यथाकथित अधिकारो का प्रश्न ऐसे पुरुषो मे उठा—और ऐसे ही पुरुषो में वह उठ भी सकता था—जिन्होने अपने सच्चे परिश्रम के नियम का उल्लघन किया । अत यदि हम अब एक बार फिर श्रम के उसी नियम पर वापस लौट जाय तो स्त्रियो के अधिकार का प्रश्न ही न उठे ।

जो स्त्री स्वय अपने लिए निर्दिष्ट किये गए कार्यो मे सलग्न रहती है वह कभी खान खोदने मे अथवा हल चलाने मे पुरुष का हिस्सा बटाने का अधिकार नही मागेगी । वह तो केवल धनिक वर्ग के झूठे श्रम मे ही हिस्सा माग सकती है ।

हमारे वर्ग की स्त्री पुरुष मे अधिक शक्तिशाली है, इसका कारण यह नही है कि वह आकर्षक है या पुरुष की ही भाति श्रम का ढोग रचने में पटु है । इसका कारण यह है कि उसने अपने कर्त्तव्य का उल्लघन नही किया और जान को जोखम मे डालकर तथा अधिक-से-अधिक चेष्टा करके सच्चे परिश्रम को वहन किया—उस सच्चे परिश्रम को जिससे धनिक वर्ग के पुरुष ने अपने को मुक्त कर लिया था ।

स्त्रियो का पतन, उनकी अपने कर्त्तव्य की अवहेलना करने की प्रवृत्ति मेरी याद मे ही आरम्भ हुई और मेरी याद में ही वह दिन-दूनी रात-चौगुनी फैलती गई है । स्त्रियो ने अपने सच्चे कर्त्तव्य को भूल कर यह सोच लिया है कि उनकी शक्ति उनके सौदर्य के आकर्षण मे है या इस बात मे कि पुरुष जिस झूठे परिश्रम का स्वाग रचते है उसकी वे कितनी चतुराई से नकल कर सकती है ।

किंतु सतान इन दोनो बातो में बाधक होती है । इसलिए मेरे देखते-ही-देखते धनी वर्ग के लोगो में विज्ञान की सहायता से—विज्ञान सदा ही गन्दे कार्य करने को तैयार रहता है—गर्भ-निरोध के दर्जनो उपाय

काम में लाए जाने लगे है और इससे सम्वन्ध रखनेवाली सामग्रिया स्नानागार की साधारण सामग्रिया वन गई है। इस प्रकार धनिकवर्ग की माताए, जिनके हाथ में शक्ति थी, अव अपनी उस शक्ति को साधारण महिलाओ से होड करने में और उन्हे अपने से आगे न वढने देने में व्यय कर रही है।

यह वुराई दूर-दूर तक फैल गई है और दिन-प्रति-दिन और भी अधिक फैलती जाती है और वह समय दूर नही जव वह धनी वर्गो की समस्त स्त्रियो तक पहुच जायगी। तव स्त्रिया पुरुषो के ही धरातल पर पहुच जायगी और उनकी ही भाति जीवन के प्रति तर्कसगत दृष्टि-कोण खो वैठेंगी। उस अवस्था में उस वर्ग के उद्धार का कोई मार्ग नही रह जायगा। किंतु अव भी समय है, क्योकि इतना होने पर भी आज भी पुरुषो की अपेक्षा महिलाए ही अपने कर्त्तव्य का अधिक पालन करती है और इस कारण उनमे से वहुत-सी अव भी समझदार है। इसलिए हमारे वर्ग की कुछ महिलाओ मे अव भी अपने वर्ग की रक्षा करने की शक्ति है।

काश, ये महिलाए अपने मूल्य और अपनी शक्ति को समझ पाती और इन्हें अपने पतियो, भाइयो और वच्चो--दूसरे शब्दो में यो कहिए कि समस्त मानव-जाति--की रक्षा करने के काम मे ला सकती!

धनिक वर्गों की माताओ! आज पुरुषवर्ग जिन वुराइयो से पीडित है उनसे मुक्ति दिलाने की शक्ति केवल तुम्हारे हाथो मे है। मेरा सकेत उन महिलाओ से नही है जो पुरुषो को आकर्षित करने के लिए दिन-रात वनाव-सिंगार मे व्यस्त रहती है और जो भूलवश या निराशा के कारण अपनी इच्छा के विरुद्ध वच्चे तो पैदा करती है किंतु उन्हें दुधारू धात्रियो* को सौप देती है। मेरा अभिप्राय उन महिलाओ से भी नही है जो विश्वविद्यालयो की विभिन्न श्रेणियो में शिक्षा पाती है, मनोविज्ञान तथा गणित के वारे में वातचीत करती है और अपने विकास में वाधा न पहुचने देने के उद्देश्य से सतानोत्पत्ति से वचने का

*रूस मे धात्रियो का प्रयोग इग्लैंड आदि की अपेक्षा अधिक होता है।

प्रयत्न करती है। मेरा अर्थ उन महिलाओ और माताओ से है जो सन्तति-निरोध की सामर्थ्य रखते हुए भी इस शाश्वत नियम के आगे सहज भाव से और जानबूझकर आत्मसमर्पण कर देती है—यह जानते हुए कि इसके लिए कष्ट उठाना और परिश्रम करना उनका कर्त्तव्य है। धनिक वर्गो की इन स्त्रियो और माताओ में ससारी पुरुषो को बुराइयो से मुक्ति दिलाने की शक्ति औरो की अपेक्षा अधिक होती है। ऐ माताओ, ईश्वरीय नियम के आगे इस प्रकार जानबूझकर समर्पण करने वाली स्त्रियो और माताओ! हमारे दु.खी और बहके हुए वर्ग मे, जिसमे अब मानव होने की कोई क्षमता ही नही रह गई है, केवल आप ही ईश्वरीय-विधान के अनुसार जीवनयापन करने के सच्चे अर्थ को जानती हैं। आप ही अपने उदाहरण से पुरुषो को दिखला सकती है कि जिस ईश्वरीय इच्छा से वे अपने को वचित कर लेते है उसके आगे नतमस्तक होने में ही जीवन का सुख है। केवल आप ही उस आनन्द, उल्लास और सौभग्य का पूर्ण ज्ञान रखती है जो ईश्वरीय नियम का उल्लघन न करने पर ही पुरुषो को प्राप्त हो सकता है। आप अपने पति के उस प्यार के आनन्द को जानती है, जो कभी समाप्त नही होता, जो अन्य आनन्दो की भाति भग नही हो पाता बल्कि जो वात्सल्य के नए आनन्द का सूत्रपात करता है। केवल आप ही ईश्वरीय इच्छा के समक्ष सरल भाव से सिर झुकाकर श्रम के महत्त्व को जान पाती है—वह श्रम नही, जिसका वर्दियो और प्रकाश से जगमगाते भवनो मे झूठा प्रदर्शन किया जाता है बल्कि वह श्रम, जो ईश्वर ने हमपर लादा है। आप इस श्रम के पारितोषिक को तथा इससे प्राप्त होनेवाले सुख को जानती हैं।

माताओ, इस श्रम का सच्चा रूप आपके सामने तब आता है जब प्रणय के सुख-भोग के बाद आप उत्तेजना, भय और आशा के साथ गर्भावस्था की उस पीड़ा की प्रतीक्षा करती है, जो आपको नौ मास के लिए रुग्ण बना देती है, जो आपको मृत्यु के द्वार पर ले जाती है और जिसके कारण आपको असह्य यातना भोगनी पडती है। इन भयकरतम पीडाओ के आगमन और वृद्धि की प्रसन्नतापूर्वक प्रतीक्षा

करने के बाद आपके लिए एक अतुल सुख का भडार खुल जाता है।

आपको इसकी अनुभूति तब होती है जब आप इन यातनाओ के बाद फौरन बिना विश्राम किये ही नए श्रम और नए कष्ट का भार ग्रहण कर लेती है—यह नया श्रम और यह नया कष्ट होता है शिशु-पालन का, जिसमे आप तुरन्त लीन हो जाती है और अपने कर्त्तव्य तथा भावनाओ के आगे मनुष्य की सबसे बडी आवश्यकता नीद तक को—जो एक कहावत के अनुसार मा-बाप से भी अधिक प्यारी होती है—नगण्य समझती है। आप महीनो और वर्षो तक एक रात भी चैन से नही सो पाती। कभी-कभी, नही, नही, अक्सर, कई-कई राते तो बिना सोए ही निकल जाती है, जब आप अपनी बाहो में रुग्ण शिशु को थाम्हे कम्पित हृदय से इधर-से-उधर टहलती रहती है।

और जब आप यह सब बिना किसीसे प्रशसा पाए, बिना किसी के देखे और बिना किसीसे श्लाघा या पुरस्कार की आशा किये करती है, जब आप इसे लाभ के तौर पर नही, वरन् अपना कर्त्तव्य समझकर मजदूर के तौर पर करती है—तब आप जानती है कि पुरुषो की प्रशसा के लिए की गई झूठी कल्पित मेहनत मे और ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति के लिए किये गए सच्चे श्रम मे—जिसका सकेत आप अपने हृदय में महसूस करती है—क्या अंतर है।

आप जानती है कि यदि आप सच्ची मा है तो केवल इतना ही नही होगा कि लोग आपके श्रम को देखने की चिंता नही करेंगे और उसके लिए आपकी प्रशसा नही करेंगे, बल्कि यह भी होगा कि स्वय वे लोग जिनके लिए आपने परिश्रम किया है न केवल आपको धन्यवाद ही नही देंगे बल्कि प्राय॰ आपको सतायगे और बुरा-भला कहेगे। इतने पर भी आप दूसरी सन्तान के लिए यातना सहेंगी, फिर प्रसव की अनदेखी भयकर पीडा सहन करेंगी, फिर किसीसे पुरस्कार की आशा नही करेगी और फिर उसी सतोष का अनुभव करेंगी। यदि आप ऐसी महिला है तो आपमे पुरुषो पर प्रभाव डालने की क्षमता होनी चाहिए। सच पूछिए तो आप ही के हाथो मे उनकी मुक्ति निहित है।

किंतु आपकी संख्या प्रतिदिन घटती जाती है आपमे से कुछ अपने को पुरुषो को मोहने की चेष्टा में लगाने लगी है और बाजारू औरत बन गई है। कुछ दूसरी पुरुषो से उनके कृत्रिम, नगण्य धधो में होड करने लगी है। कुछ ऐसी भी है जो अभी अपने कर्त्तव्य के प्रति झूठी तो नही बनी है किंतु जो इसे मन-ही-मन बुरा समझती है। वे महिलाओ और माताओ के समस्त कार्यो को पूरा तो करती है, किंतु उनपर मातृत्व का जो भार इच्छा न रहते हुए दैवयोग से आ पडता है उसे वे बडी ही खिन्नता के साथ वहन करती है और मन-ही-मन स्वतन्त्र, वध्या महिलाओ से ईर्ष्या करती है। इस प्रकार वे अपने को श्रम के एकमात्र पुरस्कार—ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति करने के आत्म-सतोष—से वचित कर लेती है। इस प्रकार जिस सुख से उन्हे संतोष होना चाहिए उसीसे वे पीडित होती है।

हम अपने जीवन के झूठे ढग से इतने भ्रमित हो गए है, हमारे वर्ग के लोगो ने जीवन की समझ इतनी अधिक खो दी है, कि हमारे बीच मे अब कोई अन्तर नही रह गया है। जीवन के समस्त भार और खतरे को दूसरो की पीठ पर डालकर भी हम अपने को उन सच्चे नाम से नही पुकारते जिससे कि उन लोगो को पुकारना चाहिए जो अपने लिए समस्त सुख-सुविधाओ की व्यवस्था करने में दूसरो का सर्वनाश कर देते है—वह नाम है बदमाश और कायर।

किंतु स्त्रियो मे अब भी दो वर्ग है। कुछ ऐसी है जिनमें मानव के सर्वोच्च रूप के दर्शन होते है, और कुछ वेश्याए है। यह भेद ऐसा है जिसे भावी सतति तो मानेगी ही, हमें भी स्वीकार करना पड़ेगा।

स्त्री चाहे कैसा भी साज-शृंगार क्यो न करे, वह अपने को चाहे किसी भी नाम से क्यो न पुकारे और वह चाहे कितनी भी सुसंस्कृत क्यो न हो, यदि वह भोग-विलास का परित्याग किये बिना सन्तानोत्पत्ति से बचती है तो वह निस्सदेह एक वेश्या है। इसी प्रकार स्त्री चाहे कितनी भी पतित क्यो न हो, यदि वह अपने को इच्छापूर्वक सन्तानोत्पत्ति के कार्य मे लगाती है तो वह जीवन की सर्वोत्तम और सर्वोच्च सेवा करती

हैं अर्थात् ईश्वर की इच्छा का पालन करती है। निश्चय ही उससे बढकर और कोई नही।

यदि आप इस प्रकार की स्त्री है तो आप दो बच्चो के बाद या बीस बच्चो के बाद भी यह नही कहेंगी कि आपने काफी बच्चे पैदा कर लिये है—ठीक उसी प्रकार जैसे एक पचास वर्ष का मजदूर जो नियमित रूप से खाता-पीता और सोता है और जिसकी मास-पेशियो मे काम करने की शक्ति है यह नही कहेगा कि उसने काफी काम कर लिया है। यदि आप ऐसी स्त्री हैं तो आप अपने बच्चो के लालन-पालन का भार किसी दूसरी मा पर नही डालेंगी—ठीक उसी प्रकार जैसे एक मजदूर एक काम को प्रारम्भ करने के बाद और उसे लगभग पूरा कर लेने पर किसी दूसरे व्यक्ति से उसे पूरा करने को नही कहेगा। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कार्य में आपने अपना जीवन लगा दिया है और यह काम आपके पास जितना ही अधिक होगा उतना ही अधिक आपका जीवन पूर्ण और सुखी होगा।

और यदि आप इस प्रकार की स्त्री है—पुरुषो के सौभाग्य से ऐसी स्त्रिया अब भी विद्यमान है—तो ईश्वरीय इच्छा-पालन के जिस नियम से आप स्वय अपने जीवन का मार्गदर्शन करती है उसे आप अपने पति के, अपने बच्चो के और अपने निकटस्थो के जीवन पर भी लागू करेंगी।

यदि आप ऐसी है और अपने निजी अनुभव से जानती है कि जो श्रम जान को जोखम में डालकर और दूसरो के जीवन के लिए अधिक-तम प्रयत्नो के साथ आत्मत्याग की भावना से किया जाता है और जिसे न कोई देखता है और न जिसके लिए कोई पारितोषिक ही मिलता है वही श्रम मनुष्य के जीवन का उद्देश्य है और उसीसे उसको सतोष और शक्ति मिलती है—यदि आप यह सब जानती है तो दूसरो से भी ऐसे ही श्रम की अपेक्षा करेंगी, अपने पति को ऐसे श्रम के लिए प्रेरित करेंगी, ऐसे ही श्रम द्वारा मनुष्य की योग्यता का मूल्याकन करेगी तथा ऐसे श्रम के लिए अपने बच्चो को भी तैयार करेंगी।

केवल वह मा जो सन्तानोत्पत्ति को एक अप्रिय दुर्घटना समझती है और सोचती है कि जीवन का सार प्रेमानन्द, सासारिक सुख-सुविधाओ, शिक्षा और मेलजोल मे है, केवल ऐसी मा अपने बच्चों का पालन-पोषण इस प्रकार करेगी जिससे कि उन्हे अधिक-से-अधिक आनन्द मिले और वे उनका अधिक-से-अधिक उपभोग करे। वह उन्हें सुस्वादु भोजन खिलायगी, अच्छे वस्त्र पहनायगी, कृत्रिम मनोरंजन प्रदान करेगी और ऐसी शिक्षा देगी जो उन्हें प्राणो को हथेली पर रखकर और पूर्ण प्रयत्नो के साथ त्यागमय परिश्रम करने के योग्य बनाने के बजाय उनके लिए उपाधिया प्राप्त करेगी और श्रम. न करने का अवसर प्रदान करेगी। केवल ऐसी स्त्री—जिसके लिए जीवन का कोई महत्त्व नही रह जाता—अपने पति के उस छलपूर्ण और झूठे कार्य के साथ सहानुभूति रखेगी जिसके द्वारा वह स्वय को तो मनुष्योचित कर्त्तव्यो से मुक्त रखकर दूसरे व्यक्तियो के श्रम का उपयोग करता ही है साथ-ही-साथ अपनी पत्नी को भी कराता है। केवल इसी प्रकार की स्त्री अपने पति-जैसे व्यक्ति को अपनी पुत्री का पति बनाना पसन्द करेगी और व्यक्तियो का मूल्याकन उनके निजी गुणो के आधार पर नही बल्कि उनसे सम्बन्धित वस्तुओ के आधार पर करेगी—जैसे सामाजिक स्थिति, धन और दूसरे व्यक्तियो के श्रम को हडपने की क्षमता। एक सच्ची मा, जो अपने अनुभवो से ईश्वरीय विधान को समझ गई है, अपने बच्चो को भी उसी विधान का पालन करने के लिए तैयार करेगी। अपने बच्चे को अधिक खाते-पीते, जनाना बनते और अच्छे वस्त्र पहनते देखकर ऐसी मा को दुख होगा, क्योकि वह जानती है कि ये चीजे उसके लिए ईश्वर की इच्छा का पालन करना कठिन बना देगी।

इस प्रकार की मा अपने पुत्र या पुत्री को ऐसी शिक्षा नही देगी जिससे वह श्रम से बचने के लोभ का शिकार बन जाय बल्कि ऐसी शिक्षा देगी जिससे वह जीवन के श्रम को वहन करने योग्य बन सके। उसे यह पूछने की आवश्यकता न होगी कि वह अपने बच्चो को क्या सिखाए, अथवा उन्हे किस कार्य के लिए तैयार करे। वह जानती है कि

पुरुष का कार्य क्या है और उसे क्या सिखाया जाय तथा किस कार्य के लिए तैयार किया जाय। ऐसी स्त्री न केवल अपने पति को इस प्रकार के कृत्रिम, झूठे कार्य के प्रति प्रेरित नही करेगी जिसका एकमात्र उद्देश्य दूसरे व्यक्ति के श्रम का उपयोग करना है बल्कि उन सभी कार्यो को भी, जो उसके बच्चो को दुहरा प्रलोभन प्रदान करते है, घृणा और भय की दृष्टि से देखेगी। ऐसी स्त्री अपनी पुत्री के लिए पति का चुनाव यह देखकर नही करेगी कि उस पुरुष के हाथ सफेद है या उसके व्यवहार सुसस्कृत है बल्कि चूकि वह सच्चे और कृत्रिम श्रम का अन्तर जानती है इसलिए वह सदा और सर्वत्र मनुष्य के सच्चे श्रम को महत्त्व देगी जिसमें प्राणो तक का सकट होता है। साथ-ही-साथ झूठे दिखावटी श्रम को, जिसका उद्देश्य स्वयं को सच्चे कार्य से मुक्त कर लेना है, वह घृणा की दृष्टि से देखेगी। इस प्रकार के श्रम की अपेक्षा वह सर्वप्रथम अपने पति से करेगी और दूसरो से भी इसी सद्गुण की माग करेगी।

जो महिलाए अपने को नारी के कर्त्तव्य से मुक्त रखकर भी उसके अधिकारो से लाभ उठाना चाहती है वे यह न कहें कि जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण मा के लिए असम्भव है। वे यह न कहें कि वे अपने बच्चो के प्रेम में इतनी अधिक पगी होती है कि उनके लिए यह सम्भव नही कि वे उन्हें सुस्वादु भोजन, मनोरजन और अच्छे वस्त्र न दें और पति के पास धन न होने पर अथवा पति के अच्छी स्थिति में न होने पर अपने बच्चो की सुरक्षा की ओर से उदासीन रहें या अपनी विवाहयोग्य पुत्रियो और अशिक्षित पुत्री के भविष्य की ओर से निश्चिंत हो जायं।

यह सब झूठ है, एकदम सफेद झूठ! एक सच्ची मा ऐसा कभी नही कहेगी।

आप कहती हैं कि आप अपने बच्चो को मिठाई और खिलौने देने तथा सरकस ले जाने की इच्छा का सवरण नही कर सकती। किंतु क्या आप उन्हे विषैले फल खाने को नही देती? और उन्हें गणिकाओ के होटल में नही ले जाती? फिर क्या बात है कि कुछ मामलो मे आप अपने को रोक सकती है और कुछ में नही?

इसका कारण यह है कि आप जो कुछ भी कह रही है वह सच नही है।

आप कहती है कि आप अपने बच्चो से प्यार करती है इसलिए आपको उनके जीवन की चिन्ता है, उनकी भूख और बीमारी की चिन्ता है, और आप अपने पति की स्थिति से प्राप्त सुरक्षा को महत्त्व देती है; हालाकि आप उस स्थिति को अनुचित मानती है।

आपको अपने बच्चो की भावी सम्भावित विपत्तियो की—अत्यत दूरवर्त्ती और सदिग्ध विपत्तियो की—इतनी आशका है कि आप अपने पति को ऐसे कार्यों के लिए प्रोत्साहित करती है जिन्हे आप स्वयं अनौचित्यपूर्ण समझती है। किंतु वर्तमान परिस्थितियो मे आप अपने बच्चो को आजकल के जीवन की अभागी घटनाओ से बचाने के लिए क्या कर रही है ?

क्या आप दिन का अधिक भाग अपने बच्चो के साथ व्यतीत करती है ? यदि आप उसका दसवा हिस्सा भी व्यतीत करती हो तो बहुत है।

शेष समय आपके बच्चे अपरिचितो और गली-गली फिरनेवाले नौकरो के पास रहते है, या ऐसी सस्थाओ में रहते है जहा शारीरिक तथा नैतिक छूत के लिए निरन्तर भय बना रहता है। आपके बच्चे खाते है और पोषण प्राप्त करते है। उनका भोजन कौन तैयार करता है और उस भोजन मे क्या-क्या होता है ? अधिकाश में आप इस बात को नही जानती। इसी प्रकार आप यह भी नही जानती कि कौन उनमे नैतिक भावनाए भरता है। इसलिए यह न कहिए कि आप अपने बच्चो की भलाई की खातिर बुराइया सहन करती है। यह सच नही है। आप बुराई इसलिए करती है कि वह आपको पसन्द है।

एक सच्ची मा जो सतान की उत्पत्ति और उसके पालन-पोषण मे त्यागपूर्ण कर्त्तव्य और ईश्वरीय इच्छा की पूर्ति देखती है, ऐसी बात नही कहेगी। वह ऐसा नही कहेगी, क्योकि वह जानती है कि उसका कार्य अपने बच्चो को अपनी इच्छा अथवा समय की प्रचलित प्रवृत्ति के अनुसार ढालना नही है। वह जानती है कि मनुष्य को जो सबसे बडी और पवित्र वस्तु देखने को मिली है वह ये बच्चे ही है—हमारी

भावी पीढी। वह यह भी जानती है कि इस पवित्र वस्तु की तन-मन से सेवा करना ही उसका जीवन है।

सतत जीवन और मृत्यु के वीच-झूलते रहने के कारण और एक प्रस्फुटित होते हुए जीवन की रक्षा का भार होने के कारण वह स्वय जानती है कि जीवन और मृत्यु उसके अधिकार में नही है, उसका काम तो जीवन की सेवा करना है। इसलिए वह इस सेवा के लिए दूर के रास्ते नही खोजेगी वल्कि जो मार्ग निकटस्थ है उसकी अवहेलना नही करेगी।

ऐसी मा वच्चे पैदा करेगी, स्वय उनका पालन-पोषण करेगी अपने से पहले दूसरो को खाना खिलाएगी, वच्चो के लिए भोजन तैयार करेगी, उनके कपडे सिएगी और धोएगी, उन्हें शिक्षा देगी और उनके साथ सोएगी तथा वात करेगी, क्योकि वह देखती है कि इसीमें उसके जीवन का कार्य है। वह जानती है कि प्रत्येक जीवन की सुरक्षा श्रम मे और श्रम करने की क्षमता मे है, और इसलिए वह अपने पति के धन में या वच्चो की उपाधियो में वाह्य सुरक्षा की खोज नही करेगी वल्कि उनमें भी ईश्वरीय इच्छा के उत्सर्गपूर्ण परिपालन की उसी क्षमता का विकास करेगी जिसकी अनुभूति वह स्वय अपने मे करती रही है और जिसका सच्चा रूप प्राणो को सकट में डालकर भी परिश्रम करने की भावना मे दिखाई देता है। ऐसी मा दूसरो से नही पूछेगी कि उसे क्या करना है, उसे इन सव वातो का स्वय ज्ञान होगा। वह किसी वात का भय नही करेगी और सदा शान्त रहेगी क्योंकि उसे पता होगा कि उसने वही किया है जो उसे करना चाहिए था।

पुरुषो और सतानविहीन स्त्रियो के लिए तो ईश्वर की इच्छा को पूर्ण करने के उपायो के वारे मे सन्देह हो सकता है, किंतु मा का मार्ग तो एकदम स्पष्ट है और यदि वह सरल हृदय से उसे विनम्रतापूर्वक पूरा करती रहे तो वह मानव-जीवन की पूर्णता के सर्वोच्च स्थान पर जा खड़ी होती है और सवके लिए ईश्वरीय इच्छा के उस पूर्ण पालन की प्रतिमा वन जाती है जिसकी आकाक्षा सभी लोगो में होती है।

यह क्षमता केवल मा में है कि जिस ईश्वर ने उसे इस संसार में भेजा और जिसकी सेवा उसने बच्चे पैदा करके, उनका लालन-पालन करके तथा अपने प्राणो से भी अधिक प्यार करके की है, उससे वह अपनी मृत्यु से पूर्व यह कहे—"हे प्रभु अब अपनी दासी को शाति के साथ इस ससार से विदा लेने दो।" यह क्षमता मानव-जीवन की सबसे उच्च पूर्णता है जिसकी कोई भी मनुष्य कामना कर सकता है।

ऐसी स्त्रिया, जो अपने जीवनोद्देश्य को पूरा कर लेती है, पुरुषो पर शासन करती है और मानवजाति के लिए ध्रुव तारे की भाति पथ-प्रदर्शक बन जाती है। ऐसी स्त्रिया जनमत का निर्माण करती है और भावी सतति को तैयार करती है। यही कारण है कि उनके हाथो में सबसे बडी शक्ति रहती है—वह शक्ति है वर्तमान समय की प्रचलित और भयावनी बुराइयों से पुरुष की रक्षा करना।

हा, नारियो और माताओ, इस ससार की मुक्ति सबसे अधिक तुम्हारे ही हाथो मे है।